जैन शोध और समीक्षा

•

डॉ० प्रेमसागर जैन
एम ए पी-एच डी
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग स्नातकोत्तर दि. जैन कालेज
बडौत (मेरठ)

•

आद्यमिताक्षर
मुनि श्री विद्यानन्दजी महाराज

प्रकाशक :
ज्ञानचन्द्र खिन्दूका
मंत्री, श्री दि. जैन अ क्षेत्र श्रीमहावीरजी
जयपुर

प्राप्ति स्थान —

१ **साहित्य शोध विभाग**
श्री दि० जैन अ० क्षेत्र श्रीमहावीरजी
महावीर भवन
सवाई मानसिंह हाईवे, जयपुर–३

२ **मैनेजर श्रीमहावीरजी**
श्रीमहावीरजी (राज)

संस्करण प्रथम
१०००
जनवरी ७० वीर नि. सवत् २४९६ मूल्य १५ रु.

मुद्रक
अजमेरा प्रिंटिंग वर्क्स
घी वालो का रास्ता, जयपुर
फोन ७४२५०

प्रकाशक की ओर से

जैन हिन्दी साहित्य पर गत १० वर्षो से जो शोध कार्य हुआ है और अब उसमे जो गतिशीलता दिखलाई देने लगी है वह उसके भविष्य के लिए शुभ सकेत है लेकिन जैन हिन्दी सहित्य की विशालता एव विविधता को देखते हुए अभी जितना भी कार्य हुआ है वह एक रूप से सर्वे कार्य के समान है। इसकी गहराई एव महत्ता का अभी मूल्याकन होना शेष है और इस प्रकार जैन हिन्दी साहित्य की खोज, अनुसन्धान, आलोचना एव उसके सही मूल्याकन के लिए शोध कार्यो एव विद्वानो के लिए विशाल क्षेत्र पडा हुआ है। राजस्थान के जैन ग्रथ सग्रहालय इस कार्य की महत्त्वपूर्ण आधार शिला है। यही कारण है कि जब से श्री महावीर क्षेत्र की ओर से राजस्थान के जैन शास्त्र भडारो की ग्रथ सूचियो के चार भाग, प्रशस्ति सग्रह, एव प्रद्युम्न, चरित, जिणदत्त चरित जैसी हिन्दी की आदिकालिक कृतिया प्रकाशित हुई हैं तभी से देश के विभिन्न विश्वविद्यालयो मे जैन साहित्य के प्रति प्राध्यापको एवं शोधार्थियो मे एक नवीन अभिरुचि जाग्रत हुई है व कार्य करने की भावना उत्पन्न होने लगी है। गत ४-५ वर्षों से क्षेत्र के साहित्य शोध विभाग मे देश-विदेश के शोध छात्र एव छात्राएं जैन साहित्य के विभिन्न अ गो पर जितनी सख्या मे कार्य करने के लिए आ रहे हैं उससे ज्ञात होता है कि जैन साहित्य का परिचय हमारे मन्दिरो एव ग्रथ भडारो की सीमाओ को लाघ कर बाहर आने लगा है और विश्वविद्यालय की भूमि मे प्रवेश प्राप्त करने का प्रयास हो रहा है।

जैन साहित्य की गतिशीलता के ऐसे अवसर पर मुझे 'जैन शोध और समीक्षा' पुस्तक को पाठको, शोधार्थियो तथा विद्वानो के हाथो मे देते हुए प्रसन्नता

होती है। प्रस्तुत पुस्तक मे विद्वान् लेखक ने जैन साहित्य को शोध एव समीक्षा के दोहरे रूप मे उपस्थित किया है जो उनके वर्षों के गहन अध्ययन का फल है। लेखक दि० जैन कालेज वडौत के हिन्दी विभाग के प्रोफेसर एव अध्यक्ष हैं तथा 'जैन भक्ति काव्य की पृष्ठभूमि एव हिन्दी भक्ति काव्य एव कवि' के लेखक के रूप मे पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर चुके हैं।

प्रस्तुत प्रकाशन श्री महावीर क्षेत्र की ओर से १५ वा प्रकाशन है। इस पुस्तक के प्रकाशन के पूर्व १४ महत्वपूर्ण एव शोधपरक कृतिया प्रकाशित हो चुकी हैं जिनमे 'ग्रथ सूचियो के चार भाग, प्रशस्ति सग्रह, जिणदत्त चरित, प्रद्युम्न चरित, हिन्दी पद सग्रह, चम्पाशतक, राजस्थान के जैन सत व्यक्तित्व एव कृतित्व तथा जैन ग्रथ भडारस् इन राजस्थान' के नाम विशेषत उल्लेखनीय हैं। इस वर्ष भारतीय ज्ञानपीठ की ओर से डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल को 'राजस्थान के जैन सत व्यक्तितत्व एव कृतित्व' पर गोपालदास बरैया पुरस्कार से सम्मानित किया गया है। यह पुरस्कार डा० कासलीवाल की खोज कार्यों मे गहनता एव विशेष रुचि के साथ हमारे प्रकाशनो के उच्चस्तरीय स्तर का भी परिचायक है। अप्रकाशित एव महत्वपूर्ण हिन्दी रचनाओ को प्रकाशित करने की एक योजना क्षेत्र कमेटी के विचाराधीन है जिसके माध्यम से अनेक हिन्दी रचनाओ को प्रकाशित करके शोध छात्रो को इस दिशा मे कार्य करने का सुअवसर प्रदान करना है।

श्रीमहावीरजी क्षेत्र की प्रवन्धकारिणी कमेटी के अन्तर्गत गठित धर्म प्रचार समिति साहित्य प्रकाशन के कार्य को गतिशील बनाने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील है। उक्त धर्म प्रचार समिति का यह दुर्भाग्य रहा कि इसके सयोजक श्री केशरलाल जी अजमेरा तथा सदस्य प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् श्री प० चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ का आकस्मिक स्वर्गवास हो जाने से हमारी योजनाओ को मूर्त्तरूप नही दिया जा सका। उक्त प्रकाशन मे स्व० श्री अजमेरा जी का वहुत योगदान रहा है जिसके लिए हम उनके आभारी है। प० चैनसुखदासजी की क्षेत्र कमेटी पर सदैव ही महती कृपा रही है और हमे उनका मार्ग दर्शन मिलता रहा है। वे आज नही हैं किन्तु उनकी पावन स्मृति हमे प्रकाश व प्रेरणादायक होगी।

इस पुस्तक के प्रकाशन की प्रेरणा हमे पूज्य १०८ मुनि श्री विद्यानन्दजी महाराज के आशीर्वाद से मिली जिसके लिए उनके चरणो मे हमारी

कृताज्ञाञ्जलिया ॅसमर्पित है। प्रस्तुत पुस्तक मे मुनिश्री ने आद्यमिताक्षर लिखने की पूर्ण अनुकम्पा की है इसके लिए हम उनके चिरकृतज्ञ हैं। पुस्तक के विद्वान् लेखक डा० प्रेमसागर जैन के भी हम आभारी हैं जिन्होने ऐसी सुन्दर एव उपयोगी पुस्तक को हमे प्रकाशनार्थ देने कृपा की है। हम डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल को भी धन्यवाद दिए बिना नही रह सकते जिनकी देख-रेख मे इस पुस्तक का प्रकाशन हो सका।

ज्ञानचन्द्र खिन्दूका

मन्त्री

प्रवन्धकारिणी कमेटी,

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र

श्रीमहावीरजी

आद्यमिताक्षर

'साहित्य' समाज का दर्पण है। समाज की सास्कृतिक निधियाँ साहित्य के माध्यम से सुरक्षित रहती है। जैसे वडी-वडी कोठियो वाले धनिक वर्ग मकानो मे उद्यान व लॉन रखते हैं, उसी प्रकार जातियो का इतिहास साहित्य के सुरभित-कानन रखता है। प्राचीन भारत मे आज-जैसी प्रशस्त मुद्रण कला नही थी। किन्तु तव लोगो का मन साहित्य-मय था। उस समय के टिकाऊ ताडपत्र पर मोती को लजाने वाले अक्षरो मे जो ग्रथ मिलते हैं, वे आज के युग पर उपहास करते हैं और अपनी दुदशा पर अश्रु वहाते है। घर-घर मे ग्रथो के वडल रखे है, किन्तु अपने पूर्वजो से सरक्षित उन ग्रन्थो को आज की नई पीढी कहा देखती है ? अपने ही घरो मे उनका अविनय किया जा रहा है। जो भक्ति से पाले गये, मूल्य देकर लिपिकारो से लिखवाये गये, जिनसे परिवार ने पूजा के छन्द सीखे–आज वे ही पराये लगने लगे। पूर्वज तो लिखकर चले गये, किन्तु ये आदर्श ग्रन्थ अभी जीवित हैं।

कितने समाज के लोग ग्रन्थ रक्षा के उपाय-चिन्तन मे अपना तन-मन और धन लगा या लगवा रहे हैं ? कोई उनमे सुवर्ण बनाने की विधि ढूँढता है तो कोई किसी जरा-व्याधि विनाशक रसायन की प्रक्रिया खोजता है। यदि आज के लोगो की अपेक्षित वस्तु उनमे नही मिलती तो वे उन हस्तलिखित हेय लगने वाले, पैवन्द वेष्टनो मे छिपे ताडपत्र के ग्रन्थो को महत्त्व देने से इन्कार करते थकते नही। इस दृष्टिकोण मे परिवर्तन आना चाहिए, तभी साहित्य की एव प्राचीन ग्रन्थो की रक्षा सम्भव हो सकेगी। स्वाध्याय मे रुचि लेना, आत्म-रस उत्पन्न करना भी इस दिशा मे सहायक है। आदर्श ग्रन्थ-रत्नो के प्रति आदर भावना से प्राचीन-साहित्य क्षीण और लोप होने से वचाया जा सकता है।

'स्वाध्याय' का महत्व सर्व विदित है। स्वाध्याय ज्ञान की उपासना है। ज्ञानवान होकर चारित्र्य का पालन यथाशक्ति करना मानव का कर्तव्य-धर्म है। ससार और ससार से परे का ज्ञान-विज्ञान ग्रथो मे सजोया हुआ है। जो प्रतिदिन उस ज्ञान मे से थोडा-थोडा भी सचय करता है, वह श्रीमान्, वहुश्रुत, स्व-समयी, ज्ञानी और वाग्मी वन जाता है। 'वूद-वूद जल भरे तालाव' (थें मे थें वे तले साचे—मराठी) अर्थात् वूद-वूद पानी से तालाव भर जाते हैं। स्वाध्याय का नियम लेकर नित्य अध्ययन शील को सम्यग् विद्या की निधियाँ मिल जाती हैं। स्वाध्याय चित्त को एकाग्र, एतावता आत्म को वलवान वनाता है। पवित्रता प्रदान करता है और परिणामो की विशुद्धि करता है। स्वाध्याय रूपी चिन्ता-मणि जिसे मिल जाती है, वह कुवेर के रत्नकोषो को पराजित कर देता है। ज्ञान के क्षेत्र मे नया उन्मेष और ज्ञान-विज्ञान की खोज मे स्वाध्याय ही प्रवल कारण है।

डॉ० श्री प्रेमसागर जैन का प्रस्तुत "जैन शोध और समीक्षा" ग्रथ इस दिशा मे भाषा-शास्त्रियो के लिए लाभदायक सिद्ध होगा। लेखक ने ग्रन्थ को कई प्रकरणो मे सजोकर विभिन्न वातो पर प्रकाश डाला है, इससे पाठको को अनुकूल ग्राह्य-सामग्री पर्याप्त मात्रा मे मिल सकेगी। इस दिशा मे लेखक और श्री महावीर जी क्षेत्र के मत्री, श्री ज्ञानचन्द्र खिन्दूका तथा प्रवन्धक महोदयो का प्रयत्न अनुकरणीय एव सराहनीय है।

आशीर्वाद !

मुनि विद्यानन्द

भूमिका

'जैन शोध और समीक्षा' मे मेरे १० शोध निबन्ध हैं। मैंने उन्हे समय-समय पर लिखा है। शोध सतत प्रवाह है। हम नही कह सकते कि हमने जो कुछ लिखा है, वह उतना और वैसा ही है। मैं नही चाहता कि इन निबन्धो की मान्यताओ को मील का अन्तिम पत्थर समझा जाये। इन पर अनुसन्धित्सु और शोध-खोज करें, यदि कुछ नया ला सके तो मुझे प्रसन्नता ही होगी। जैन साहित्य विपुल है। स्थान-स्थान पर जैन भण्डार हस्तलिखित ग्रन्थो से भरे पडे हैं। उनको खोजना, पढना फिर उनका सम्पादन और प्रकाशन–सब कुछ परिश्रम-साध्य है। यदि यह हो सके तो भारतीय साहित्य विश्व मे और अधिक गौरवास्पद होगा, ऐसा मुझे विश्वास है।

मूल साहित्य की खोज एक बात है और फिर उसे आधुनिक समीक्षा और तुलनात्मक अध्ययन के साथ प्रस्तुत करना दूसरी बात है। जैन सन्दर्भ मे दोनो काम एक साथ करने होते हैं। ऐसा किये बिना मूल मूल्यवान नही बन पाता, उसे उचित स्थान नही मिलता और वह आदरास्पद होते हुए भी उपेक्षित-सा रह जाता है। प्राचीन और मध्यकालीन जैन हिन्दी काव्य, उत्तम कोटि का साहित्य है। इसे जिन्होने पढा है, उसके महत्त्व को स्वीकार करते हैं। उसे केवल धर्म कह कर छोडा नही जा सकता। किन्तु, हो ऐसा ही रहा है। बनारसीदास, द्यानत-राय, भूधरदास, आनन्दघन आदि अनेक ऐसे जैन कवि हुए, जिन्होने सामर्थ्यवान हिन्दी साहित्य की रचना की। मध्यकाल के अन्य हिन्दी कवियो के साथ उन्हे स्थान मिलना ही चाहिए। ऐसा तभी हो सकता है, जब उनके काव्य की सामर्थ्य और प्राणवत्ता तुलनात्मक अध्ययन और समीक्षा के साथ प्रस्तुत की जाये।

तुलना से मेरा तात्पर्य खींचतान से नही है। निष्पक्षता समीक्षा का प्राण है। यदि समीक्षक निष्पक्ष नही तो वह समीक्षा एक वर्ग विशेष मे क्षणिक समादृत होकर चुक जाती है—सदा के लिये। हमें अपनी बात एक प्रामाणिक पृष्ठभूमि, स्वस्थ दृष्टिकोण और किसी का विरोध किये बिना प्रस्तुत करनी होगी। आज नही तो कल, उसका स्वीकृत हो जाना अनिवार्य है। मेरा तात्पर्य तुलनात्मक होने से तो है, किन्तु हिंसक होने से नही। अहिंसा ब्रह्म है और वह तुलना के बीच भी हलके सितार की तरह झंकृत होनी ही चाहिए। मैंने अपने निबन्धो में भरसक निष्पक्ष रहने का प्रयत्न किया है।

जैन कवियो के लिखे हुए अनेक महाकाव्य है। उनमे धर्म है, उपदेश है, किन्तु रसधार भी अल्प नही है। किसी धर्म से सम्बन्धित होने मात्र से कोई काव्य 'साहित्य' सज्ञा से वञ्चित नही हो जाता। रामचरितमानस और सूरसागर वैष्णवधर्म से सम्बद्ध होने पर भी सहृदयो के कण्ठहार रहे है। स्थायी साहित्य की कोटि मे उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। कबीर की साखी, शब्द और रमैनी उपदेश-प्रधान होते हुए भी काव्य-मय तो हैं ही। उनका काव्यत्त्व असदिग्ध है। जायसी आदि सूफी कवि भी अदृष्ट की ओर इशारा करते हुए दार्शनिक-से प्रतीत होते हैं, किन्तु उनकी भावुकता साहित्य का प्राण है। वैसे ही जैनधर्म से निबद्ध होते हुए भी जैन काव्य अपनी भावसकुलता, रसमयता और वाग्विदग्धता के कारण 'साहित्य' की कसौटी पर भी खरे है। रायचन्द का 'सीताचरित्र' एक उत्तमकोटि का प्रबन्धकाव्य है। कथानक के सूत्रो का निबन्धन, गतिमयता, उसका सहज प्रवाह, नगीने से जडा-सा एक-एक चरित्र, सब कुछ स्वाभाविक है और महान्। भाषा जैसे भावो की चेरी। शील मे खिची-सी, सौन्दर्य की प्रतीक-सी, मन्द-मन्द गामिनी सीता 'सीताचरित्र' की विभूति है। रामचरितमानस की सीता भी हू-बहू ऐसी ही है। उसे देख कर महापण्डित राहुल साकृत्यायन को अकस्मात् १० वी शताब्दी के प्रसिद्ध कवि स्वयम्भू की याद आई। उन्होने विश्वास-पूर्वक लिखा कि तुलसी बाबा ने सीता का यह चित्र 'पउमचरिउ' से लिया। उन्हे और कही न मिला होगा। तुलसी के 'नाना पुराण निगमागम-सम्मत' सूत्र से यह असम्भव भी नही लगता।

स्वयम्भू के 'पउमचरिउ' की अनेक परम्पराएँ हिन्दी मे आयी, ऐसा मैं मानता हूँ। उसके विधिवत् विश्लेषण की महती आवश्यकता है, किन्तु वह एक पृथक् निबन्ध का विषय है। यह सच है कि जैनो का राम-सीता-विषयक विपुल साहित्य है—प्राचीन और मध्यकालीन विविध भारतीय भाषाओ मे। उनका अध्ययन

रुचिकर है, भाव-साम्य का आधार भी। मैने पूज्य मुनि श्री विद्यानन्द जी के पास कन्नड के महाकवि पम्प की 'पम्परामायण' देखी थी। एक दिन, मुनिश्री ने उसके प्रसिद्ध स्थलो का रसास्वादन कराया, सभी भाव-विभोर होगये। ऐसा अनुभूति-मय था वह काव्य। मुनिश्री ने २५ रामायणो का तुलनात्मक अध्ययन किया है। उनकी दृष्टि मे तुलसी एक उदार कवि थे। उन्होने कही से भी 'पउमचरिउ' को अवश्य सुना या पढा होगा। फिर भी, तुलसी मे जैसी तन्मयता है, 'पउमचरिउ' मे नही। तुलसी भक्त थे, उनके दिल का रेशा-रेशा राम-मय हो गया था। ऐसी तल्लीनता हिन्दी के किसी कवि मे देखने को नही मिली। इस क्षेत्र मे तुलसी अनूठे थे, अद्भुत और अनुपम। वह उनकी अपनी चीज है। न वाल्मीकि को मिली और न स्वयम्भू को। हो सकता है कि कन्नड के कवि पम्प मे वह बात हो। उसके कतिपय स्थलो से मुझे ऐसा लगा। वैसे, पूरे अध्ययन के बाद ही प्रामाणिक रूप से कुछ कहा जा सकता है।

लालचन्द लब्धोदय का 'पद्मिनी चरित' मैंने देखा है। उसकी रचना वि० स० १७०७, चैत्र शुक्ला १५, शनिवार के दिन पूर्ण हुई थी। कुछ घटनाक्रम के अतिरिक्त यह पूरी कथा जायसी के पद्मावत से मिलती-जुलती है। इसको भी काल्पनिक और ऐतिहासिक ऐसे दो भागो मे बाटा जा सकता है। काल्पनिक कथानक मे हीरामन तोते का प्रयोग नही हुआ है। रतनसेन ने अन्य उपायो से पद्मिनी के सौन्दर्य को सुना है। रतनसेन की रानी का नाम भी नागमती न होकर प्रभावती है। यहाँ ऐसा नही है कि पद्मिनी का सौन्दर्य सुनते ही वह वियोगी बन निकल पडा। बादशाह अलाउद्दीन को ककरण दिखाकर ककणवाली की अगाध रूप-राशि का अनुमान भी यहाँ नही करवाया गया है। एक बार, राजा ने अच्छा भोजन न बनने की शिकायत की, जिस पर प्रभावती ने क्रोधित होकर पद्मिनी नारी के साथ विवाह करने की बात कही, जो स्वादिष्ट भोजन बनाने मे निपुण हुआ करती हैं। राजा ने भी ऐसी नारी को प्राप्त कर प्रभावती के गुमान को नष्ट करने की प्रतिज्ञा की। वह औघडनाथ सिद्ध की कृपा से भयानक समुद्रो को पार करता हुआ सिहल मे पहुँचा, और वहाँ के राजा को अपनी वीरता से प्रसन्न कर उसकी पुत्री पद्मावती के साथ विवाह कर, छह माह के बाद चित्तौडगढ मे वापस आगया। इसी भाति अलाउद्दीन पद्मावती का नख शिख वर्णन सुन, उसे प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हुआ।

कथानक मे कल्पनाएं तो हैं, किन्तु उनमें वैसी असम्भवनीयता नही आ पाई है, जैसी कि पद्मावत मे पाई जाती है । यह कथानक मानव-जीवन के अधिक निकट है । भाषा सशक्त और सजीव है । उसमे गतिमयता है । स्वाभाविकता और सहजता है । भाव और अनुभूतियो के अनेक चित्र है । कवि मे चित्राङ्कन की शक्ति है । बीच-बीच मे अध्यात्म की सहज हिलोरे हैं, जो कथानक के सम्बन्ध-निर्वाह मे अटकाव नही डालती । प्रेम का स्पन्दन है, वीरता का उत्साह और अध्यात्म की पावनता । कही किसी धर्म के प्रति आग्रह नही, हठ नही । सब कुछ काव्यमय है । पद्मावत के साथ उसका अध्ययन विद्वानो को रुचेगा, ऐसा मुझे विश्वास है ।

भूधरदास का पार्श्वपुराण महाकाव्य है । इसकी रचना वि० स० १७८९, आषाढ सुदी ५ को आगरा मे पूर्ण हुई । इसमे ९ अधिकार हैं । भगवान पार्श्वनाथ की जन्म से ही नही, किन्तु पूर्वभवो से लेकर निर्वाण-पर्यन्त की कथा है । सम्बन्ध निर्वाह है-कही शिथिलता नही । अवान्तरकथाएँ मुख्यकथा की पुष्टि और अभिवृद्धि करती है । नायक क्षत्रिय राजकुमार और तीर्थंकर है । शान्तरस की प्रधानता है, और वैसे अन्य रसो का भी उपयुक्त समावेश हुआ है । दोहा-चौपाई का बहुत अधिक प्रयोग है । कही-कही सोरठा और छप्पय भी आये है । विविध प्राकृत दृश्यो का चित्रण है । प्रारम्भ और अन्त मे मगलाचरण है । इस भाति महाकाव्य के सभी लक्षण इसमे वर्त्तमान हैं । यद्यपि यह अपभ्रंश के वीर कवि के 'जम्बू स्वामीचरिउ' और हरिभद्र के 'णेमिणाह चरिउ' की भाति ही परम्परानुमोदित है, किन्तु फिर भी मन उसे मौलिक कहना चाहता है । मन की यह चाहना अकारणिक और निर्बन्ध नही है । पार्श्वपुराण की अवान्तरकथाओ की रसमयता, घटनाओ की चित्रोपमता, उपमा और उत्प्रेक्षाओ की सजीवता, उसे अन्तस्थल तक उतारने मे समर्थ है । कोई सहृदय पाठक उसके काव्यरस मे बूडे बिना नही रह सकता । प्रसादगुण भूधरदास मे जैसा मूर्त्तिमन्त हुआ, मध्य काल के अन्य किसी कवि मे नही । पार्श्वपुराण तो उसका प्रतीक ही है । आज से वर्षों पूर्व हिन्दी के समर्थ समीक्षक प० नाथूराम प्रेमी ने इसे हिन्दी का उच्च-कोटि का काव्य कहा था । आज उसके पुन सम्पादन और प्रकाशन की आवश्यकता है ।

मध्यकालीन हिन्दी मे अनेक चरित काव्यो का निर्माण हुआ । उनमें कुछ प्रबन्ध काव्य थे और कुछ खण्डकाव्य । यद्यपि उनकी सज्ञा 'चरित' या 'चरिउ' थी, किन्तु उनके कथासूत्र सगुम्फित और काव्य-सौष्ठव मनोरम था ।

भाषा परिमार्जित और भाव कथानुग्राही । उनमे कवि सधारु (वि स १४११) के प्रद्यु म्नचरित्र का सम्पादन और प्रकाशन महावीर भवन, जयपुर से हो चुका है । इसमे भगवान कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न की जीवन-गाथा है । प्रद्यु म्न कामदेव-जैसे रूप-सम्पन्न थे । उनका जीवन घटना-बहुल और वीरता-सम्पन्न था । डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल ने प० रामचन्द्र शुक्ल की परिभाषा के आधार पर, इसे प्रबन्ध काव्य सिद्ध किया है । उनका कथन है, "प्रद्युम्न चरित्र मे प० रामचन्द्र शुक्ल का प्रबन्ध काव्य वाला लक्षण ठीक बैठता है । इसमे घटनाओ का शृ खला-बद्ध क्रम है, नाना भावो का रसात्मक अनुभव कराने वाले प्रसगो का समावेश है । इन सबके अतिरिक्त यह काव्य श्रोताओ के हृदय मे रसात्मक तरगे उठाने मे भी समर्थ है । इसलिये प्रद्यु म्न चरित्र को निश्चित रूप से प्रबन्ध काव्य कहा जा सकता है ।"[1] किन्तु डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने इसे 'चउपई छन्दो को एक सतसई' कहा है ।[2] शायद उनका कथन इसके चउपई छन्दो की ७०१ सख्या पर आधृत है । मेरी दृष्टि मे, चरित काव्यो की अपनी एक परम्परा और शैली थी । भले ही वह सस्कृत आचार्यों के द्वारा निरूपित प्रबन्ध काव्यो की बाह्य-रूपता से तालमेल न बैठा पाती हो, किन्तु उनका अन्त· वैसा ही था, जैसा कि प्रबन्ध काव्यो का होता है । अर्थात्, उनमे चरितनायक के पूर्ण जीवन का सबध-निर्वाह होता है और रस-परिपाक भी । अत उन्हे प्रबन्ध काव्य कहने मे छन्दो की सख्या बाधक नही हो पाती ।

इस दृष्टि से हम ईश्वरसूरि के ललितागचरित्र, ब्रह्मरायमल्ल के 'श्रीपाल रास' और महाकवि परिमल्ल के 'श्रीपालचरित्र' को भी प्रवन्ध काव्य कह सकते हैं । भाषा, काव्य-सौष्ठव, प्रवन्धात्मकता, रसात्मकता, और प्रकृति-निरूपण आदि दृष्टियो से उन्हे हिन्दी-साहित्य का गौरव कहा जा सकता है । ये तीनो काव्य किसी सस्कृत या प्राकृत काव्य के अनुवाद नहीं है । उनमे पर्याप्त मौलि-कता है और भाषा का अपना रूप, अपनी विधा और प्रस्तुतीकरण का अपना ढग । उनका कथानक पुराणो से लिया गया है । किन्तु इतने मात्र से कोई काव्य वासा नही हो जाता । कथानको के लिये तो आज भी अनेकानेक साहित्य-कार पुराणो के ऋणी हैं । कथानक को आगे वढाना और उसे लक्ष्य तक पहुँचा देने का अपना तरीका होता है, जिसमे वह स्वय और उसका युग भिदा रहता है । इसी भाति चरित्र-चित्रण मे परिवर्तन भी स्वाभाविक है । ईश्वर सूरि,

---

१ प्रद्युम्न चरित्र, महावीर भवन, जयपुर, सन् १९६०, प्रस्तावना, पृ० ३३ ।

२. देखिए वही, प्रावकथन, पृ० ५ ।

ब्रह्म रायमल्ल और परिमल्ल तीनो ही जन्म-जात कवि थे, बहुश्रुत और प्रतिभावान् । उन्होने कथानक के पट्ट पर, भावो के नाना चित्र, राग और विराग की तूलिका से खीचे । वे अनूठे चित्रकार थे । जीवन के घात-प्रतिघात और अध्यात्म का शाश्वत, शान्त, ज्योतिर्वन्त चेतन, उन चित्रो से जैसे आज भी झाक-झाक कर, विश्व के भूले-भटके मानवो से कुछ कहना चाहता है । भारतीय वाङ मय के ये पृष्ठ, जिन पर स्थूल और सूक्ष्म का समन्वय ऐसे सहज ढग से उकेरा गया हो, और कही प्राप्त नही होते । इनके अतिरिक्त, मालकवि का भोजप्रबन्ध, रामचन्द्र का जम्बूचरित्र, कवि जोधराज का प्रीतकरचरित्र और जिनचन्द्र का विक्रमचरित्र भी १८वी शताब्दी की उल्लेखनीय रचनायें हैं ।

खण्ड काव्यो मे मानव का खण्ड जीवन ही अ कित रहता है । खड-जीवन का अर्थ है—जीवन का एक हिस्सा, पूर्ण जीवन नही । अवशिष्ट सब कुछ प्रबध-काव्य – जैसा ही होता है । नेमि-राजुल को लेकर ऐसे काव्यो का अधिकाधिक निर्माण हुआ । इस सन्दर्भ मे मध्ययुगीन जैन हिन्दी के कवि राजशेखरसूरि का 'नेमिनाथ फागु' एक सुन्दर रचना है । दृश्यो को चित्रित करने मे कवि निपुण प्रतीत होता है । विवाह के लिए सजी राजुल के चित्र मे सजीवता है । शील-सौन्दर्य से सनी राजुल भारतीय नारी की प्रतीक है । नेमिनाथ तोरण-द्वार से वापस लौट गये । पशुओ के करुण-क्रन्दन को सुनकर उन्होने अपने सारथी से पूछा—यह क्या है ? सारथी ने कहा—"आपके विवाह मे भोज्य-पदार्थ बनने के के लिए इन्हे काटा जायेगा ? वह करुणा का एक ऐसा क्षण था, जिससे विगलित हो उन्होने विवाह के स्थान पर दीक्षा ले ली । फिर राजुल का विलाप, नेमिनाथ को ही पति मानकर ऐसा विरह जो भगवान् किसी को न दे, प्रारम्भ हुआ । रोमाञ्च के क्षण आते-आते रुक गये और एक जीवन-व्यापी विरह शुरू हो गया । उसने राजीमती के प्रेम को और भी पुष्ट बनाया । वह दीवानी विरह के माध्यम से नेमिनाथ के साथ एकमेकता स्थापित कर सकी । कैसा विरह था वह और कैसा प्रेम, किसी राधा से कम नही । हिन्दी के जैन खण्ड काव्य उनकी रोमाञ्चकता और सरसता से ओतप्रोत हैं । ऐसे काव्यो मे विनयचन्द्र सूरि की 'नेमिनाथ चतुष्पदी', कवि ठकुरसी की नेमिसुर की वेलि', विनोदी लाल का 'नेमिनाथ विवाह', अजयराज पाटणी का 'नेमिनाथ चरित्र' और मनरगलाल की 'नेमिचन्द्रिका' प्रसिद्ध कृतियाँ हैं । नेमिचन्द्रिका मे वात्सल्य, करुण और विप्रलम्भ का सुन्दर समन्वय हुआ है । यमक, उत्प्रेक्षा, उपमा और रूपक स्वाभाविक ढग से ही काव्य की शोभा को बढाते हैं । दोहा,

सोरठा, चौपाई, भुजगप्रयात आदि छन्दो का सफल प्रयोग है। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि भाव और भाषा दोनो का सफल चितेरा था।

केवल नेमि-राजुल पर ही नही, अपितु अन्य कथाओ का आश्रय लेकर भी अनेक खण्ड काव्यो का निर्माण हुआ। १७वी शताब्दी के कवि प० भगवतीदास की 'लघुसीतासतु' एक अच्छी रचना है। इसमे सीता और मन्दोदरी के सवादो के माध्यम से रावण और मन्दोदरी के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण है। भाषा और भाव दोनो ही उत्तम कोटि के हैं। ब्रह्म रायमल्ल का 'हनुमच्चरित्र' भी इस दिशा की एक महत्त्वपूर्ण कडी है। इसमे वीररस-परक जीवन का चित्रण है। उनके पिता पवनञ्जय और माता अञ्जना जैन धर्मानुयायी थे। हनूमान गर्भ मे ही थे कि सास ने एक भ्रम-पूर्ण सन्देह के कारण अञ्जना को घर से निकाल दिया। एक कठोर और तिरस्कृत जीवन बिताया अञ्जना ने। करुणा जैसे साक्षात् हो उठी। सती, पति-निष्ठा, गर्भभारालसा वह एक अनन्य भक्ति के साथ दिन बिताती रही। कवि ने उसके विरह का मार्मिक चित्र खीचा है। इसी बीच हनूमान का जन्म और लालन-पालन हुआ फिर, पति-पत्नी का मिलन। सयोगावस्था, किन्तु अब यौवन की बाढ चुक गई थी। यह शरद ऋतु थी, तो हनूमान ने राम की जै-जै के गीत गाये। ऐसा सरस खण्ड काव्य मध्यकालीन हिन्दी मे ढूँढे भी नही मिलेगा। महानन्द के 'अञ्जनासुन्दरीरास' मे भी अञ्जना के विरह का सजीव चित्रण हुआ है। कथा के बीच से उभरा यह विरह हार मे इन्द्रमणि-सा प्रतिभासित होता है।

हेमरत्नसूरि की 'पद्मिनी चौपई' सौन्दर्य और प्रेम के रगो से बनी थी। कवि सौन्दर्य के नाना चित्रो को प्रेम की तूलिका से खीचता गया है। पढ कर पाठक विभोर हुए बिना नही रहता। उसमे मादकता है, किन्तु सात्विकता भी कम नही, उसमे जलाने की ताकत है, किन्तु शीतलता भी अल्प नही, उसमे विरह है, किन्तु सयोग के क्षण भी भुलाये नही जा सकते। पद्मिनी का वह रूप, वह विरह, वह सयोग भुलाये नही भूलता, हटाये नही हटता, जैसे सदा-सदा के लिए खिच के रह गया हो।

हिन्दी का मध्यकाल रूपको का युग था। कोई ऐसा भक्त कवि नही, जिसने अपने भावो को अभिव्यक्त करने के लिए रूपको का सहारा न लिया हो। क्या सूरदास, क्या तुलसीदास और क्या कबीर दास। जैन कवियो ने भी उसी माध्यम को अपनाया। उनमे एक विशेषता थी कि उनकी अनेक कृतियाँ समूचे

रूप मे 'रूपक' है, जबकि सूरदास आदि के पृथक्-पृथक् पदो मे तो रूपक हैं, किन्तु उनकी कोई ऐसी रचना नही, जिसमे समूचे रूप में 'रूपक' सज्ञा दी जा सके। जैनो मे यह परम्परा पहले से थी। आध्यात्मिकता और ज्ञान-बहुला भक्ति उसका मुख्य आधार था। जैन हिन्दी मे पाण्डे जिनदास का 'मालीरासो', उदयराज जती का 'वैद्यविरहिणी प्रबन्ध', कवि सुन्दर दास का 'धर्म सहेली', पाण्डे रूपचन्द का 'खटोलना गीत', हर्षकीर्ति का 'कर्म हिण्डोलना', छीहल का 'पच सहेली गीत' और 'पथी गीत', बनारसीदास का 'माझा', 'तेरह कोठिया', 'भव-सिन्धु चतुर्दशी', अध्यात्महिण्डोलना', अजयराज का 'चरखा चउपई' एव 'शिवरमणी विवाह' और भैय्या भगवतीदास का 'चेतन कर्मचरित्र', 'मधुविन्दुक चउपई' और 'सुआ बत्तीसी' प्रसिद्ध रूपक काव्य हैं। कवि बनारसीदास का 'नाटक समयसार' एक उत्तम रूपक है। उसमे सात तत्त्व अभिनय करते है। जीव नायक और अजीव प्रतिनायक है। ऐसी सरस कृति हिन्दी के भक्ति काव्य को एक अनूठो देन है। बहुत समय पूर्व, इसका एक अच्छा सम्पादन तथा प्रकाशन प० नाथूराम प्रेमी ने किया था। अब उपलब्ध नही होता। उसके नये सम्पादन और प्रकाशन की महती आवश्यकता है। इनके अतिरिक्त, 'फागु', 'वेलि' और 'चूनडी' ऐसो कृतियाँ है, जो समूचे रूप मे रूपक हैं। उनके रचयिता क्षमतावान कवि थे। 'बेलि' काव्य पर तो एक पूरा शोध प्रबन्ध ही रचा जा चुका है। फागु और चूनडी काव्यो पर भी काम हो रहा है। 'फागु काव्य' पर तो शीघ्र ही शोध ग्रन्थ प्रकाशित होगा।

सूरसागर की भाति जैन कवियो के पदो मे-से एक-एक मे भी 'रूपक' सन्निहित है। भूधरदास के 'मेरा मन सूवा, जिनपद पीजरे वसि, यार लाव न वार रे', 'जगत जन जूवा हारि चले', 'चरखा चलता नाही, चरखा हुआ पुराना', द्यानतराय के 'परमगुरु वरसत ज्ञान झरी', 'ज्ञान सरोवर सोई हो भविजन', भैय्या के 'कायानगरी जीवनृप, अष्टकर्म अति जोर', तथा बनारसीदास के 'मूलन बेटा जायो रे साधो, मूलन बेटा जायो रे' मे रूपको का सौन्दर्य है। जैन कवियो के रूपक अधिकाशतया प्रकृति से लिए गए हैं। अत इनमे सौन्दर्य है और शिवत्त्व भी। वे निर्गुनिए सतो की भाति कला-हीन भी नही हैं। देवाब्रह्म के पदो मे चेतन और सुमति की होली से सम्बन्धित अनेक रूपक हैं, जिनके भाव अनुभूतिमय हैं तो भाषा निखरे रूप का निदर्शन है। कवि अपने विचारो का भावोन्मेष करता हुआ कवित्व के साचे मे ढालता गया है। जगतराम के पदो मे भी रूपको की सुन्दर छटा है। उनमे जीवन दर्शन को अभिव्यक्त करने की पूर्ण सामर्थ्य है। कही ऊब पैदा नही होती। मन रमता है। अत और बाह्य

दोनो पक्ष गुलाब की सुगन्धि और सुन्दरता की भांति प्रभावकारी हैं। रस प्रवण है।

मध्यकालीन हिन्दी साहित्य मे आत्मचरितो की रचना अल्पादपिअल्प हुई, नही के बराबर। किन्तु, एक ऐसा आत्मचरित है, जिसकी सत्ता और सामर्थ्य आज के समीक्षक विद्वान भी स्वीकार करते हैं। उसके रचयिता कवि बनारसीदास थे। नाम है अर्धकथानक। आत्मचरितो के अधिकारी ज्ञाता श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने 'अर्धकथानक' को आदर्श आत्मचरित माना है। इसका अर्थ है कि आत्मकथा की कसौटी पर वह खरा है। उन्होने लिखा है, "अपने को तटस्थ रख कर अपने सत्कर्मों तथा दुष्कर्मों पर दृष्टि डालना, उनको विवेक की तराजू पर बावन तोले पाव रत्ती तौलना, सचमुच एक महान कला-पूर्ण कार्य है। अर्धकथानक मे यह गुण है।"[1] डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने भी इसका 'अर्धकथा' नाम से सम्पादन किया था और 'साहित्य परिषद्', प्रयागविश्व-विद्यालय से उसका प्रकाशन भी हुआ था। उनकी मान्यता है, "कभी-कभी यह देखा जाता है कि आत्मकथा लिखने वाले अपने चरित्र के कालिमा पूर्ण अशो पर एक आवरण-सा डाल देते है—यदि उन्हे सर्वथा बहिष्कृत नही करते—किन्तु यह दोष प्रस्तुत लेखक मे बिलकुल नही है।[2]" प० नाथूराम प्रेमी का कथन है, "इसमे कवि ने अपने गुणो के साथ-साथ दोषो का भी उद्घाटन किया है, और सर्वत्र ही सचाई से काम लिया है।[3]" इस सब से सिद्ध है कि 'अर्धकथानक' मध्यकाल की एक सशक्त कृति थी। 'खडी बोली की पुट' वाला यह आत्मचरित अत्यधिक आसान और रुचिकारक है। न-जाने क्यो कॉलिजो के पाठ्यक्रम मे, अभी तक, इसको स्थान नही मिला है?

मध्यकालीन हिन्दी मुक्तक पद काव्य क्षमतावान है। विविधराग-रागिनियो से समन्वित, वाद्य यन्त्रो पर खरा और श्रुतमधुर। भाव की गहराइयो को लिये हुए। सूरदास के पद काव्य से किसी प्रकार कम नही।

'भगवद्भक्ति' के क्षेत्र मे सूरदास वात्सल्यरस के एकमात्र कवि माने जाते है। तुलसी ने भी बालक राम पर लिखा, किन्तु वह महाकाव्य के कथानक के

---

१ 'हिन्दी का प्रथम आत्मचरित', बनारसीदास चतुर्वेदी लिखित, अनेकात, वर्ष ६, किरण १, पृ० २१।

२ अर्धकथा, डॉ० माताप्रसाद गुप्त सम्पादित, प्रयाग, भूमिका, पृ० १४।

३ अर्धकथानक, भूमिका, बम्बई, पृ० २२।

एक अश की पूर्त्ति-भर है। सूर का सानी नही। किन्तु जैन काव्यो मे वात्सल्य भाव के विविध दृश्य उपलब्ध होते है। जैन कवियो ने तीर्थंकरो के बाल रूप का चित्राङ्कन किया है। इस विषय की प्रसिद्ध रचना है 'आदीश्वर फागु'। उसके रचयिता भट्टारक ज्ञानभूषण एक समर्थ कवि थे। द्यानतराय, जगतराम, बूचराज आदि ने भी आदीश्वर की बालदशा का निरूपण किया है। सूरदास का जितना ध्यान बालक कृष्ण पर जमा, बालिका राधा पर नही। बालिकाओ का मनोवैज्ञानिक वर्णन सीता, अञ्जना और राजुल के रूप मे, जैन पद काव्यो मे उपलब्ध होता है। ब्रह्म रायमल्ल के 'हनुमन्त चरित्र' मे हनूमान के बालरूप का ओजस्वी वर्णन है। वह उदात्तता परक है, मधुरता परक नही। जैन कवियो का अधिकाश बाल रूप तेजस्विता का निदर्शन है। इससे सिद्ध है कि उस पर श्रीमद्भागवत का प्रभाव नही था। जैन काव्यो मे बालरस से सम्बन्धित गर्भ और जन्मोत्सव की अपनी शैली है। वह उन्हे परम्परा से मिली है। इन उत्सवो के जैसे चित्र जैन काव्यो मे उपलब्ध होते हैं, सूरसागर मे नही। सूरदास, जन्मोत्सव के एक दो पदो के बाद ही आगे बढ गये।

सूर का भ्रमरगीत विरहगीत है। कृष्ण के विरह मे राधा की वेदना। जैन काव्यो की राजुल से मिलती जुलती है। दोनो के भावो का साम्य हू-बहू है। विवाह-मण्डप तक आकर बिना विवाह किये ही नेमीश्वर पशुओ की पुकार से द्रवित होकर दीक्षा ले गिरिनार पर चले गये। विवाह-मण्डप मे बैठी राजुल ने यह सुना तो उसकी असह्य वेदना हृदय की शत-शत अश्रु धाराओ मे विगलित हो उठी। कृष्ण भी राधा को बिना कहे मथुरा चले गये फिर लौटे नही। दोनो मे अद्भुत साम्य है। सूर के भ्रमरगीत और विनोदीलाल तथा लक्ष्मीवल्लभ के 'बारहमासो' मे तुलना का पर्याप्त क्षेत्र है। किन्तु, जहाँ कभी-कभी भ्रमरगीत निर्गुण के खण्डन मे दत्तचित्त-सा दिखाई देता है, वहाँ जैन विरह काव्य, नितात काव्य की सीमा तक ही सीमित है। उसमे खण्डन-मण्डन – जैसी बात नही है। गोपियो के पैने तर्कों ने ऊधौ—जैसे दार्शनिक को निरुत्तर कर दिया। काव्य रस मे यह तर्क-प्रवणता कही-कही रसाभास उत्पन्न करती है। जैन काव्य उससे बचे रहे। जैन कवि राजुल, सीता और अञ्जना के विरह गीतो तक ही सीमित नही रहे, उनका गुरु-विरह एक मौलिक तत्त्व है। गुरु के विरह मे शिष्य की बेचैनी राजुल से कम नही। दूसरी ओर जैन कवियो ने सुमति को राधा कहा और परमात्मा के विरह मे उसकी बेचैनी हिन्दी काव्य को नयी देन है। इन सन्दर्भो मे प्रकृति-निरूपण भी स्वाभाविक है।

सूरदास की भक्ति सखा भाव की भक्ति मानी जाती है। सखा भाव के कारण ही सूर मे ओजस्विता है। भैय्या भगवतीदास के 'ब्रह्मविलास' मे भी ओज ही प्रमुख है। यह चेतन इस आत्मा को अपना सखा मानता है, जिसमे परमात्मशक्ति मौजूद है, किन्तु जो अपने रूप को न पहचान कर इधर-उधर बहक गया है। एक सच्चे मित्र की भाति यह जीव उसे मीठी फटकार लगाता है। जैन कवियो का पदकाव्य इस प्रवृति से ओत-प्रोत है। सूर का ओज उनके मीठे उपालम्भो मे खिल उठा है। जैन कवियो के उपालम्भो मे भी वैसी ही सामर्थ्य है। 'तुम प्रभु कहियत दीनदयालु। आपन जाय मुकति मे बैठे हम जु रुलत इह जगजाल।" द्यानतराय का पद है। सूर के स्वर मे मिलता-जुलता। किन्तु, जहाँ सूर के पदो मे अन्य देवो के प्रति तीक्ष्णता है, वहाँ भी जैन काव्य धीर-गम्भीर बने रहे हैं।

सूरदास और जैन कवियो के पद गेय काव्य हैं। उनमे विविध राग-रागनियो की सगीतात्मक लय है। गेय काव्य सदैव लोक से सम्बन्धित रहा है। वह लोक काव्य ही है। प्राकृत और अपभ्रश काव्य लोक के सन्निकट रहा है। इसमे जैन साहित्य की अधिकाधिक रचना हुई। इसके अतिरिक्त रासक और लोक नाट्य भी जैन मन्दिरो मे गाये और खेले जाते थे। उनके निर्माता जैन कवि थे। वहाँ हिन्दी जैन पद काव्य की पूर्व भूमिका प्राप्त हो जाती है।

हिन्दी के प्रारम्भिक युग का नामकरण करते हुए प० रामचन्द्र शुक्ल ने उसे 'वीरगाथा काल' कहा। इस काल की जितनी रचनाएँ उन्हे प्राप्त हुईं, मुख्यत वीररसात्मक थी। अत उन्होने अपनी प्राप्तियो के आधार पर जो नाम दिया, गलत तो नही कहा जा सकता। उनके समय मे जैन ग्रन्थ भण्डारो के दरवाजे मजबूती से बन्द थे। नाथ-सिद्धो की कृतियाँ भी व्यवस्थित नही थी। जो कुछ उनके सामने आई भी होगी, उनका साहित्यिक धरातल कमजोर होगा, जिसे उन्होने नोटिस-मात्र कह कर छोड दिया। वैसे मेरी दृष्टि मे प० शुक्ल विचारवान व्यक्ति थे। यदि उन्हे आज की भाति, हिन्दी के प्रारम्भिक युग की कृतियाँ उपलब्ध हुई होती, तो वे उन्हे नकारते तो न। यह भी सम्भव है कि वे फिर इस युग का कुछ और ही नाम देते। मैंने अपने निबन्ध मे इस काल को 'आदिकाल' स्वीकार किया है। उस समय, शृगार, वीर और शान्त तीनो रस समरूप से प्रधान थे, एक-दूसरे से न कम और न बढ। वे 'आदिकाल' मे ही खप सकते हैं, 'वीरगाथा काल' मे नही, 'सिद्ध-सामत काल' मे भी नही। सब-से-पहले मिश्रबन्धुओ ने इस युग को 'आदिकाल' कहा था, जिसके औचित्य को डॉ० द्विवेदी

ने स्वीकार किया। बहुत कुछ पर्यालोचन के बाद मुझे वह समन्वयकारी लगा और मैंने अपने निबन्ध मे उसे अपनाया है।

जैन ग्रन्थ भण्डारो मे हिन्दी की महत्त्वपूर्ण कृतियो के होने की सम्भावना डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल ने की थी। उन्होने का० ना० प्र० प०, भाग ८, पृष्ठ २२० पर लिखा है, "बरार जिला आकोला के कारजा शुभस्थानस्थ श्री सेनगणीय, बलात्कारगणीय और काष्ठासघीय जैन भण्डारो मे सुरक्षित पुराने आचार्यों के ग्रन्थ है, जो हिन्दी भाषा का पूर्ण इतिहास, लगातार शताब्दियो की, हिन्दी भाषा, जीवनी और स्वरूप को अपने अक मे छिपाये हुए है।[1]" श्री मोतीलाल मेनारिया ने भी 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' मे लिखा, "इस युग के साहित्य-सृजन मे जैन मतावलम्बियो का हाथ विशेष रहा है।[2]" महापण्डित राहुल साकृत्यायन ने 'हिन्दी काव्य धारा' में इस युग की जैन कृतियो को महत्त्वपूर्ण बताया है। डा० भोलाशकर व्यास ने 'हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास' मे इस युग की जैन कृतियो को धार्मिक मानते हुए भी असाहित्यिक नही कहा। उन्होने डा० द्विवेदी के इस कथन को स्वीकार किया है कि धार्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेश होना काव्यत्व का बाधक नही समझा जाना चाहिए।[3]

अब तो केवल कारजा ही नही, समूचे भारत के जैन ग्रन्थ भण्डार खुल गये हैं। बहुतो की ग्रन्थतालिकाएँ भी बन गई हैं। किन्तु, हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वानो मे वहाँ जाने की यत्किञ्चित् भी आतुरता दृष्टिगोचर नही होती। वे हिन्दी के मौजूदा इतिहास को स्थायी और प्रामाणिक मान बैठे हैं। भण्डारो की शोध-खोज करना, हस्तलिखित प्रतियो का अध्ययन करना और फिर इतिहास को सशोधित करना जहाँ परिश्रम-साध्य है, वहाँ वैसी लगन होनी भी अनिवार्य है। लगन नही है। आज भी जाने और अनजाने लोगो के अवचेतन मे यह भाव बैठा हुआ है कि जैन ग्रन्थ, जैन धर्म के उपदेश-भर है, न उनमे काव्यत्व है और न रस-प्रवणता। डा० द्विवेदी का यह कथन, "धार्मिक साहित्य होने मात्र से कोई रचना साहित्यिक कोटि से अलग नही की जा सकती। यदि ऐसा समझा

---

१. काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग ८, पृष्ठ २२०, पुरानी हिन्दी का जन्मकाल, काशीप्रसाद जायसवाल-लिखित।

२ देखिए राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० २१।

३. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, प्रथम भाग, का० ना० प्र० सभा, काशी, पृ० ३७४।

जाने लगे तो तुलसीदास का 'राम चरितमानस' भी साहित्य क्षेत्र मे अविवेच्य हो जायेगा और जायसी का पद्मावत भी साहित्य सीमा के भीतर नही घुस सकेगा।[1]"—जैसे व्यर्थ-सा होकर रह गया है।

हिन्दी के आदिकाल मे जैन साहित्य विशेषतया तीन रूपो मे प्राप्त होता है—चरिउ, रास और फागु। चरिउ और रास मे प्रबन्धात्मकता होती है और किसी-न-किसी कथा का आधार रहता है। फागु काव्य नितात गेय होते हैं, किन्तु उनमे भी कथा-सूत्रता तो रहती ही है। 'जिणदत्त चरित' हिन्दी के आदिकाल की एक प्रसिद्ध रचना है। इसके रचयिता कवि रल्ह ने, इसकी रचना वि० स० १३५४ (सन् १२९७) मे की थी। उस समय अलाउद्दीन खिलजी का राज्य था। रल्ह का पूरा नाम राजसिह था। इनके पिता का बचपन मे स्वर्गवास हो गया था। माता ने पालन-पोषण किया। जिणदत्त की प्रसिद्ध कथा लोक-प्रचलित थी। जैन कवि इस कथा को आधार बना कर प्राकृत, सस्कृत और अपभ्रश मे भी काव्य रचना करते रहे हैं। अपभ्रश के श्रेष्ठ कवि लाखू (लक्ष्मण) की 'जिणयत्तकहा' जैन समाज मे अधिक प्रिय थी। रल्ह ने भी इस कथा को पढा था। उन्होने आदिकालीन हिन्दी मे, ५४४ चौपई छन्दो मे, इसकी रचना की। अब यह ग्रन्थ, महावीरभवन-शोध सस्थान, जयपुर से प्रकाशित हो गया है। इसकी भूमिका मे डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने लिखा है, "जिणदत्तचरित अपभ्रश और हिन्दी के बीच की कडी है। अपभ्रश भाषा ने धीरे-धीरे हिन्दी का रूप किस प्रकार लिया, यह इस काव्य से अच्छी तरह जाना जा सकता है। इसमे हिन्दी के ठेठ शब्दो का भी प्रयोग हुआ है।[2]" एक दूसरे स्थान पर उन्होने लिखा कि—"हिन्दी शब्द कोश के विद्वानो को इस काव्य मे कितने ही नये शब्द मिलेंगे, जिनका सम्भवत अभी तक अन्य काव्यो मे उपयोग नही हुआ है।[3]" यदि ऐसे शब्द व्युत्पत्ति-सहित ग्रन्थ के अन्त मे दे दिये जाते तो पाठक अधिक लाभान्वित होते। भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से भी उनका मूल्याकन हो पाता। इस ग्रन्थ का एक उद्धरण देखिए—

> **ताह जपइ राय सुन्दरीय।**
> **परऐसिय पाहुणइ जाहि जाहि, मइ तुह निवारिउ।**
> **तुव पेखि मोहिउ जणु, वसहूं मइ जन तुंह जु मारिउ।।**

---

१ 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल', बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, पृ० ११।

२. जिणदत्त चरित, महावीर भवन, जयपुर, १९६६, भूमिका, पृ० २३।

३ देखिए वही, पृ० ३८।

ने स्वीकार किया। बहुत कुछ पर्यालोचन के बाद मुझे वह समन्वयकारी लगा और मैंने अपने निबन्ध मे उसे अपनाया है।

जैन ग्रन्थ भण्डारो मे हिन्दी की महत्त्वपूर्ण कृतियो के होने की सम्भावना डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल ने की थी। उन्होने का० ना० प्र० प०, भाग ८, पृष्ठ २२० पर लिखा है, "बरार जिला आकोला के कारजा शुभस्थानस्थ श्री सेनगणीय, बलात्कारगणीय और काष्ठासघीय जैन भण्डारो मे सुरक्षित पुराने आचार्यों के ग्रन्थ है, जो हिन्दी भाषा का पूर्ण इतिहास, लगातार शताब्दियो की, हिन्दी भाषा, जीवनी और स्वरूप को अपने अक मे छिपाये हुए है।[१]" श्री मोतीलाल मेनारिया ने भी 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' मे लिखा, "इस युग के साहित्य-सृजन मे जैन मतावलम्बियो का हाथ विशेष रहा है।[२]" महा-पण्डित राहुल साकृत्यायन ने 'हिन्दी काव्य धारा' में इस युग की जैन कृतियो को महत्त्वपूर्ण बताया है। डा० भोलाशकर व्यास ने 'हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास' मे इस युग की जैन कृतियो को धार्मिक मानते हुए भी असाहित्यिक नही कहा। उन्होने डा० द्विवेदी के इस कथन को स्वीकार किया है कि धार्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेश होना काव्यत्व का बाधक नही समझा जाना चाहिए।[3]

अब तो केवल कारजा ही नही, समूचे भारत के जैन ग्रन्थ भण्डार खुल गये हैं। बहुतो की ग्रन्थतालिकाएँ भी बन गई है। किन्तु, हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वानो मे वहाँ जाने की यत्किञ्चित् भी आतुरता दृष्टिगोचर नही होती। वे हिन्दी के मौजूदा इतिहास को स्थायी और प्रामाणिक मान बैठे हैं। भण्डारो की शोध-खोज करना, हस्तलिखित प्रतियो का अध्ययन करना और फिर इतिहास को सशोधित करना जहाँ परिश्रम-साध्य है, वहाँ वैसी लगन होनी भी अनिवार्य है। लगन नही है। आज भी जाने और अनजाने लोगो के अवचेतन मे यह भाव बैठा हुआ है कि जैन ग्रन्थ, जैन धर्म के उपदेश-भर हैं, न उनमे काव्यत्व है और न रस-प्रवणता। डा० द्विवेदी का यह कथन, "धार्मिक साहित्य होने मात्र से कोई रचना साहित्यिक कोटि से अलग नही की जा सकती। यदि ऐसा समझा

---

१. काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग ८, पृष्ठ २२०, पुरानी हिन्दी का जन्मकाल, काशीप्रसाद जायसवाल-लिखित।

२. देखिए राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० २१।

३. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, प्रथम भाग, का० ना० प्र० सभा, काशी, पृ० ३७४।

जाने लगे तो तुलसीदास का 'राम चरितमानस' भी साहित्य क्षेत्र मे अविवेच्य हो जायेगा और जायसी का पद्मावत भी साहित्य सीमा के भीतर नही घुस सकेगा।[1]"—जैसे व्यर्थ-सा होकर रह गया है।

हिन्दी के आदिकाल मे जैन साहित्य विशेषतया तीन रूपो मे प्राप्त होता है—चरिउ, रास और फागु। चरिउ और रास मे प्रबन्धात्मकता होती है और किसी-न-किसी कथा का आधार रहता है। फागु काव्य नितात गेय होते हैं, किन्तु उनमे भी कथा-सूत्रता तो रहती ही है। 'जिणदत्त चरित' हिन्दी के आदिकाल की एक प्रसिद्ध रचना है। इसके रचयिता कवि रल्ह ने, इसकी रचना वि० स० १३५४ (सन् १२९७) मे की थी। उस समय अलाउद्दीन खिलजी का राज्य था। रल्ह का पूरा नाम राजसिंह था। इनके पिता का वचपन मे स्वर्गवास हो गया था। माता ने पालन-पोषण किया। जिणदत्त की प्रसिद्ध कथा लोक-प्रचलित थी। जैन कवि इस कथा को आधार वना कर प्राकृत, सम्कृत और अपभ्रश मे भी काव्य रचना करते रहे हैं। अपभ्रश के श्रेष्ठ कवि लाखू (लक्ष्मण) की 'जिणयत्तकहा' जैन समाज मे अधिक प्रिय थी। रल्ह ने भी इस कथा को पढा था। उन्होने आदिकालीन हिन्दी मे, ५४४ चौपई छन्दो मे, इसकी रचना की। अब यह ग्रन्थ, महावीरभवन-शोध सस्थान, जयपुर से प्रकाशित हो गया है। इसकी भूमिका मे डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने लिखा है, "जिणदत्तचरित अपभ्रश और हिन्दी के बीच की कडी है। अपभ्रश भाषा ने धीरे-धीरे हिन्दी का रूप किस प्रकार लिया, यह इस काव्य से अच्छी तरह जाना जा सकता है। इसमे हिन्दी के ठेठ शब्दो का भी प्रयोग हुआ है।[2]" एक दूसरे स्थान पर उन्होने लिखा कि—"हिन्दी शब्द कोश के विद्वानो को इस काव्य मे कितने ही नये शब्द मिलेंगे, जिनका सम्भवत अभी तक अन्य काव्यो मे उपयोग नही हुआ है।[3]" यदि ऐसे शब्द व्युत्पत्ति-सहित ग्रन्थ के अन्त मे दे दिये जाते तो पाठक अधिक लाभान्वित होते। भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से भी उनका मूल्याकन हो पाता। इस ग्रन्थ का एक उद्धरण देखिए—

ताह जपइ राय सुन्दरीय।
परऐसिय पाहुणइ जाहि जाहि, मइ तुह निवारिउ।
तुव पेखि मोहिउ जणु, वसहूं मइ जन तुंह जु मारिउ॥

---

१ 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल', विहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, पृ० ११।

२. जिणदत्त चरित, महावीर भवन, जयपुर, १९६६, भूमिका, पृ० २३।

३ देखिए वही, पृ० ३८।

एमु भणंतहि रल्ह कइ, गरु छाय गइ नाइसि ।
कथा एक वर वीर कहू, निवडइ पहिरइ वइसि ।।२२३।।

अर्थ—तव सुन्दरी (राजकुमारी) कहने लगी—ए परदेशी पाहुने ! तुम यहाँ से जाओ-जाओ । मैं तुम्हे मना करती हूँ । तुम्हे देख कर मेरे पिता मोहित हो गये है और एक मैं हूँ जो तुम्हे मारने जा रही हूँ । रल्ह कवि कहता है—इस प्रकार कहते-कहते पर्याप्त रात्रि वीत गई और फिर उसने कहा, 'हे श्रेष्ठ वीर एक कथा कहो जिससे पहरा वैठे-वैठे (जागते) रात्रि का शेप प्रहर निकल जावे ।'

यह काव्य जिणदत्त की वीरता और प्रतिभा से अविक सम्वन्धित है । इसमे वीर रस का अच्छा परिपाक हुआ है । शालिभद्रसूरि के भरतेश्वर-वाहुवलि रास मे भी दो भाइयो के युद्ध का वर्णन है । इसमे प्रयुक्त शव्द भी युद्धोपयुक्त है । किन्तु उसका पर्यवसान स्वाभाविक ढग से ही शान्तरस मे हो गया है । इसकी रचना वि० स० १२४१ मे हुई थी । आदिकालीन हिन्दी का उत्तम निदर्शन है । 'सप्तक्षेत्रि रास' (वि०स० १३२७) और 'संघपतिसमरा रास' (वि०स० १३७१) भक्ति से सम्वन्धित है । इनमे भक्ति रस की प्रमुखता है । मेरुतु ग-कृत 'प्रवन्ध चिंतामणि' एक ऐतिहासिक ग्रन्थ माना जाता है । अव इसका प्रकाशन मुनि जिनविजय जी के सम्पादन मे, 'सिंघी जैन ग्रन्थमाला' से हो चुका है । इसके कई प्रवन्धो मे यत्र-तत्र ऐसे दोहे विखरे हुए है, जिन्हे हम 'प्राचीन हिन्दी' सहज ही कह सकते हैं । कतिपय दोहे हैं—

जा मति पाछइ सपजइ, सा मति पहिली होइ ।
मुंजु भणइ मुणालवइ, विघन न बेढइ कोइ ।।

जइ यहु रावणु जाइयो, दह मुहु इक्कु सरीरु ।
जननि वियभी चिन्तवइ, कवनु पियाइए खीरु ।।

मुंजु भणइ मुणालवइ, जुव्वणु गयउ न झूरि ।
जइ सक्कर सयरवड थिय, तोइ स मीठी चूरि ।।

विनयचन्द्र सूरि की 'नेमिनाथ चउपई' नेमि-राजुल परक एक प्रसिद्ध रचना है । इसे यदि बारहमासा काव्य कहे तो अनुपयुक्त न होगा । इसमे राजुल और सखी के बीच उत्तर और प्रत्युत्तर के रूप मे यह पूर्ण हुई है । इसमे ४० पद्य

हैं। एक सरस कृति है।[1] प्रारम्भिक हिन्दी काव्यों मे अन्यतम। माघ का माह है। हिम-राशि मत्त बन गई है। राजुल कहती है—हे प्रिय। मुझे अपने समीप बुला लो। हे स्वामी! तम्हारे बिना तुषार जल रहा है और, कामदेव नये-नये ढग से मार रहा है—

माह मासि मातइ हिम-रासि देवि भजय मइ प्रिय लइ पासि।
तइ विणु, सामिय! दहइ तुसारु नव-नव मारिहि मारइ मारु ॥२०॥

इस पर सखी का कथन है कि तू जो रो रही है, यह सब अरण्य-रुदन है। क्या हाथी कान पकड कर काबू मे किया जा सकता है। मेरी सखी! तू मुझ पर विश्वास नही करती कि सिद्ध रमणी मे अनुरक्त होकर नेमि चला गया।

इहु सखि! रोइसि सहु अरन्नि. हत्थि कि जामइ धरणउ कन्नि।
तउ न पतीजसि माहरी माइ! सिद्धि-रमणि-रत्तउ-नमि जाउ ॥२१॥

राजुल का उत्तर है–हे सखी! कान्त मेरे हृदय मे बस रहा है, फिर तेरी बात पर किस तरह विश्वास करूँ। यदि नेमि सिद्धि के पास गया तो क्या बुरा है। मैं भी उसके साथ जाऊँ, तभी तो उग्रसेन की पुत्री कहलाऊँगी।

कति वसंतइ हियडा-माहि, वाति पहीजउ किम हलसाइ[1]।
सिद्धि जाइ तउ काइंत वीह, सरसी जाउ न उग्रसेण-धीय ॥२२॥

यह साधारण नायक-नायिका का वियोग नही है। नायक तीर्थङ्कर है और नायिका भी मोक्षगामिनी है। हम इसे भगवद्विषयक रति मान सकते हैं। यह प्रेममूला भक्ति का दृष्टान्त है। यहाँ भक्ति के नाम पर किसी यौन-वासना को प्रश्रय न मिल सका, यह ही कारण था कि प्रेम के रगो से बनी होने पर भी भक्ति, भक्ति ही रही। उसके भीतर से कोई जयदेव या विद्यापति झाक भी न सका।

शालिभद्ररास १४वी शताब्दी की प्रसिद्ध रचना है। इसके रचयिता श्री राजतिलक गणि खरतरगच्छीय विद्वान् थे। आचार्य जिनप्रबोध सूरि ने उन्हे, सवत् १३२२, ज्येष्ठ बदी ६ को, जालौर मे वाचनाचार्य के पद पर प्रतिष्ठित

---

१. देखिए, थार्वस, गुजराती सभा, ग्रन्थावलि ६१, वम्बई ४, सन् १६५५।

एक रचना 'जम्बूस्वामी सत्कवस्तु' का परिचय, डॉ० हरीशकर शर्मा, हरीश ने महावीर जयन्ती स्मारिका, अप्रैल, १९६३ मे दिया है।[1] उन्होने इसकी हस्तलिखित प्रति जैसलमेर की एक स्वाध्यायपुस्तिका मे अकित बतलायी है। वह स्वाध्यायपुस्तिका स० १४३७ की लिखी हुई है। इस आधार पर डॉ० हरीश का अनुमान है कि यह १३वी शताब्दी की होगी। भाषा १३वी शताब्दी की होने पर भी, किसी जैन कवि के विषय मे यह सुनिश्चित रूप नही कहा जा सकता कि वह रचना उसी शताब्दी मे रची गई थी।

सत्कवस्तु 'वस्तु' छन्द का एक विशेष भेद था। उसके २१ पद्यो मे इसका निर्माण हुआ है। इसमे जैनो के अन्तिम केवली जम्बूस्वामी का चरित्र निबद्ध है। इसके पूर्व जम्बूस्वामी के जीवन को आधार बनाकर सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश मे अनेकानेक काव्यो की रचना हो चुकी थी। इसे वह परम्परा प्राप्त हुई। भाषागत सौन्दर्य इसका अपना है। इसके अतिरिक्त दर्शन, कथा और काव्यत्त्व का अच्छा समन्वय हुआ है। कवि ने एक नारी के नख-शिख का चित्र खीचा है—

कुडिल कुतल, कुडिल कुतल चदसमवयणि,
खामोयरि हसगइ कमल नयणि उन्नय पयोहरि,
सुपमाण वर रूवघर नागसेणि जपइ मणोहरि
सरिसगुण सपत नहि अत्थि न महिला सार।
सिद्धहि कारणि कत तुह खिज्जिम बारहवार,
सुणिउ सुन्दर सुणिउ सुन्दर हास विलास ॥१२॥

इसी प्रकार 'मृगापुत्तकम्' नाम की एक कृति का परिचय भी डॉ० हरीश ने दिया है। उन्होने लिखा है, "१३वी शताब्दी के उत्तरार्ध में, हिन्दी की इधर एक सुन्दर-सी रचना 'मृगापुत्तकम्' उपलब्ध हुई है। यद्यपि विषय की दृष्टि से इसमे अत्यधिक नवीनता नही उपलब्ध होती, परन्तु फिर भी, भाषा और वर्णन-क्रम की दृष्टि से रचना का पर्याप्त महत्त्व परिलक्षित होता है। प्रस्तुत रचना का लेखक अज्ञात है। मूल प्रति अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर मे सुरक्षित है।" इसकी भाषा १३वी शताब्दी की है, इसमे कोई सन्देह नही; किन्तु

---

१. महावीर जयन्ती स्मारिका, प० चैनसुखदास न्यायतीर्थ-सम्पादित, राजस्थान जैन सभा, जयपुर, अप्रैल १९६३, पृ० २३–२५।

उपर्युक्त बात यहाँ भी कही जा सकती है, इसके अतिरिक्त, पुराने कथानक मे नवीनता खोजना औचित्य नही है ।

मृगावती और उसके पुत्र की कथा प्राचीन है । उसी को आधार बनाकर कवि ने सुन्दर भाव अभिव्यक्त किये है । विषय-सुखो मे डूबे पुत्र को अकस्मात् पूर्वभवो का स्मरण होता है और उसके जीवन की दिशा बदल जाती है । वह सोचता है कि भोग विष-तुल्य है । स्त्री-यौवन और लावण्य चपल हैं, किसी का साथ नही देते । धर्म को छोडकर और कोई गति नही है—

भोग भोगविय विस सरिस मम अइघरण
नरय गइ तिरिय गइ वेयरण कारण ।
जोइ जस रेसि जगि जीवु सवि दुह सहइ
तजह देह नह भरिणय खरण खरण इकरहइ ।
चपल तणु चपल घणु चपल जुव्वरण भरो
चपल लाइन्न जीवीउ चचल तरो ।
घनु घरण सयणु सहु रहइ पूठि घरे
जीव एक्कलउ जाइ जम्मतरे ।
भुत्तवि सफलह जिम साहु मह सुन्दरो
विसयसुह नेम परिरणामु नह मरणहरो ।।८–१०।।

भाषा सरल और लयात्मक है । अनुप्रास की छटा और ललित गुरण द्रष्टव्य हैं । जीवन का अर्थ केवल भोग नही है, आध्यात्मिकता की ओर बढना ही उसका लक्ष्य है । निर्वेद इस काव्य का स्थायी भाव है । ससार की असारता पर अधिक बल दिया है । कुल ४२ छद हैं । हिन्दी के आदिकाल की कृतियो मे इसकी गरणना होनी ही चाहिए ।

अनेकान्त, वर्ष १३, किरण ४ मे, मैंने कविवर रइधू का 'सोऽहं' गीत देखा था । मेरी दृष्टि मे वह प्राचीन हिन्दी की कृति है । डॉ० राजाराम जैन ने रइधू के 'जीवन और कृतित्व' पर एक शोध प्रबन्ध लिखा है । उसमे उन्होने रइधू का रचना-काल वि० स० १४६८–१५३० माना है । इस दृष्टि से वे १५वी-१६वी शताब्दी के कवि थे । डॉ० राजारामजी ने उन्हे अपभ्रश का अन्तिम महान् कवि सिद्ध किया है । रइधू ने लगभग २३ कृतियो की रचना की । सभी अपभ्रश भाषा मे निवद्ध थी । मेरी दृष्टि मे १७वी शती तक अपभ्रश मे कुछ-न-कुछ लिखा जाता रहा । अपभ्रश-बहुल पुरानी हिन्दी भी साथ ही चली ।

रइधू ने सोऽहं' मे अपना परिचय देते हुए लिखा है कि–मैं न पुण्य हूँ, न पाप हूँ, न मान हूँ, न माया हूँ, मैं अलख निरञ्जन हूँ. सिद्ध हूँ, विसद्ध हूँ और परमानन्द हूँ। मैं न रूप हूँ. न स्पर्श, न गन्ध और न शब्द, न पुरुष हूँ, न नारी, न बालक हूँ, न बडा, न स्वामी हूँ, न दास, न धनी हूँ और न गरीब। जननी, जनक, पुत्र, मित्र और भार्या सहित सम्पूर्ण कुटुम्ब है, किन्तु कोई सहायता करने वाला दिखाई नही देता, सब कुछ मोह की विडम्बना है। मैं सम्पूर्ण सकल्प-विकल्पो से रहित, सहज रूप, परम अतीन्द्रिय, सुख-दुखो मे सम और सब विभावो से हीन हूँ। निश्चयनय से विवेचित अपना यह रूप, भाषा की लय मे बधा एक समा उपस्थित कर देता है। पाठक विभोर हुये बिना नही रहता। पूरा गीत इस प्रकार है—

"सोऽ सोऽहं सोऽह अण्णु न बीयउ कोई।
पापु न पुण्णु न माणु न माया अलख णिरजणु सोई।
सिद्धोऽह सुविसुद्धोह हो परमानन्द सहाउ।
देहा भिण्णइ णाणमओहं णिम्मलु सासय भाउ।
दंसण-णाणु चरित्त णिवासो फेडिय भव-भव पासो।
केवल णाण गुणेहिं अखडो, लोयालोयपयासो।
रूपु ण फासु ण गंधु ण सद्दो चेयण लक्खणु णिच्चो।
पुरिसु ण णारि ण बालु ण बूढ़उ जम्मु ण जासु ण मिच्चो।
काय वसंतु वि काय विहीणउ भुंजतो वि ण भुंजइ।
सामि ण किंकरु ईसु न रंको कम्मु वि एहु निओजइ।
जणणी जणणु जि पुत्तु जि मित्तू भामिणि सयल कुडबो।
कोइ न दीसइ तुज्झ सहाई एहुजि मोह विडंबो।
हुउ संकप्प - वियप्प - विवज्जउ सहज सरूप सलीणउ।
परम अतींदिय सम–सुख–मंदिरु सयल–विभाव–विहीणउ।
सिद्धह मज्झिजि कोइम अंतरु णिच्छयणय जिय जाणी।
ववहारे बहुभाउ मुणिज्जइ इम मणि झावहु वाणी।
चित्तणिरोहउ इ दियन तउ झावहि अतरि अप्पा।
रइधू अक्खइ कम्मदलेप्पिणु जिमि तुहु होहि परमप्पा।।"

अनेकान्त, वर्ष १३, किरण ४.

रइधू की भाति ही एक महात्मा आनन्दतिलक हुए। उन्होने 'आणदा' नाम की एक महत्त्वपूर्ण कृति की रचना की। इसकी हस्तलिखित प्रति आमेर

शास्त्र भण्डार, जयपुर मे मौजूद है। दूसरी प्रति, मैंने दिल्ली के जैन पचायती मन्दिर मे देखी है। अब तो शायद उसका प्रकाशन भी किसी पत्र-पत्रिका में हो गया है। आणदा मे ४४ पद्य हैं। भाषा अपभ्र श-बहुल होते हुए भी बोलचाल के शब्दो से गतिशील बनी है। निश्चित रूप से वह १४वी शताब्दी की रचना है और रामसिह की विचार-परम्परा का प्रतीक। आगे, कबीर आदि सत कवियो पर उसका प्रभाव देखा जा सकता है। मैंने ऐसा "जैन अपभ्र श का हिन्दी के निर्गुण काव्य पर प्रभाव' मे दिखाया भी है। यह एक सरस कृति है।

'थूलिभद्दफागु' आदिकालीन हिन्दी का गौरवपूर्ण काव्य है। जिनपद्मसूरि ने इसकी रचना वि० स० १४ वी शताब्दी के उत्तरार्ध मे की थी। इसमे, कोशा (वेश्या) के मादक सौन्दर्य के परिप्रेक्ष्य मे एक अडिग तपस्वी का चित्र है। वह भाषा की सहज तूलिका से और भी जीवन्त बना है। प्रत्येक पाठक किसी जाति और धर्म का हो, किसी देश और काल का हो, इसे पढकर विमुग्ध हो उठेगा, ऐसा मुझे विश्वास है। राजशेखर सूरि ने वि० स० १४०५ मे नेमिनाथ फागु की रचना की थी। यह भी एक सामर्थ्यवान रचना है। मैंने इसका विवेचन 'हिन्दी जैन भक्तिकाव्य और कवि' मे किया है। इसकी प्रशसा मे डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन द्दष्टव्य है, "जिस प्रकार राधासुधानिधि मे राधा की शोभा के वर्णन मे कवित्व है और वह कवित्त्व उपास्यबुद्धि से चालित है, उसी प्रकार राजलदेवी की शोभा मे कवि व है और वह उपास्यबुद्धि से चालित भी है। कौन कह सकता है कि इस शोभा वर्णन मे केवल धार्मिक भावना होने के कारण कवित्त्व नही है।"[1]

इस प्रकार प० रामचन्द्र शुक्ल के तथाकथित 'वीरगाथा काल' में वीर ही नही समरूप से शृ गार और शान्त रस भी प्रधान थे। अत केवल 'वीरगाथा काल' नितान्त अनुपयुक्त नाम है। इस काल की भाषा, यद्यपि अपभ्रश-बहुल थी, किन्तु तत्कालीन बोलियो के सम्मिश्रण से एक ऐसी सरस भाषा का जन्म हुआ, जिसमे विविध चरिउ, रास और फागु तथा मुक्तक गीतो की रचना सम्भव हो सकी। उनको केवल नोटिस-मात्र कहकर नही छोडा जा सकता।

इसी प्रकार अपभ्रश के साहित्य निर्माण मे भी जैन आचार्यों का महत्त्व-पूर्ण योग रहा है। इससे कोई इन्कार नही कर सकता। डॉ० माताप्रसाद गुप्त

---

१ हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पटना, पृ० १२–१३।

का कथन है, "अपभ्र श के साहित्य की श्रीवृद्धि मे जैन कृतिकारो का योग असाधारण है। जब अपभ्र श बोलचाल की भापा नही रह गई थी और उसका स्थान आधुनिक आर्यभाषाओ ने ले लिया था, उसके वाद भी सात आठ शताब्दियो तक जैन कृतिकारो ने अपभ्र श की जो सेवा की, वह भारतीय साहित्य के इतिहास मे ध्यान देने की वस्तु है[1]।" जैनेतर कवियो ने भी अपभ्र श मे लिखा, किन्तु वह उपलब्ध कम ही होता है। वौद्ध सिद्धो की रचनाएँ तो प्राप्त भी हैं। इसके अतिरिक्त, 'प्राकृत पेंगल' मे और अन्य जैन प्रवन्धो मे अनेक ऐसे उद्धरण है, जो जैनेतर कवियो ने लिखे थे। अपभ्रश का समृद्ध साहित्य था। वह प्राकृत और आधुनिक आर्यभापाओ के मध्य, शताब्दियो तक प्रतिष्ठित वना रहा–पहले बोलचाल के रूप मे, फिर साहित्यिक पद पर। इधर, जैन ग्रन्थ-भण्डारो मे पर्याप्त अपभ्रश साहित्य मिला है और मिल रहा है। उसके सम्पादित और प्रकाशित होने पर विद्वानो के अनेक भ्रमो का उन्मूलन होगा, ऐसी सम्भावना है।

प्राकृत व्याकरण लिखते समय पिशेल के पास अपभ्रश की अत्यल्प सामग्री थी। उन्होने अपने प्राकृत व्याकरण के परिशिष्ट रूप मे उपलब्ध अपभ्र श सामग्री को 'मातेरियाल्यन केन्त्रिस, त्सूर अपभ्रश' के नाम से दिया। इसमे उन्होने केवल–कालिदास के विक्रमोर्वशीय के कुछ अपभ्रश पद्य, चड के प्राकृत व्याकरण मे आया एक अपभ्र श पद्य, हेमचन्द्र शब्दानुशासन मे उदाहृत अपभ्र श के दोहे तथा दशरूपक, ध्वन्यालोक और सरस्वतीकण्ठाभरण मे समाहृत अपभ्रश पद्यो को ही आधार वना पाया था। इससे अधिक अपभ्रश साहित्य, उस समय तक विदित ही नही हो सका था। यह कहा जाता था कि अपभ्र श साहित्य लुप्त हो गया है। पिशेल ने इतनी अल्प सामग्री के आधार पर, अपभ्रश के सम्बन्ध मे जो कुछ लिखा, वह आज भी अनुपम है।

जर्मन के प्रसिद्ध विद्वान डॉ० हरमन याकोबी, सन् १९१३–१४ मे भारतवर्ष मे आये। उन्हे जैन शास्त्रो के अध्ययन मे ख्याति मिल चुकी थी। उन्होने अहमदाबाद के जैन ग्रन्थ भण्डार को टटोला। उन्हे एक जैन साधु के पास धनपाल धक्कड की भविसयत्तकहा प्राप्त हुई। एक अन्य जैन साधु के पास उन्हे अपभ्रश का 'नेमिनाथ चरित' भी मिला। वे इन दोनो ग्रन्थो को जर्मन

---

१. प्रद्युम्न चरित, प० चैनसुखदास न्यायतीर्थ सम्पादित, जैन साहित्य शोध सस्थान, जयपुर, १९६०, प्राक्कथन, डॉ० माताप्रसाद गुप्त लिखित, पृ० ४।

ले गये। सन् १६१८ मे म्यूनिक की रायल एकेडेमिक सोसाइटी से 'भविसयत्त कहा' का सुसम्पादित सस्करण प्रकाशित हुआ। सन् १६२१ मे नेमिनाथ चरित की एक अन्त कथा—'सुदसण चरिउ' भी वहाँ से ही प्रकाशित हुई।

बडौदा के महाराज सर सयाजीराव गायकवाड प्राचीन ग्रंथो की शोध-खोज मे अधिक रुचि लेते थे। उनकी आज्ञा से श्री चिमनलाल डाह्याभाई दलाल ने पाटण के जैन ग्रन्थ भण्डार का परीक्षण किया और अपभ्र श के कतिपय महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो को खोज निकाला। उनमे सन्देशरासक, चच्चरी, भावनासार, परमात्मप्रकाश, भविसयत्तकहा और 'पउमचरिउ' जैसे प्रसिद्ध ग्रथ भी थे। उन्होने स्वय भविसयत्तकहा का प्रामाणिक सम्पादन प्रारम्भ किया, किन्तु आकस्मिक मृत्यु के कारण डा० गुणे ने इस कार्य को सम्पन्न किया।

भण्डारकर ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट की स्थापना सन् १६१८ मे हुई। डकन कॉलिज मे सुरक्षित प्रतियाँ यहाँ लाई गई। मुनि जिनविजयजी ने जैन ग्रथो का परीक्षण किया। उन्हे महत्वपूर्ण अपभ्र श ग्रन्थो का पता लगा। पुष्पदन्त का महापुराण उन्ही की खोज है। उन्हे स्वयम्भू के 'पउमचरिउ' और 'हरिवशपुराण' भी प्राप्त हुये। उन्होने 'सिघी जैन ग्रथमाला' के अन्तर्गत अनेक अपभ्रश ग्रन्थो का सम्पादन किया और प्रकाशन करवाया। उनका समूचा कार्य ऊँची विद्वत्ता का प्रतीक है। वे एक साधक हैं और अब भी साधना मे दत्तचित्त हैं।

डॉ० हीरालाल जैन ने बरार के कारजा-स्थित जैन भण्डारो की शोध खोज की और जोइदु, रामसिह तथा कनकामर के अपभ्रश साहित्य को प्रकाश मे लाये। स्वय सम्पादन किया और खोजपूर्ण भूमिकाए लिखी। अभी, उनके द्वारा सम्पादित 'मयणपराजयचरिउ', भारतीय ज्ञानपीठ, काशी से प्रकाशित हुआ है। डॉ० हीरालालजी ने शोध पत्रिकाओ मे अपभ्रश भाषा और साहित्य से सम्बन्धित अनेक शोध निवन्ध लिखे, जो आज भी अनुसन्धित्सुओ के मार्गदर्शक हैं। इसी समय के ख्याति-प्राप्त विद्वान् प० नाथूराम प्रेमी ने अपने त्रैमासिक पत्र 'जैन साहित्य सशोधक' मे 'पुष्पदन्त और उनका महापुराण'—जैसे एकाधिक शोध निबन्ध लिखे। उनका सकलन, उन्होने 'जैन साहित्य का इतिहास' मे किया है।

अपभ्रश साहित्य की शोध-खोज के सन्दर्भ मे डॉ० एन० उपाध्ये और डॉ० पी० एल० वैद्य ने भी साधना की है। उन्होंने क्रमश जोइदु के परमात्म

प्रकाश योगसार का तथा पुष्पदन्त के महापुराण का आदर्श सम्पादन किया। उनकी भूमिकाएँ तो शोध निबन्ध ही है। उतना परिश्रम आज के विद्वान् नही कर पाते। डॉ० उपाध्ये को मैने सतत कार्यरत देखा है।

बौद्धो के अपभ्रश साहित्य को प्रकाशित करने का श्रेय म० म० हरप्रसाद शास्त्री को है। उन्होने 'बौद्धगान और दूहा' के द्वारा, बौद्धो को अपभ्रश साहित्य का सर्वप्रथम परिचय कराया। डॉ० शहीदुल्ला और डॉ० बागची ने भी बौद्ध अपभ्रंश साहित्य के सम्पादन में रुचि दिखाई है।

इधर, राजस्थान के ग्रन्थ भण्डारो की तालिकाएँ डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल ने तैयार की है। उनका प्रकाशन भी महावीर भवन, जयपुर से हो गया है। उनमे अनेकानेक अपभ्रंश ग्रन्थो की सूचना है। प० परमानन्द शास्त्री ने 'जैन ग्रथ प्रशस्ति सग्रह' भाग २ मे अपभ्रश के प्रसिद्ध ग्रथो की प्रशस्तियाँ और कवियो का परिचय दिया है। ग्रन्थ ठोस और महत्वपूर्ण है। नागौर के ग्रन्थ भण्डार को खोजने की महती आवश्यकता है। एक बार उसके भट्टारक जी से आगरा मे भेट हुई थी। उनके अनुसार इस भण्डार में अपभ्रश की विविध कृतियाँ है। मैं डॉ० भोलाशकर व्यास के इस कथन से पूर्ण सहमत हूँ कि "अपभ्र श की असख्य पुस्तके आज भी जैन भण्डारो मे भरी पडी हैं।"[1]

जैन अपभ्र श साहित्य को प्रबन्ध काव्य, खण्ड काव्य, रूपक, रासा, मुक्तक, चर्चरी आदि कई भागो मे बाटा जा सकता है। उसके पूर्ण परिचय के लिए एक पृथक् प्रामाणिक ग्रन्थ की आवश्यकता है। यह सच है कि कोई स्वतन्त्र नाटक अभी तक उपलब्ध नही हुआ है। सस्कृत नाटको मे अपभ्रश गद्य-पद्य के उद्धरण बिखरे मिल जाते है। जैन अपभ्र श का कोई स्वतन्त्र गद्य-ग्रथ भी प्राप्त नही हुआ है। कुवलयमालाकहा (उद्योतन सूरि-रचित) मे यत्र–तत्र अपभ्रश गद्य मिल जाता है। इसके दो शिलालेख भी अपभ्रश गद्य मे हैं।[2]

विद्वान् अपभ्र श साहित्य का प्रारम्भ वि० स० ६०० से मानते हैं, जो मोटे तौर पर अबाध गति से १२०० तक चलता रहा। यद्यपि वि० स० १००० से प्राचीन हिन्दी युग प्रारम्भ हो गया था, किन्तु वह रही अपभ्रश-बहुल ही।

---

१. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, प्र० भा०, पृ० ३३८।

२ रायबहादुर हीरालाल का इन्सक्रप्शन, ना० प्र० प०, भाग ६, अङ्क ४, पृ० ५, दूसरा लेख बम्बई म्युज़ियम मे सुरक्षित है।

यह एक स्पष्ट ढलाव था, जो बोलियो के सम्मिश्रण से, प्रान्तीय भाषाओ का जन्मदाता बना। राजस्थानी, गुजराती, बगला, हिन्दी आदि भापाओ का इसी भाति जन्म हुआ। इनके साथ-साथ अपभ्रश मे भी रचनाएँ होती रही, किन्तु उनको बहुत अधिक नही कह सकते। यह कथन भ्रामक है कि अपभ्र श जैनो की धार्मिक भाषा हो गई थी,[1] इसी कारण वे आधुनिक आर्यभाषाओ के जन्म के बाद भी उसमे लिखते रहे। यहाँ इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि आर्यभाषाओ का प्रारम्भिक साहित्य अधिकाधिक रूप मे जैन कवियो और आचार्यों के द्वारा रचा गया। चाहे हिन्दी हो, गुजराती या राजस्थानी, उसका प्राचीन साहित्य जैन साहित्य है। यह एक ऐसा तथ्य है, जिससे इन्कार नही किया जा सकता। यद्यपि अपभ्रश साहित्य भी रचा गया, किन्तु अपेक्षाकृत कम। इसका एक कारण यह भी था कि प्राचीन हिन्दी और अपभ्र श मे कोई विशेष भेद नही था। एक ही कवि की, यदि दो कृतियो मे अपभ्रश का अधिक पुट होता था, तो चार मे तत्कालीन बोली का अधिक सम्मिश्रण हो जाता था और वह हिन्दी या अन्य प्रातीय भाषा का रूप ले लेती थी। कवि विद्यापति की 'कीर्तिलता' को अपभ्रश मे गिना जा सकता है तो पदावली को हिन्दी मे।

अपभ्रश लोकभाषा थी। उसमे आगे चल कर पर्याप्त साहित्य रचना हुई। 'कुवलयमाला कहा' के रचयिता उद्योतनसूरि ने उसकी प्रशसा मे लिखा, "ता किं अवहस होहइ ? हूँ त पि णो जेण सक्कअ–पाय उभय सुद्धासुद्ध पयसमतरग रगतवग्गिर णव पाउस जलयपवाह पूर पव्वालिय गिरिणइ सरिससम विसम पणयकुवियपियपणइणी समुल्लावसरिस मणोहर ॥"[2] इसका अर्थ है, "अपभ्रश क्या होती है ? जिसमे दोनो–सस्कृत और प्राकृत के शुद्धाशुद्ध रूप पदो का मिश्रित रूप पाया जाता है, जो नववर्षाकालीन मेघप्रवाह के पूर द्वारा प्लावित, गिरि-नदी के वेग समान, सम और विषम होता हुआ भी, प्रणयकोप से युक्त कामिनी के वार्त्तालाप की तरह मनोहर है।" स्वयम्भू ने भी 'पउम चरिउ' मे लिखा है, "सक्कय-पायय-पुलिणा लकिय देसी भासा उभय तडुज्जल। कवि दुक्कर-घण-सद्द-सिलायल ॥"[3] अर्थात् अपभ्रश एक नदी के समान है, जिसके सस्कृत और प्राकृत दो तट हैं, वह दोनो का स्पर्श करती हुई घनपद-सघटना की चट्टानो

---

१ प्रद्युम्न चरित्र, प्राक्कथन, डॉ० माताप्रसाद गुप्त लिखित, पृ० ४।

२ देखिए 'कुवलयमाला काहा'।

३. देखिए स्वयम्भू का 'पउमचरिउ'।

से टकरा कर वहती है । आगे चल कर काव्यशास्त्र के आचार्यो-रुद्रट, राजशेखर, पुरुषोत्तम, नमि साधु, हेमचन्द्र आदि ने भी अपभ्रश को मान्यता दी ।

अपभ्र श की परम्परा हिन्दी को मिली । केवल छन्द और अभिव्यञ्जना के रूप मे ही नही, अपितु विपय-गत प्रवृत्तियो के रूप मे भी । इस ग्रन्थ में निवद्ध मेरा निवन्ध 'जैन अपभ्र श का हिन्दी के निर्गु ण भक्ति काव्य पर प्रभाव' है । इसमे मैंने लिखा है कि कवीर आदि निर्गु निए सन्तो ने जो कुछ कहा, ठीक वैसा ही, कही-कही हू-वहू जोइ दु के परमात्मप्रकाश-योगसार, देवसेन के सावयधम्मदोहा, मुनि रामसिंह के पाहुडदोहा, मुनि महचन्द के दोहापाहुड और आनन्दतिलक के 'आणदा' आदि दूहा साहित्य मे वहुत पहले ही लिखा जा चुका था । यह साहित्य स्पष्ट रूप से दो भागो मे वाटा जा सकता है— एक तो वह, जिसमे वीर-शृ गार प्रमुख था और एक वह, जो अध्यात्म-प्रधान था । मैंने दूसरे को लिया है । डॉ० हीरालाल जैन और डॉ० ए० एन० उपाध्ये ने इसको रहस्य-वादी भी कहा है । डॉ० भोलाशकर व्यास का अभिमत है, "योगीन्द्र तथा रामसिंह की रचनाओ को रहस्यवाद कहने के पहले हमे रहस्यवाद के अर्थ को परिवर्तित करना होगा । अच्छा हो हम उन्हे अध्यात्मवादी या अध्यात्म-परक काव्य ही कहे ।"[1] मैं नही जानता कि डॉ० व्यास की रहस्यवाद की परिभाषा क्या है ? वह उन्होने दी नही । कवीर के रहस्यवाद को विशेपता थी-समरसी-भाव । आत्मा और परमात्मा के तादात्म्य को समरस कहते हैं । यह वात अपभ्र श के दूहाकाव्य मे पहले से है । यदि ब्रह्म की भावात्मक अभिव्यक्ति रहस्यवाद है तो वह जैन काव्यो मे अवश्य ही उपलब्ध होती है । उसे यदि कोई केवल अध्या-त्मवाद कहे, तो भी मुझे आपत्ति नही है । इस निवन्ध से मेरा तात्पर्य इतना ही है कि निर्गु णकाव्यधारा के कवीर आदि सन्त कवियो मे जो प्रवृत्तियाँ थी, वे जैन अपभ्रश काव्य मे पहले से ही प्राप्त होती है ।

कबीर को नाथ सम्प्रदाय की जो सीधी परम्परा मिली थी, उसमे जैनो के दो प्राचीन सम्प्रदाय–'पारस' और 'नेमि' अन्तर्भु क्त हुए थे, ऐसा डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'नाथ सम्प्रदाय' नाम के ग्रन्थ मे लिखा है । किसी समय नेमि सम्प्रदाय सौराष्ट्र–गिरिनार की तरफ फैला हुआ था । उस पर एक अनुसन्धित्सु काम कर रहा है । जहाँ तक 'पारस' सम्प्रदाय का सम्वन्ध है मैं कतिपय प्राचीन ग्रन्थो के आधार पर इतना कह सकता हूँ कि कुछ पार्श्वापत्यीय साधु

---

१ हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास, प्र० भा०, काशी, पृ० ३४७ ।

भगवान महावीर के पचयाम धर्म मे दीक्षित नही हुए। क्यो ? इसका उत्तर देते हुए श्री भगवानदास झावेरी ने अपने ग्रन्थ 'comparative and critical study of Mantra shastra' मे लिखा है कि उन साधुओ ने अपने जीवन को जो आसान मोड दे लिया था, जो मनोनीत ढग अपना लिया था, जो स्वतन्त्रता सहेज ली थी, उसे त्याग न सके। वे धार्मिक आवरण मे प्रच्छन्न साधु, 'निमित्तो' और 'विद्याओ' की जानकारी के बल पर जनता मे मान्यता प्राप्त करते रहे। वे लम्बा झगूला पहनते और हाथ मे भिक्षा-पात्र लिये रहते थे।[1] मेरी दृष्टि में इन साधुओ ने तीर्थंकर पार्श्वनाथ के चातुर्याम के एक मजबूत याम 'अपरिग्रह' को ठीक नही समझा। उसमें ब्रह्मचर्य शामिल था। उन्होने उसको महत्त्व नही दिया। उसका मुक्ति से कोई सम्बन्ध नही माना। जैनधर्म के मूल सिद्धान्त को विस्मरण कर, केवल मन्त्र-जन्त्र को सहेजे वे अस्तित्त्व-हीन से रह गये। फिर, ऐसे अनेकानेक लघु सम्प्रदायो ने मिल कर नाथ सम्प्रदाय को जन्म दिया।

कुछ विद्वानो का अनुमान है कि 'नाथ सम्प्रदाय' का 'नाथ' नाम जैनो के चौबीस तीर्थंकरो के नाम के अन्तिम पद से सम्बन्ध रखता है। आश्चर्यजनक रूप से प्रत्येक तीर्थंकर के नाम का अन्तिम पद 'नाथ' पर ही समाप्त होता है, जैसे ऋषभनाथ, अजितनाथ, सम्भवनाथ आदि। यदि यह मान भी लें तो भी नाथो मे अश्लील प्रतीको वाली बात बौद्ध सिद्ध साधुओ की देन है, ऐसा मैं समझ पाता हूँ। किन्तु, उन्हे भी कहाँ से मिली ? एक प्रश्न सहज ही उठता है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन है, "पूरब मे बुद्ध के पहले से ही कई अनार्य जातियाँ–किरात, यक्ष, गन्धर्व आदि रहती थी, जो अत्यधिक विलासी थी। ये जातियाँ कामदेव, वरुण और वृक्षो की उपासना करती थी। इन्ही के एक देवता वज्रपाणि थे। यही यक्ष-परम्परा भारतीय सस्कृति को प्रभावित कर एक ओर घुस पडी, दूसरी ओर उसने बौद्ध धर्म को प्रभावित किया।"[2] डा० द्विवेदी ने ही 'नाथ सम्प्रदाय' मे लिखा है, व्रजपाणि बोधिसत्व मान लिये गये। आगे जाकर इनके विलासमय जीवन, मदिरापान आदि ने बौद्ध धर्म को जन्म दिया, जिसमे मदिरापान और स्त्री–सग आवश्यक बन गया।"[3] इसी सन्दर्भ मे डॉ० भोलाशकर व्यास का कथन है, बौद्ध तान्त्रिकों से होती हुई यह परम्परा शैव

---

१ 'Comparative and Critical study of Mantra Shastra', भगवानदास झावेरी, अहमदावाद, पृ० १५२।

२ हिन्दी साहित्य की भूमिका, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० २२८–२३३।

३ नाथ सम्प्रदाय, डॉ० द्विवेदी, पृ० ८२–८३।

और शाक्त साधना के पचमकार का रूप पल्लवित करने मे समर्थ हुई । ईसा की सातवी और आठवी शती मे बिहार-बगाल बौद्ध तान्त्रिको के केन्द्र थे । एक ओर इस तान्त्रिक साधना का प्रभाव बौद्ध सतो की रचनाओ मे पाया जाता है, जहाँ उन्होने अपनी रहस्यात्मक मान्यताओ को स्त्री-सग सम्बन्धी प्रतीको से व्यक्त किया है, दूसरी ओर विद्वानो ने इस तरह की प्रतीक-रचना मे यह भी कारण ढूँढा है कि वे ब्राह्मण धर्मानुयायी पण्डितो को चिढाने के लिए ऐसी वस्तुओ को विहित घोषित करते है, जिन्हे ब्राह्मण धर्म निषिद्ध मानता था ।"[1]

कबीर के प्रतीको मे यह अश्लीलता नाम-मात्र को भी नही है । उनका मुख्य स्वर बाह्याडम्बरो के विरोध, जाति-पाति की निन्दा, सहज साधना और दिल मे बसे ब्रह्म से प्रेम मे रम गया था । यह बात जैन धर्म के मूल मे ही पाई जाती है—सिद्धान्त रूप से । सिद्ध सतो मे भी कर्माडम्बरो का विरोध है, ग्रन्थ-गत ज्ञान का उपहास है, किन्तु उनका स्वर ब्राह्मण-प्रतिक्रिया का परिणाम था, उनके मूल मे ऐसा न था ।

जैनो के मन्त्र-तन्त्र के सम्प्रदाय, जो भगवान पार्श्वनाथ को आधार बना कर पनप उठे थे, कितने ही विकृत हुये हो, किन्तु उनमे बौद्ध तान्त्रिको – जैसी अश्लीलता कभी नही आई । आचार्य सुकुमारसेन के 'विद्यानुशासन' और मल्लिषेण के 'भैरवपद्मावतीकल्प' तथा 'ज्वालामालिनीकल्प' – जैसे ग्रन्थो मे भी यह बात नही है । इसके साथ ही, इन सम्प्रदायो मे जैन तत्व किसी-न-किसी रूप मे बना रहा । उन्होने कर्मकाण्ड का खुला विरोध किया, अदृष्ट, अमूर्तिक, निरजन, आत्मब्रह्म को ही मुख्य माना और शरीर के सम्बन्ध मे उठी समूची मान्यताओ को धार्मिक मानने से इन्कार कर दिया । आगे चलकर 'नाथ सम्प्रदाय' के इसी तत्व ने हिन्दी के 'निर्गुनिए सन्तो' को प्रभावित किया ।

जैन सत योगीन्दु, रामसिह, देवसेन, लक्ष्मीचन्द, आनन्दतिलक आदि मे भी यही तत्व प्रबल था । डॉ० भोलाशकर व्यास ने एक स्थान पर लिखा है,"इन दोनो (योगीन्दु और रामसिह) पर बौद्ध तान्त्रिको तथा शाक्त योगियों का स्पष्ट प्रभाव है ।"[2] इसी सन्दर्भ मे उन्होने एक दूसरे स्थान पर लिखा, "यह दूसरी बात है कि जैन कवियो के इन दोहो मे बौद्धो या नाथ सिद्धो जैसा विध्वसात्मक

---

१ हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, प्र० भा०, काशी, पृ० ३४९-५० ।

२ देखिए वही, पृ० ३४८ ।

रूप नही पाया जाता।"[1] मैने जहाँ तक उन्हे पढा और समझा है, उनमे विध्व-सात्मकता नाम-मात्र को भी नही है। उन्होने अपने विचारो को प्रस्तुत-भर किया है, कण्ह या सरह की तरह किसी को डाटा-डपटा या फटकारा नही है। केवल ग्रन्थ-ज्ञान मोक्ष नहीं दिला सकता, उसके लिए 'ॐ' का उच्चारण आवश्यक है, इसको प्रस्तुत करते हुए रामसिह ने लिखा—

बहुवह पढियइ मूढ पर तालू सुक्कइ जेण।
एक्कु जि अक्खरु पढहु सिवपुरि गम्मइ जेण॥

पाहुड दोहा—९७

इसका अर्थ है—"अरे मूढ! तूने वहुत पढा, जिससे तेरा तालू सूख गया। अरे! तू उस अक्षर को क्यो नही पढता, जिसके पढने से जीव मोक्ष प्राप्त कर लेता है।" यह किसी को फटकारना नही, अपितु अपने को ही समझाना है।

जहाँ भक्ति है, वहाँ शान्त-रस अनिवार्य है, दोनो मे अविनाभावी सम्वन्ध है। अजैन भक्ति-परक काव्यो में भी शान्त-रस ही प्रधान माना जाता है। जैन काव्य तो प्राय अध्यात्म-मूला भक्ति के निदर्शन ही हैं। अत उनमे शान्त-रस की जैसी रसधार देखने को मिलती है, अन्यत्र नही। जैनाचार्यों ने शान्त को रसो का नायक माना है। इसका अर्थ यह नही है कि उन्होने और रसो को अहमियत नही दी। वीर, शृगार, रौद्र आदि रस भी वहाँ यथाप्रसग स्वाभाविक रूप से आये है, किन्तु प्रमुखता शान्त रस को ही है। वह उनके विषय के अनुकूल था। जहाँ अनन्त ज्ञान और दर्शन रूप आत्मा जीवन का लक्ष्य होगी, वहाँ शान्त ही रस-नायक होगा। मैने अपने निवन्ध 'मध्यकालीन हिन्दी काव्य मे शान्ता भक्ति' शीर्षक के अन्तर्गत, मध्ययुगीन हिन्दी के जैन भक्ति-परक काव्यो को आधार बनाकर भक्ति और शान्तरस का सम्वन्ध दिखाने का प्रयास किया है। पाठक उसका मूल्याकन करेंगे।

बनारसीदास मध्यकालीन हिन्दी काव्य के सामर्थ्यवान कवि थे। उन पर डॉ० रवीन्द्रकुमार जैन ने एक शोध-प्रबन्ध लिखा है। अब यह पुस्तकाकार रूप मे भारतीय ज्ञानपीठ, काशी से प्रकाशित हो गया है। किन्तु उसमे मुझे कही बनारसीदास की भक्ति-विवेचना प्राप्त नही हुई। बनारसीदास एक भक्त कवि

---

१ वही, पृ० ३४८।

थे, ऐसा मैं मानता आया हूँ। भले ही फिर वह भक्ति आध्यात्ममूलक हो, किन्तु थी भक्ति। 'अध्यातमियाँ सम्प्रदाय' का सदस्य होने के कारण बनारसीदास ने आचार्य कुन्दकुन्द के 'समयसार' और उस पर लिखे गये अमृतचन्द्राचार्य के कलशो तथा राजमल्ल की बालबोधिनी टीका का सूक्ष्म अध्ययन किया था। ये सब दर्शन के ग्रन्थ हैं, किन्तु बनारसीदास को जन्म से ही एक भावुक कवि का हृदय प्राप्त हुआ था। अल्पवय मे ही एक सहस्र-पद्य प्रमाण की रचना इसका प्रमाण है। व्यापार मे असफल होकर मधुमालती की कथा सुनाने वाला अवश्य ही सहृदय था। भक्ति और भाव का गहरा सम्बन्ध है। बनारसीदास दर्शन पढकर भी दार्शनिक न बन सके। उन्होने समूचे आध्यात्मिक अध्ययन को भक्ति और भाव के साचे मे ढाल दिया। वे प्रथमत भक्त थे, फिर और कुछ। अध्यात्म की आधार भूमि ने उनको अध्यात्ममूला बना दिया है। उसे हम ज्ञानमूला भी कह सकते हैं। मैंने 'कवि बनारसीदास की भक्ति साधना' मे, यह सब कुछ विशद रूप से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

'जैन समाधि और समाधिमरण' मे जैन-बौद्ध और हिन्दू ग्रन्थो मे वर्णित समाधियो का तुलनात्मक विवेचन किया गया है। समाधिमरण और सल्लेखना जैनो का अपना एक विशेष तत्त्व है। इस पर कुछ अनजानकार लोग दोषारोपण करते रहते हैं कि वह आत्महत्या है। मैने अपने निबन्ध मे प्रमाण, तर्क और आगम के आधार पर इसका निराकरण किया है। अनेकानेक उद्धरण भी प्रस्तुत किये है। जिज्ञासु अवश्य ही समझ सकेंगे, ऐसा मुझे विश्वास है।

'भगवान् महावीर और उनके समकालीन जैन साधक' निबन्ध को और अधिक विस्तृत करना चाहता था, किन्तु समयाभाव के कारण ऐसा न कर सका। फिर भी जितना है, उससे तत्कालीन युग का परिचय तो अवश्य ही मिल जाता है। सच यह है कि महावीर के पचायम मे बहुत से पार्श्वापत्यिक सम्मि-लित हो गये और कुछ नही भी हुये। वे भी अपने को जैन साधक मानते रहे। इनका पूरा विवरण एक ग्रथ की अपेक्षा रखता है।

अन्त मे, इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि 'जैन शोध और समीक्षा' के रूप मे मेरा यह प्रयत्न यदि पाठको को भाया और रुचा तो मै उसे कृतकृत्य समझूगा। परम पूज्य १०८ मुनिश्री विद्यानन्दजी ने इस ग्रथ के सभी शोध निबन्धो को आद्योपान्त देखा है। उन्हे रुचिकर हुए और उन्होने हिन्दी भाषा-

भाषियो के लिए इस ग्रन्थ की उपादेयता स्वीकार की है, इसे मै अपना पुण्य कर्म मानता हूँ। उनके पावन चरणो मे आभार तो नही श्रद्धा समर्पित करता हूँ। दि० जैन अ० क्षेत्र श्रीमहावीरजी के मत्री श्री ज्ञानचन्दजी खिन्दूका तथा क्षेत्र की धर्म प्रचार एव प्रकाशन समिति के सयोजक श्री केशरलालजी अजमेरा (स्वर्गीय) ने इसके प्रकाशन मे जो तत्परता, जो सद्भाव दिखाया है, वह प्रत्येक प्रकाशक में नही मिलता, मै उनके प्रति अतीव आभारी हूँ। डॉ० कस्तूरचन्दजी कासलीवाल की देखभाल मे इस ग्रथ का प्रकाशन हुआ, वे मेरे मित्र हैं। उनके सहयोग के लिए क्या लिखू। वे अपने ही हैं।

दि० जैन कॉलिज, बडौत (मेरठ)
दिनाक ७ सितम्बर, १९६९

—डॉ० प्रेमसागर जैन

विषय-सूची

भगवान महावीर और उनके समकालीन जैन साधक

महावीर एक ऐतिहासिक पुरुष थे। उनका महात्मा गौतमबुद्ध से पृथकत्व प्रमाणित हो चुका है। कभी दोनो को एक ही समझ लिया गया था। यह भ्रम पाश्चात्य विद्वानो ने उत्पन्न किया था। निराकरण भी उन्ही ने किया। सबसे प्रथम जैकोबी और डा० ल्युमान ने जैन आगम सूत्रो के आधार पर सिद्ध किया कि महावीर बुद्ध से पृथक ही नही अपितु उनसे कुछ वर्ष बडे भी थे। डा० ल्युमान ने लिखा कि महावीर की तीर्थङ्कर सज्ञा वैसी ही निराली है, जैसी बुद्ध की तथागत।[1]

फिर भारतीय विद्वानो का प्रयास भी प्रारम्भ हुआ। डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने खारवेल का शिलालेख १६ वर्ष मे पढा। उसमे लिखा है, "वधमान से स यो वे (व) नाभि विजयो", अर्थात् बचपन मे खारवेल का सौन्दर्य महावीर जैसा था। खारवेल कलिङ्ग का राजा था और मगध से जिनमूर्ति जीतने के उपरान्त उसने यह शिलालेख उत्कीर्ण करवाया था। इसका समय ईसा से १७० वर्ष पूर्व माना जाता है। इससे भी पूर्व का एक और प्रमाण उपलब्ध हुआ है। वह है बडली (राजस्थान) से प्राप्त एक शिलालेख। उसमे लिखा है, "विराय् भगवत् ८४ चतुरासिति वस · · झाये सालिमालिनीयर निविठ

---

१ बुद्ध अने महावीर, पूना, पृ० १२।

मज्झिमिके ।" अर्थात् भगवान महावीर के लिए ८४ वे वर्ष मे मध्यमिका में सालिमालिनि । डा० जायसवाल ने इसका उत्कीर्ण काल ३७४ ई० पूर्व माना है ।[1] मथुरा के ककाली टीले की खुदाइयो मे अनेक ऐसे शिलापट्ट मिले हैं, जो ईस्वी पूर्व प्रथम शती के हैं । जहा तक मूर्तियो का सम्बन्ध है वह सबसे प्राचीन ५३ ई० पूर्व है, जो कनिष्क के राज्य काल मे रची गई थी । यह मथुरा की खुदाइयो मे प्राप्त हुई है । जैन स्तूप और मूर्तियाँ भगवान पार्श्वनाथ के समय मे ही वनने लगी थी ।[2] मोहनजोदडो की खुदाइयो से तो अव मूर्तिकला का इतिहास वहुत पीछे तक चला जाता है । मोहनजोदडो की मूर्तियो मे से एक पर डा० प्राणनाथ ने 'श्रीजिनाय नम ' पढा है ।

पुरातत्व के अतिरिक्त प्राचीन ग्रथ भी महावीर के पुनीत अस्तित्व को प्रमाणित करने मे सहायक हैं । ऋग्वेद और यजर्वेद मे महावीर का उल्लेख है । मज्झिमनिकाय, न्यायबिन्दु, अ गुत्तरनिकाय, सयुक्तनिकाय, और समागम सुत्त आदि वौद्ध ग्रन्थो मे महावीर की प्रशसा की गई है । षट्खण्डागम सूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र, सूत्रकृताग सूत्र, जयधवल और नन्दी सूत्र आदि प्राचीन जैन सूत्र ग्रथो मे महावीर की वन्दना मे अनेक पद्यो का निर्माण हुआ है । महावीर की सवसे प्राचीन स्तुति दूसरे अ ग सूत्रकृताग मे उपलब्ध है । इसके पश्चात् आचार्य समन्तभद्र की वीर स्तुति हृदयग्राही है । उसके वाद तो सस्कृत, अपभ्रश और हिन्दी मे रचा गया 'वीर' परक जैन साहित्य इतना अधिक है कि 'महावीर और उनकी भक्ति' लेकर एक शोध प्रवन्ध ही लिखा जा सकता है । महावीर केवल जैन समाज के ही नही, अपितु समूची भारतीय चेतना के प्रेरणा सूत्र रहे हैं । भारतीय सस्कृति की पावनता महावीर की देन है ।

जैन आगम सूत्रो मे महावीर का जीवन चरित्र वहुत कुछ सुरक्षित है । उनमे भी पचमाग भगवती या 'विवाह प्रज्ञप्ति' अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं । उसमे भगवान् महावीर के जीवन से सम्वन्धित प्रचुर सामग्री सकलित है । विशेपता है कि गोशालक का वर्णन करते हुए भगवान ने अपने मु ह से अपनी आत्म कथा कही है ।[3] इसी अग मे भगवान के समकालीन अनेक व्यक्तियो का वर्णन है ।

---

१ जर्नल आफ दी विहार एण्ड ओडीसा रिसर्च सोसाइटी, भाग १६ पृ० १६७

२ मदनमोहन नागर, मथुरा का जैन स्तूप और मूर्तिया, प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ पृ० २८० ।

३. इसकी तुलना पव्वज्जा-सुत्त [सुत्तनिपात] मे वर्णित वुद्ध की आत्मकथा मे की जा सकती है ।

इसी भाँति पहले अ ग आचाराग मे भगवान के साधक जीवन का विशद विवेचन है। अभी तक इन अगो की खोज वीन कर महावीर के जीवन सूत्रो से कोई प्रामाणिक ग्रथ नही लिखा गया, कैसे आश्चर्य की बात है। अब एक ग्रन्थ विजयेन्द्रसूरि का 'तीर्थङ्कर महावीर' यशोधर्म मन्दिर, बम्बई से प्रकाशित हुआ है। यह ग्रथ का केवल प्रथम भाग है। अभी उसके अन्य भाग भी प्रकाशित होगे। विद्वान लेखक ने साधना की है और उसका यह परिणाम है। इसके पूर्व भी अनेक प्रयास हुए है, किन्तु वे नगण्य ही हैं।

जीवन चरित्र

महावीर के समय को लेकर कोई विवाद नही है। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो ही ग्रन्थो के अनुसार महावीर का जन्म ईस्वी पूर्व ५९८ मे और निर्वाण ईस्वी पूर्व ५२७ मे हुआ था। निर्वाण को लेकर कल्पसूत्र और उत्तरपुराण मे यत्किचित् अन्तर है। कल्पसूत्र के अनुसार महावीर पूर्ण ७२ वर्ष जीवित रहे, जबकि उत्तरपुराण मे उन्हे ७१ वर्ष और कुछ मास का लिखा है। इसका प्रामाणिक विवेचन इस लेख का विषय नही है। अन्य विद्वान उस पर प्रकाश डालने का प्रयास करेगे। इस विषय मे धवलाटीका, तिलोयपण्णत्ति, त्रिलोक-सार, तपागच्छ और नन्दीसघ की पट्टावली आदि दिगम्बर ग्रन्थो को भी पढना होगा। इस विषय मे बौद्ध ग्रन्थो का सहाय्य महत्वपूर्ण होगा। प्रस्तुत लेख के लिये तो इतना पर्याप्त है कि महावीर का जन्म ५९८ ई० पूर्व और निर्वाण ५२७ ई० पूर्व हुआ।

महावीर का जीवन चरित्र सभी ग्रथो मे समान रूप से वर्णित है। कही-कही थोडा बहुत भेद पाया जाता है, जो नगण्य-सा ही है। महावीर का जन्म क्षत्रिय कुण्ड ग्राम मे हुआ था। उनके पिता का नाम सिद्धार्थ और माता का नाम त्रिशला था। त्रिशला वैशाली के राजा चेटक की पुत्री थी। चेटक की ही दूसरी पुत्री चेलना थी, जिसका परिणय मगध के सम्राट बिम्बसार के साथ हुआ था। क्षत्रिय कुण्ड ग्राम वैशाली का ही एक भाग था। महावीर को 'वैसालिय' कहा जाता है।[1] वे क्षात्रकुल मे जन्मे थे। उन्हे 'नातपुत्त' कहते हैं। उनका जन्म 'निर्ग्रन्थ' परम्परा मे हुआ था। उनके माता-पिता २३ वे तीर्थकर पार्श्वनाथ के धर्म को मानते थे। वे प्रति दिन एक पार्श्व चैत्य मे वदना के लिये भी जाया करते थे। पहले जैन साधुओ को निर्ग्रन्थ ही कहा जाता था। महावीर के लिये 'निगण्ठ' शब्द

---

१ 'अरहा नायपुत्ते भगव वेसालिए वियाहिए त्ति बेमि' सूत्रकृताङ्ग सूत्र, २/३।

का शताधिक वार प्रयोग हुआ है। गौतमबुद्ध उन्हे 'निगण्ठनातपुत्त' कहा करते थे।[1]

जैन पुराणों, चरित्रो, कथा-ग्रन्थो और स्तुति-स्तोत्रो मे महावीर के पच-कल्याणको का भक्ति-परक विवेचन हुआ है। तीसरे तप-कल्याण के प्रारम्भ मे जैन तीर्थंकर वैराग्य की ओर उन्मुख होता है। प्रत्येक तीर्थङ्कर का अपना एक विशेष सयोग है, जिसमे उसकी मानस धारा वीतरागी दीक्षा की ओर मुडती है। सम्राट ऋषभदेव के दरबार मे नीलाजना नाम की एक अप्सरा नृत्य करते करते ही दिवगत हो गई। जीवन की इस क्षण भगुरता मे युवा ऋषभदेव के हृदय मे वैराग्य का सचार हुआ। दुल्हा के वेश मे सजे नेमिनाथ दीन पशुओ की करुण पुकार से वीतरागता की ओर झुके। विश्व की अनिद्य सुन्दरी राजीमती से विवाह नही किया। एक मनोवैज्ञानिक की दृष्टि मे ये वाह्य प्रसग एक व्यक्ति के जीवन को तभी परिवर्तित कर पाते है, जब उसमे 'असयोजितप्रसग' के अनुकूल प्रवल सस्कार रहा हो। भले ही जैन तीर्थंकरो का बाल और यौवन वैभव-सम्पन्न वातावरण मे वीता हो, किन्तु वीतरागता उनके खून मे व्याप्त थी। महावीर का वैराग्य किसी वाह्य-प्रसग पर नही, अपितु उनके अपने अध्ययन और चितन पर आधारित था। उनके पूर्व जन्म की अनुभूतिया उभरी और उन्होने अपने माता-पिता से दीक्षा के लिए अनुमति चाही। दो वर्ष तक उनकी और उनके माता-पिता की इच्छा-शक्तियो मे सघर्ष चलता रहा। जीत महावीर की हुई और वे सब की खुशियो के बीच तप करने चले गये। वे ससार से भागे नही, डरे नही। उन्होने कुछ को छोडा सब को पाने के लिये। अपने को पाये बिना सबको नही पाया जा सकता, अत: उन्होने अपने को पाने का प्रयास किया। उनका प्रयास आध्यात्मिक था। आध्यात्मिक साधना का अर्थ है सत्य और अहिंसा। कोरा सत्य नही, कोरी अहिंसा नही। इनमे से एक पर किया गया आग्रह एकाकी हो सकता है, अत महावीर ने समन्वयात्मक पथ का उद्योतन किया। गान्धी ने भी इस रहस्य को समझा था। अन्यथा उनके सत्याग्रह का रचनात्मक रूप अहिंसक कैसे होता। इस साधना से महावीर ने अपने को पाया और उसके साथ ही विश्व को। उनकी चेतना ने विश्व व्यापी रूप धारण किया।

---

१. धम्मपदट्ठ कथा, जिल्द तीसरी, पालिटैक्स्ट सोसाइटी, पृ० ४८६।

केवलज्ञान

महावीर के हृदय मे तप की सोई भावना जागृत हुई और उन्होने वीत-रागी दीक्षा धारण कर ली। वीतरागी दीक्षा परम्परा से चली आ रही थी। उसका एक प्रशस्त मार्ग था। महावीर के पूर्व २३ तीर्थंकर उसे धारण कर चुके थे। उन्होने जिस मार्ग को अपनाया, उस पर उनका पूर्ण विश्वास था, श्रद्धा थी। इसलिए उनके कदम मजबूत थे। साधना भी मजबूत हुई। उन्होने १२ वर्ष की सतत् साधना से ऋजुकूला नदी[1] के तट पर केवल-ज्ञान प्राप्त किया। इसी को उपनिषदो की भाषा मे 'कैवल्यपद' कहते हैं।

केवलज्ञान का अर्थ है सर्वसत्व। बुद्ध ने महावीर के सर्वसत्व को स्वीकार किया था। मज्झिमनिकाय से ऐसा सिद्ध है।[2] सर्वसत्व सदैव महावीर के साथ रहता था। वह आत्मा की पूर्ण विशुद्ध दशा से उत्पन्न हुआ था। दूसरी ओर बोधि की व्याख्या करते हुए मिलिन्दपण्ह मे लिखा है, "गौतम की सर्वसत्ता सदैव उनके पास नही रहती थी, अपितु उनके विचार करने पर अवलम्बित थी।"[3] कुछ भी हो महावीर के सर्वसत्व और उनकी दिव्यवाणी का बुद्ध की ख्याति पर प्रभाव पडा था। बुद्ध के जीवन की ५० वर्ष से ७० वर्ष तक की आयु की घट-नाओ का उल्लेख नही मिलता। इसका एक मात्र कारण महावीर की वृद्धङ्गत ख्याति थी। यह कथन 'पासादिकसुतन्त' से और भी स्पष्ट हो जाता है। उसमे लिखा है कि बुद्ध के प्रमुख शिष्य आनन्द को जब पावा के चण्ड के द्वारा महा-वीर के निर्वाण की सूचना मिली, तो उसने तुरन्त ही इस समाचार को तथागत के समक्ष उपस्थित करने योग्य समझा।

अहिंसा का जैसा समूचापन महावीर की दिव्यवाणी मे प्रस्फुटित हुआ, वैसा कही देखने को नही मिलता। यद्यपि बौद्ध भिक्षु अहिंसा के अनुयायी थे पर वे आगे चल कर मासाहार को उचित मानने लगे। मासाहारी देशो मे बौद्ध धर्म के द्रुतगति से फैलने का कारण भी यह ही था। महावीर ने अहिंसा को ही आध्यात्मिक

---

१ ऋजुकूला नदी का तट, जहाँ भगवान को केवलज्ञान की उत्पत्ति हुई, आजकल बिहार उडीसा के अन्तर्गत माना जाता है। कहा जाता है कि बाराकर नदी ऋजुकूला थी। खोज की आवश्यकता है।

२ देखिए चूल दुक्खक्खन्ध-सुत्तन्त (मज्झिम, १/२/४) तथा चूल सुकुलदायिसुत्तन्त (मज्झिम, २/३/६)।

३ मिलिन्दपण्ह (S B E) भाग ३५ वा, पृ० १५४।

साधना माना। उन्होने कोरे सत्य को कभी स्वीकार नही किया। उनकी दृष्टि के अनुसार अहिसा की यत्किंचित् भी कमी सत्य को अहकार से भर देती है। उन्होने दोनो के समन्वय पर जोर दिया। महात्मा गान्धी ने इसको समझा था। इसी कारण उनके 'सत्याग्रह' मे सत्य का आग्रह केवल शाब्दिक नही रहा, रचनात्मक रूप मे सत्य के साथ अहिसा को प्रमुखता मिली है। महावीर ने अपनी दिव्यवाणी मे अहिसा को प्रेम कहा है। वास्तव मे उनकी आध्यात्मिक साधना प्रेम साधना ही थी। इसी आधार पर जैन आचार्य 'सत्वेपुमैत्री' वाला गीत गा सके। और इसी प्रेम रूप के सहारे भक्तो के दिल टिके रहे।

भक्ति-भावन

महावीर मोक्षगामी थे। वे ससार के कर्ता-वर्ता नही, अच्छे-बुरे के दाता-प्रदाता नही, फिर भी उनको लेकर असीम भक्ति साहित्य का निर्माण हुआ। असख्य मूर्तिया रची गई, असख्य मन्दिर और चैत्य बने। महावीर भले ही कुछ न करते हो, कुछ न देते हो, किन्तु उनका व्यक्तित्व प्रेम के ऐसे धागो से बुना गया था, जो मौन रहते हुए भी प्रेम की प्रेरणा देता रहा। भक्त भगवान को मुक्ति मे जा विराजने के लिये उपालम्भ भी देता रहा और प्रेरणा भी पाता रहा "तुम प्रभु कहियत दीन दयाल, आपन जाय मुकति मे बैठे हम जु रुलत इह जग-जाल।" कहने वाला ही भक्त कवि, "मेढक हीन किए अमरेसुर, दान सबै मन-वाछित पाए। द्यानत आज लौं ताही को मारग सारग है सुख होत सवाए॥" गा सका। जिसके दर्शन-मात्र से ही हीन मेढक तर सका हो, वह भगवान अवश्य ही जीव-मात्र के लिये प्रेम का प्रतीक होगा। उसकी उदारता का विस्तार विश्व-व्यापी बन सका होगा। उसका अह अहकार नही, अपितु विश्व-अह मे परिणत हो सका होगा।

भावशुद्धि पर बल

महावीर ने सदैव भावशुद्धि पर बल दिया। नग्नता भावशुद्धि का एक आवश्यक साधन मात्र है, किन्तु नग्न होने से कोई समूचे रूप मे शुद्ध ही हो जायेगा, यह अनिवार्य नही है। इसी कारण अनेक जीव मुनि-पद धारण करके भी भव समुद्र से तर न सके। उस समय दिगम्बरत्व साधु का चिन्ह था। इतिहास से सिद्ध है कि उस समय के आजीवक साधु भी नग्न रहते थे। महावीर भी नग्न बने। किन्तु उन्होने गेरुआ वस्त्रो की भाति नग्नता को साधुत्व का 'फैशन' नही बनने दिया। 'फैशन' कैसा ही हो भावशुद्धि मे बाधक बनता है। आगे चल

कर हिन्दी के सन्त कवियो ने जिन वाह्याडम्बरो का विरोध किया, उनसे सैकडो वर्ष पूर्व महावीर ने साधु के सभी वेशो का निराकरण करते हुए केवल भावो की पावनता को ही प्रमुखता दी थी। आगे चल कर दिगम्बर साधुओ के क्रिया-काण्ड भी इतने बढे कि उन पर मोटे-मोटे ग्रथो की रचना हुई। महावीर के दिगम्बर जीवन मे उनका कोई मूल्य नही था। महावीर को कई दिनो से आहार नही मिला था। उनकी प्रतिज्ञा थी कि कुँआरी, जजीरो मे जकडी और रोती हुई कन्या के हाथो आहार लेंगे। एक दिन उधर से निकले, जहा चन्दना को कैद करके रक्खा गया था। वह रो रही थी, उसके आगे कैदी का खाना रक्खा था। उसने जजीरो से जकडी दशा मे ही भगवान को भोजन के लिये आमत्रित किया। उन्होने स्वीकार किया और कैदखाने के सीकचो के बाहर, सकरी-सी गली मे खडे होकर वह कैदियो वाला भोजन ले लिया। महावीर सभी प्रकार के क्रियाकाण्डो से नितात दूर थे।

महावीर से ढाई सौ वर्ष पूर्व २३ वे तीर्थंकर पार्श्वनाथ का जन्म हुआ था। इतिहास ने उनके अस्तित्व को मान लिया है। उनका युग चला आ रहा था। उन्ही के नाम पर वीतरागी साधु जैन दीक्षा ले रहे थे। इनमे मुनि पिहिताश्रव का नाम विशेषत उल्लेखनीय है। वे पार्श्वनाथाम्नायी थे। उन्ही से बुद्ध ने दीक्षा ली थी। इन साधुओ मे गोशालक का नाम मुख्य रूप से लिया जाता है। उसका पूरा नाम था मखलिगोशाल। आचार्य देवसेन के दर्शनसार मे मखलि-गोशाल और पूरणकाश्यप का एक साथ उल्लेख हुआ है। दिगम्बर ग्रन्थ दोनो को एक मानते हैं। दोनो ही आजीविक मत के नेता थे। किन्तु बौद्ध ग्रन्थो से स्पष्ट है कि वे भिन्न दो व्यक्ति थे। अन्त मे दोनो के मत-सादृश्य ने दोनो को एक कर दिया था। इसी कारण जैन परम्परा दोनो को एक मानती रही।

मखलि गोशाल और पूरणकाश्यप महावीर से उम्र मे बडे थे। जैन साधु थे। उन्होने जैन पूर्व ग्रन्थो के आधार पर जैन धर्म को समझने का प्रयास किया था। वे उसके मर्म को समझ न सके। मत्र और ज्योतिष ने भी बाधा पहुँचायी। गोमट्टसार और सूत्रकृताग सूत्र मे उनके मत को अज्ञात मत कहा गया है। वैसे आजीविक नाम भी जैनत्व का द्योतक है। किसी भी प्रकार की जीविका से पृथक् रहने को आजीविक कहते हैं। इसे जैनो के त्याग और अपरिग्रह पर निर्भर रहना चाहिये था। किन्तु आजीविक साधु मन्त्र और ज्योतिष के बल पर जीविका भी कमाने लगे। इस धर्म के पतन का यह ही एक मात्र कारण है। आजीविक सम्प्रदाय पर डा० बरुआ ने 'आजीविस' नाम का एक ग्रन्थ लिखा था। उन्होने भी ऐसी ही मान्यता अभिव्यक्त की है।

भगवान महावीर को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। उनका समवसरण रचा गया। मखलि गोशाल पहुँचा। वह समझता था कि एक पुराने जैन साधु होने के नाते उसे ही गणधर बनाया जायगा, किन्तु ऐसा नही हुआ। इन्द्रभूति गौतम को गणधर बनाया गया। गोशाल रुष्ट और मन्त्राहत नाग की भाँति श्रावस्ती चला गया। वहाँ उसने अपने को सर्वज्ञ घोषित किया। सभी आजीविक उसे सर्वज्ञ मान उठे। जब महावीर का समवसरण श्रावस्ती पहुँचा, तो अधिकाश आजीविक महावीर के साथ हो गये। 'दर्शनसार' मे ऐसे ही एक आजीविक शब्दाल-पुत्र का जिक्र आया है। वह कुम्हार था, भारत का प्रसिद्ध शिल्पी। उसने मिट्टी के बर्तनो से ही तीन करोड स्वर्णमुद्राये कमाई थी। एक दिन उसने सुना कि पलाशपुर मे सर्वज्ञप्रभु आयेगे, तो उसने समझा कि उसके गुरु गोशाल आयेंगे। आये महावीर। उनके धर्मोपदेश से वह वास्तविकता को समझ सका। उनके धर्म मे दीक्षित हो गया। उसका दुर्द्धर्ष तप प्रसिद्ध है।

कुछ ऐसे जैन साधक थे जिनकी महावीर ने स्वय प्रशसा की है। उनमे धन्यकुमार का नाम सर्वोपरि है। वह काकन्दी का श्रेष्ठि-पुत्र था। घोर तप के कारण उसमे हड्डियाँ-भर अवशिष्ट रह गई थी। मगध नरेश श्रेणिक ने भगवान से, उनके १४ हजार शिष्यो मे सर्वश्रेष्ठ साधक पूछा, तो उन्होने 'धन्ना अणगार' का नाम लिया। दूसरा साधक, जिसकी प्रशसा भगवान ने की 'कामदेव श्रावक' था। उसका उल्लेख 'दशागसूत्र' मे आया है। वह चम्पा निवासी था। एक बार भगवान का विहार चम्पा मे हुआ। कामदेव ने श्रावक की दशा में ही भगवान के द्वारा उपदिष्ट साधना प्रारम्भ की। एक रात्रि को एक देव के द्वारा घोर उपसर्ग आने पर भी कामदेव विचलित न हुआ। भगवान ने अपने समवसरण मे उसकी प्रशसा करते हुए निर्ग्रन्थ श्रमणो से उपसर्ग सहन करने का उपदेश दिया। उन्होंने कामदेव श्रावक का उदाहरण उपस्थित किया। तीसरी थी साधिका सुलसा। वह एक गाव मे रहकर गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए ही वीतरागी साधना मे तल्लीन रहती थी। भगवान ने अम्बड श्रावक के द्वारा उसको धर्म-लाभ कहलवाया था। इससे स्पष्ट है कि भगवान उसके प्रशसक थे[1]

जीवधर की गणना प्रसिद्ध जैन साधको मे थी। जीवधर हेमागद देश के सम्राट थे। उनकी राजधानी राजपुरी थी। हेमागद अपनी स्वर्ण की खानो

---

१. देखिए अगरचन्द नाहटा का लेख महावीर द्वारा प्रशासित तीन व्यक्ति' अहिंसावाणी, अप्रेल १९६६, पृ० १४०।

के लिए प्रसिद्ध था। बाल्यावस्था मे जीवधर ने आर्यनन्दि नाम के एक जैनाचार्य के पास शिक्षा प्राप्त की थी। आर्यनन्दि ने शस्त्र और शास्त्र दोनो की शिक्षा दी थी। जीवधर के शस्त्र-कौशल ने उन्हे राज्य दिलवाया और शास्त्र नैपुण्य ने वीतरागी भावनाओ के अकुर को पनपाया। एक दिन महावीर के पास जाकर दीक्षा ले ली। राजा श्रेणिक ने महावीर के समवसरण के बाहर पणिवृक्ष के नीचे जिस तेजस्वी मुनि को तप-निरत देखा था, वे मुनि जीवधर ही थे। वे श्रुतज्ञान के धारी थे और महावीर के साथ ही उनका भी निर्वाण होना था। वे इतिहास मे वीर श्रमण जीवधर के नाम से प्रसिद्ध हैं।[1]

भगवान महावीर का समवसरण प्रारम्भ हो चुका था, किन्तु देवगण विमानो मे उडते हुए समवसरण मे न आकर कही अन्यत्र चले जा रहे थे। यह एक आश्चर्य का विषय था। किसी ने भगवान से इसका कारण पूछा, तो उन्होने कहा कि महाराज जितारि का निर्वाण हुआ है, ये उनका निर्वाणोत्सव मनाने जा रहे है।[2] महाराज जितारि या जितशत्रु कलिङ्ग के सम्राट् थे और रिश्ते मे महावीर के फूफा लगते थे। उनका निर्वाण खण्डगिरि मे हुआ था। तभी से खण्डगिरि सिद्धि क्षेत्र के रूप मे प्रसिद्ध है। सम्राट खारवेल (ई० पूर्व द्वितीय शताब्दी) के शिलालेख मे इसको 'अर्हत्निषिद्या' कहा गया है। इस विषय मे बाबू छोटेलालजी के अन्वेषण का एक उद्धरण देखिए, "अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी के फूफा कलिगाधिपति महाराज जितशत्रु या जितारि का निर्वाण मेरे अनुमान से खण्डगिरि मे ही हुआ था। और उन्ही के सम्बन्ध से यह सिद्धिक्षेत्र हो जाने के कारण सहस्रो निर्ग्रन्थ मुनियो ने इस स्थान को तपोभूमि बनाया था। ई० पूर्व द्वितीय शताब्दी मे होने वाले कलिग चक्रवर्ती महाराज खारवेल ने भी अपना अन्तिम साधु जीवन यहा ही व्यतीत किया था।"[3] सम्राट खारवेल ने अपना प्रसिद्ध शिलालेख इसी गुफा मे क्यो उत्कीर्ण करवाया ? इस पर बाबूजी का पुरातात्विक विवेचन इस प्रकार है, "मेरे अनुमान से उपर्युक्त श्री जितारि मुनि ने इसी हाथी गुफा मे तपश्चरण करते हुए निर्वाण प्राप्त किया था और उसे तीर्थ बनाया था जिससे वहा हजारो यात्री वन्दना के लिये और हजारो मुनि तपश्चरण के लिये सैकडो वर्षो से आते रहे है। अत विशेष प्रचार

---

१ जीवधर की कथा के लिए देखिए उत्तरपुराण।

२ देखिए हरिवश पुराण।

३ बाबू छोटेलाल जी, खण्डगिरि-उदयगिरि-परिचय, अनेकान्त, वर्ष ११ किरण १, मार्च १९५२, पृ० ८१।

की दृष्टि से और शिलालेख की अपनी विशिष्टता के कारण उसे इस महत्वपूर्ण स्थान मे अकित किया गया है। अन्यथा महाराज खारवेल ने अपनी अग्रमहिषी के लिये उसी गुफा के निकट जो अतिसुन्दर समाश्रय रूप गुफा बनवाई थी, उसी मे इस शिलालेख को भी स्थान दे देते। हाथी गुफा तीर्थस्थान के कारण ही अधिक मान्य और प्रतिष्ठित हो गई थी और महाराज खारवेल ने उसका अकृत्रिम भद्दा रूप अक्षुण्ण रखते हुए भी इसे इतना महत्व दिया था।"[१]

महावीर के नारी सघ मे चन्दना सर्वोत्तम साधिका थी। अपने अनिन्द्य सौन्दर्य के कारण उसे असीम कष्ट भोगने पडे, किन्तु उसने कही पर भी सतीत्व को त्यागा नही। वह आजन्म ब्रह्मचारिणी रही। महावीर की भक्ति उसके जीवन का सम्बल थी। जब महावीर को केवल ज्ञान हुआ, तब उसने दीक्षा ले ली। उसका कठोर तप नारियो के लिये ईर्ष्या का विषय बना। वह अपने सौन्दर्य मे जैसे प्रसिद्ध थी, आगे चलकर उसकी आध्यात्मिक साधना भी वैसे ही ख्याति प्राप्त हुई। सुन्दरी चन्दना ने अपने जीवन से जिस आदर्श की रचना की थी, वह आज भी नारी जगत के लिये अनुकरणीय है।

---

१ देखिए वही, पृ० ८२।

जैन–समाधि और समाधिमरण

'समाधि' शब्द की व्युत्पत्ति

समाधीयते इति समाधि । समाधीयते का अर्थ है—'सम्यगाधीयते एकाग्रीक्रियते विक्षेपान् परिहृत्य मनो यत्र स समाधि '।[१] अर्थात् विक्षेपो को छोडकर मन जहा एकाग्र होता है, वह समाधि कहलाती है। 'विसुद्धिमग्ग मे 'समाधान' को ही समाधि माना है, और 'समाधान का अर्थ किया है—'एकारम्मणे चित्तचेतसिकान सम सम्मा च आधानम्'—[२] अर्थात् एक आलम्बन मे चित्त और चित्त की वृत्तियो का समान और सम्यक् आधान करना ही समाधान है। जैनो के 'अनेकार्थ–निघण्टु' मे भी 'चेतसश्च समाधान समाधिरिति गद्यते'[३] कहकर चित्त के समाधान को ही समाधि कहा है। 'सम्यक् आधीयते' और 'सम्यक् आधान' मे प्रयोग की भिन्नता के अतिरिक्त कोई भेद नही है। दोनो

---

१ मिलाइये, पातञ्जल योगसूत्र, व्यास भाष्य १/३२, मेजर वी० डी० वसु-सम्पादित, इलाहाबाद, १६२४ ई०।

२ आचार्य बुद्धघोष, विसुद्धिमग्ग, कौसाम्बी जी की दीपिका के साथ, तृतीय परिच्छेद, पृष्ठ ५७, बनारस।

३ देखिये, धनञ्जयनाममाला, सभाष्य अनेकार्थ निघण्टु तथा एकाक्षरी कोश, १२४ वाँ श्लोक, पृ० १०५, प० शम्भुनाथ त्रिपाठी-सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वि० स० २०१२

एक ही धातु से बने है और दोनों का एक ही अर्थ है। चित्त का आलम्बन अथवा ध्येय मे सम्यक् प्रकार से स्थित होना— दोनो ही व्युत्पत्तियो मे अभीष्ट है।

ध्येय मे चित्त की सुदृढ स्थिति निरन्तर अभ्यास और वैराग्य पर निर्भर करती है। गीता मे भगवान् कृष्ण ने अर्जुन से कहा, कि "हे महाबाहो ! सच है कि चञ्चल मन को वश मे करना कठिन काम है। पर हे कौन्तेय ! अभ्यास और वैराग्य से वह वश मे किया जा सकता है।"[1] योगसूत्र के अभ्यासवैराग्याभ्या तन्निरोध[2] के द्वारा भी यह तथ्य कि, 'चञ्चल मन का निरोध अभ्यास और वैराग्य से ही हो सकता है,' सिद्ध होता है। जहा तक बौद्ध धर्म का सम्बन्ध है, वह अभ्यास पर ही निर्भर है।[3] जैन धर्म मे ध्यान के पाच कारणो मे 'वैराग्य' को प्राथमिकता दी गई है।[4] वहा चित्त को वश मे करने के लिए यद्यपि वायु-निरोध की बात को थोथा प्रमाणित किया गया है, तथापि प्राणायाम का अभ्यास कर, मन को रोक कर, चिद्रूप मे लगाने की बात तो कही ही गई है, फिर भले ही मन और पवन स्वयमेव स्थिर हो जाते हो। जैन शास्त्रो के अनुसार शुभोपयोगी का मन जब तक एकदम आनन्दघन मे अडोल अवस्था को प्राप्त नही कर पाता, तब तक मन को वश मे करने के लिए पच परमेष्ठी और ओकारादि मत्रो का ध्यान करना होता है, फिर शनै शनै मन शुद्ध आत्म-स्वरूप पर टिकने लगता है। चौदह गुणस्थानो पर क्रमश चढने की बात भी अभ्यास की ही कहानी है। शुद्ध अहिंसा तक पहुँचने के लिए सीढिया बनी हुई है। इस भाति समूचा जैन सिद्धात अभ्यास और वीतरागता की भावना पर ही निर्भर है।[5]

---

१ असशय महाबाहो मनो दुर्निग्रह चलम्। अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ महात्मा गाधी, अनासक्तियोग, श्रीमद्भगवद्गीता भाषा-टीका, ६/३५ पृ० ९२, सस्ता साहित्य, मण्डल, नयी दिल्ली १९४९ ई०।

२ पातञ्जल योगसूत्र, १/१२।

३ भरतसिह उपाध्याय, बौद्ध दर्शन और अन्य भारतीय दर्शन, द्वितीय भाग, पृ० ९०९, बगाल हिन्दी मडल, वि० स० २०११।

४ आचार्य योगीन्दु, परमात्म प्रकाश, १९२ वें दोहे की ब्रह्मदेवकृत सस्कृत-टीका, पृ० ३३१, डा० ए० एन० उपाध्ये द्वारा सम्पादित, परमश्रुत प्रभावक मडल बम्बई १९३७ ई०।

५ परमात्म-प्रकाश, प० जगदीशचन्द्र-कृत हिन्दी-अनुवाद, पृ० ३०६।

समाधि की तुलनात्मक व्याख्या

ध्यान और समाधि

जैन शास्त्रो मे अनेक स्थानो पर उत्कृष्ट ध्यान के अर्थ मे ही 'समाधि' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'भावप्राभृत' की वहत्तरवी गाथा मे 'समाधि' शब्द उत्तम ध्यान का ही द्योतक है।[1] आचार्य समन्तभद्र ने अपने 'स्वयम्भूस्तोत्र' के सतहत्तरवे, तिरासीवे और एकसौ दसवे श्लोको मे समाधि, सातिशयध्यान और शुक्ल ध्यान को एक ही अर्थ मे प्रयुक्त किया है। आचार्य उमास्वाति ने 'धर्म्य ध्यान' और 'शुक्ल ध्यान' को मोक्ष का हेतु कहकर उनके समाधि रूप की घोषणा की है।[2] श्री योगीन्दु ने भी 'ध्यान' शब्द का प्रयोग 'समाधि' अर्थ मे ही किया है।[3] पण्डित प्रवर आशाधर ने 'जिनसहस्रनाम' की स्वोपज्ञवृत्ति मे 'समाधिराट्' की व्याख्या करते हुए स्पष्ट कहा है—समाधिना शुक्लध्यानेन केवल ज्ञानलक्षणेन राजते शोभते।[4] अर्थात् केवलज्ञान है लक्षण जिसका, ऐसी शुक्ल ध्यान रूप समाधि से जो सुशोभित है, वे ही 'समाधिराट्' कहलाते हैं। पातञ्जल योगसूत्र मे ध्यानमेव ध्येयाकार निर्भास प्रत्ययात्मकेन स्वरूपेण शून्यमेव यदा भवति ध्ययेस्वभावावेशात्तदा समाधिरित्युच्यते[5] के द्वारा ध्येयाकार निर्भासध्यान को ही 'समाधि' कहा गया है। यहा ध्यान के चरम उत्कर्ष का नाम ही समाधि है। समाधि, चित्तस्थैर्य की सर्वोत्तम अवस्था है। भगवान बुद्ध ने 'सम्वोधि-लाभ' करते समय चार ध्यानो की प्राप्ति की थी, 'मज्झिमनिकाय' मे इनको समाधि सज्ञा से अभिहित किया गया है।[6] वौद्ध साधना पद्धति मे 'ध्यान' का केद्रीय स्थान है। शील के बाद समाधि (ध्यान) और समाधि के अभ्यास से प्रज्ञा (परम ज्ञान) की प्राप्ति होती है। शास्ता की यह वाणी—"भिक्षुओ, ध्यान करो। प्रमाद मत करो।" सहस्रो वर्षों तक ध्वनित होती रही है। यद्यपि वौद्धो मे ध्यान–सम्प्रदाय की विद्यमानता के लिखित प्रमाण नही मिलते, परन्तु उसकी परम्परा बुद्ध के समय से ही अवश्य चली आ रही थी, ऐसी चीनी परम्परा के

---

१ आचार्य कुन्दकुन्द, भावप्राभृत, गाथा ७२।

२ उमास्वाति, तत्वार्थसूत्र, ६/२६।

३ योगीन्दु, परमात्मप्रकाश, दूहा १७२, १८७

४ प० आशाधर, जिनसहस्रनाम, स्वोपज्ञवृत्ति ६/७४, पृ० ६१ भारतीय ज्ञानपीठ काशी।

५ पातञ्जल योगसूत्र, व्यासभाष्य, ३/३ मेजर वी डी वसु-सम्पादित, इलाहावाद, १६२४ ई०

६ देखिये–मज्झिमनिकाय, चूलहत्यि, पदोपमसुत्त

आधार पर कहा जा सकता है। आचार्य बोधिधर्म ने चीन मे बताया कि ध्यान के गूढ रहस्यो का उपदेश भगवान बुद्ध ने अपने शिष्य महाकाश्यप को दिया था, जिन्होने उसे आनन्द को बताया।[1] उपनिषदो मे भी 'उत्कृष्ट ध्यान' को समाधि कहा है। साधारण ध्यान मे ध्याता, ध्येय और ध्यान तीनो का पृथक-पृथक् प्रतिभास होता रहता है, किन्तु उत्कृष्ट ध्यान मे ध्येय-मात्र ही अवभासित होता है और उसे ही समाधि कहते है।

ध्यान और मन की एकाग्रता

ध्यान मे मन की एकाग्रता का प्रमुख स्थान है। मन के एकाग्र हुए बिना ध्यान हो ही नही सकता। जैनाचार्यों ने 'एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्[2]' के द्वारा एकाग्र मे चिन्ता निरोध को ध्यान कहा है। "अग्र पद का अर्थ है 'मुख' अर्थात् आलम्बन–भूत द्रव्य या पर्याय। जिसके एक अग्र होता है, उसे एकाग्र-प्रधान वस्तु या ध्येय कहते है। 'चिन्तनिरोध' का अर्थ है—अन्य अर्थों की चिन्ता छोडकर एक ही वस्तु मे मन को केन्द्रित करना। ध्यान का विषय एक ही अर्थ होता है। जब तक चित्त मे नाना प्रकार के पदार्थों के विचार आते रहेगे, तब तक वह ध्यान नही कहला सकता।"[3] अत चित्त का एकाग्र होना ही ध्यान है। योग-सूत्र मे भी तस्मिन्देशे ध्येयालम्बनस्य प्रत्ययस्यैकतानतासदृश प्रवाह प्रत्यातरेणा-परामृष्टो ध्यानम्[4] कहकर ध्येय विषयक प्रत्यय की एकतानता को ध्यान माना है। एक तानता' एकाग्रता ही है। बौद्धो के 'मज्झिमनिकाय' मे चार ध्यानो का निरूपण हुआ है और उनमे एकाग्रता को ही प्रमुख स्थान है। गीता के ध्यान-योग मे आत्म-शुद्धि के लिए मन की एकाग्रता को अनिवार्य स्वीकार किया गया है। चचल मन को एकाग्र किये बिना मनुष्य योगी नही कहला सकता।[5] स्थिर-चित्त योगी ही आत्मा को परमात्मा के साथ जोड सकता है, अन्य नही।[6] श्री

---

१ हिन्दी साहित्य सम्मेलन पत्रिका, भाग ४१, सख्या-३, पृ० ३२

२ उमास्वाति, तत्वार्थसूत्र, ९/२७

३ अग्र मुखम्। एकमग्रमस्येत्येकाग्र। नानार्थवलम्बनेन चिन्ता परिस्पन्दवती, तस्या अन्याशेषमुखेभ्यो व्यावर्त्य एकस्मिन्नग्र नियम एकग्रचिन्तानिरोध इत्युच्यते। अनेन ध्यान स्वरूपमुक्त भवति।
—पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि, ९/२७ पृ० ४४४ भारतीय ज्ञानपीठ, काशी वि० स० २०१२

४ पातञ्जल योगसूत्र, बी डी वसु-सम्पादित, ३/२ का व्यासभाष्य, पृ० १८०

५ महात्मा गाधी, अनासक्तियोग श्रीमद्भगवद्गीता भाषा-टीका, ६/१८, पृ० ८७

६ देखिये वही, ६/१९, पृ० ८८

अरविन्द ने 'मन की एकाग्रता' मे उस मन को लिया है जो निश्चय करने वाला और व्यवसायी है, उस मन को नही लिया, जो केवल बाध करने वाला है। निश्चय करने वाले मन की एकाग्रता ही एकनिष्ठ बुद्धि है, जिसका महत्व गीता मे स्थान-स्थान पर उद्धोषित किया गया है।[१]

समाधि मे ग्राह्य और त्याज्य तत्त्व

जैन शास्त्रो मे ध्यान को चार प्रकार का कहा गया है—आर्त्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल।[२] यह जीव आर्त्त रौद्र ही के कारण इस ससार मे घूमता रहा है, अत वे त्याज्य है। भावलिङ्गी मुनि धर्म्य और शुक्ल ध्यान-रूपी कुठार से ससार रूपी वृक्ष को छेदने मे समर्थ होता है, अत वे उपादेय है।[3] आचार्य उमास्वाति ने भी 'परे मोक्षहेतु' कहकर उपर्युक्त कथन का समर्थन किया है। योगीन्द्र ने 'ध्यानाग्निना कर्मकलङ्कानि दग्ध्वा'[४] में ध्यान का अर्थ शुक्ल ध्यान ही लिया है। 'एकाग्रता' ध्यान अवश्य है, किन्तु शुभ और शुद्ध मे एकाग्र होने वाला ध्यान ही आगे चलकर समाधि का रूप धारण करता है। योगसूत्र मे चित्त की पाच भूमिकाएँ स्वीकार की हैं—क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। इनमें से प्रथम तीन का समाधि के लिए अनुपादेय और अन्तिम दो को उपादेय माना है।[५] योगसूत्र मे ही स्वरूप-दृष्टि से चित्तवृत्तियो के दो भेद माने गये हैं—क्लिष्ट और अक्लिष्ट। क्लिष्ट क्लेश की और अक्लिष्ट ज्ञान का कारण है।[६] बौद्धो ने इन्ही को कुशल और अकुशल के नाम से पुकारा है। इनमे कुशल होने वाला ध्यान ही 'समाधि' हो सकेगा, अकुशल वाला नही।

समाधि के भेद और उनका स्वरूप

जैन शास्त्रो मे समाधि के दो भेद किये गये हैं—सविकल्पक और निर्विकल्पक। सविकल्पक समाधि सालम्ब होती है और निर्विकल्पक निरवलम्ब।

---

१ अरविन्द, गीता-प्रबन्ध भाग, पृ० १७८, सातवी पक्ति से चौदहवी पक्ति तक का भाव।

२ आचार्य उमास्वाति, तत्त्वार्थसूत्र, ६/२८

३ आचार्य कुन्दकुन्द, भावप्राभृत, गाथा १२१-१२२

४ योगीन्दु, परमात्मप्रकाश, पहला दोहा, सस्कृत-छाया

५ पातञ्जल योगसूत्र, १/१ का व्यास-भाष्य

६ देखिये वही, १५ का व्यास-भाष्य

सालम्ब मे मन को टिकने के लिए सहारा मिलता है, जबकि निरवलम्ब मे उसे अनाधार मे ही लटकना होता है। चचल मन पहले तो किसी सहारे से ही टिकना सीखेगा, तब कही निराधार मे भी ठहर सकने योग्य हो सकेगा। श्री योगीन्दु के मतानुसार चिन्ता का समूचा त्याग मोक्ष को देने वाला है, उसकी प्रथम अवस्था विकल्प-सहित होती है। उसमे विषय-कषायादि अशुभ ध्यान के निवारण के लिए और मोक्ष-मार्ग मे परिणाम दृढ करने के लिए ज्ञानी जन जो भावना भाते हैं, वह इस प्रकार है—"चतुर्गति के दु.खो का क्षय हो, अष्टकर्मो का क्षय हो, ज्ञान का लाभ हो, पचम गति मे गमन हो, समाधि मे मरण हो और जिनराज के गुणो की सम्पत्ति मुझको प्राप्त हो।" यह भावना चौथे, पाचवे और छठे गुणस्थान मे ही की जाती है, आगे नही।[1] सालम्ब समाधि मे मन को टिकाने के लिए तीन रूपो की कल्पना की गई है—पिण्डस्थ, पदस्थ और रूपस्थ। शरीर युक्त आत्मा पिण्डस्थ, पच परमेष्ठी और ओकारादि मत्र पदस्थ तथा अर्हन्त रूपस्थ कहे जाते हैं।[2] आचार्य देवसेन ने स्पष्ट कहा है कि सर्वसाधारण के लिए निरवलम्ब ध्यान सम्भव नही, अत उसे सालम्ब ध्यान करना चाहिए।[3]

सालम्ब समाधि का प्रारम्भिक रूप सामायिक है। सामायिक का अर्थ अरिहतादि का नाम लेना और किसी मन्त्र का जाप जपना-मात्र ही नही है, अपितु वह एक ध्यान है, जिसमे यह सोचना होता है कि यह ससार चतुर्गतियो मे भ्रमण करने वाला है, अशरण, अशुभ, अनित्य और दु ख-रूप है। मुझे इससे मुक्त होना चाहिये।[4] सामायिक का लक्षण बताते हुए एक आचार्य ने कहा है

समता सर्वभूतेषु सयम शुभभावना।
आर्त्तरौद्रपरित्यागस्तद्धि सामायिक व्रतम् ॥

---

१ आचार्य योगीन्दु, परमात्मप्रकाश, प० जगदीशचन्द्र-कृत हिन्दी-अनुवाद, पृ० ३२७-२८।

२ आचार्य वसुनन्दि, वसुनन्दिश्रावकाचार, गाथा ४५६, ४६४, ४७२–४७५ भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वि० स० २००९।

३. आचार्य देवसेन, भावसग्रह, गाथा ३८२, ३८८, मणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला वम्बई, १९२१ ई०।

४ आचार्य समन्तभद्र, समीचीन धर्मशास्त्र, ५।१४, पृ० १४०, वीर-सेवा मन्दिर, दिल्ली, १९५५ ई०।

अर्थात् जिस व्रत मे सब प्राणियो मे समता-भाव, इन्द्रिय-सयम, शुभ-भावना का विकास तथा आर्त्त और रौद्र ध्यानो का त्याग किया जाता है, वह सामायिक व्रत कहलाता है। सामायिक के पाच अतिचार हैं—मन-वचन-काय का असत्-प्रयोग, अनुत्साह और अनैकाग्रता।[1] इनसे सामायिक मे दोप उत्पन्न हो जाते है। इस भाति एकाग्रता सामायिक का गुण और अनैकाग्रता दोष है। इसी एकाग्रता का विकसित रूप समाधि का मूलाधार है। वास्तव मे सामायिक गृहस्थ श्रावको का एक व्रत है। आचार्य कुन्दकुन्द ने इसे शिक्षा-व्रतो मे गिना है।[2] स्वामी कीर्तिकेय ने अपने 'अनुप्रेक्षा' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ मे गृहस्थ के बारह धर्मो मे सामायिक को चौथा स्थान दिया है। आचार्य उमास्वाति, समन्तभद्र, जिनसेन, सोमदेव, देवसेन, अमितगति, अमृतचन्द्र, आचार्य वसुनन्दि और पडित प्रवर आशाधर ने भी सामायिक के महत्व को स्वीकार किया है। उन्होने यहा तक कहा है कि सामायिक मे स्थित गृहस्थ सचेलक मुनि के समान होता है।[3] सामायिक कम से कम दो घडी या एक मुहूर्त्त (अडतालीस मिनट) तक करनी चाहिए।[4]

निर्विकल्प समाधि मे मन को टिकाने के लिए किसी आलम्बन की आवश्यकता नही होती। यहा तो 'रूपातीत' का ध्यान करना होता है। शरीर के जाल से पृथक् शुद्धात्मा अथवा भगवान सिद्ध ही 'रूपातीत' कहलाते है।[5] उन पर जव मन ठहर उठता है, तभी निर्विकल्प समाधि का प्रारम्भ समझना चाहिए। आचार्य योगीन्दु ने निर्विकल्प समाधि की परिभाषा बतलाते हुए लिखा है—सयलवियप्पह जो विलउ परम समाहि मणति। तेण सुहासुह भावडा मुणि

---

१ देखिये वही, ५।१५, पृ० १४२।

२ आचार्य कुन्दकुन्द, चरित्रपाहुड, गाथा २६।

३ आचार्य समन्तभद्र, समीचीनधर्मशास्त्र, ५।१२, पृ० १३६, वीर-सेवा मन्दिर, दिल्ली, १९५५ ई०।

४. वसुनन्दिश्रावकाचार की प्रस्तावना, प० हीरालाल-कृत, पृ० ५५, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।

५ वण्णरस-गध-फासेहिं वज्जिओ णाण-दसण सरूवो।
जझाइज्जइ एव त झाण रूव रहिय ति ॥ ४७६ ॥
—वसुनन्दि, वसुनन्दिश्रावकाचार, प० हीरालाल सम्पादित, पृ० २८०, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।

सयलवि मेल्लति ।[1] अर्थात् सकल विकल्पो का विलीन होना ही परम समाधि है, इसमे मुनिजन शुभ और अशुभ भावो का परित्याग कर देते है । अपने इसी मत की पुष्टि करते हुए आचार्य ने एक-दूसरे स्थान पर कहा है कि "जब तक समस्त शुभाशुभ परिणाम दूर न हो, मिटे नही, तब तक रागादि विकल्प-रहित शुद्ध चित्त मे सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र रूप शुद्धोपयोग जिसका लक्षण है, ऐसी परम समाधि इस जीव के नही हो सकती ।"[2] उन्होने यहा तक कहा कि" केवल विषय कषायो को जीतने से क्या होता है, मन के विकल्प मिटाने ही चाहिए, तभी वह परमात्मा का सच्चा आराधक कहा जायेगा ।"[3] आचार्य कुन्दकुन्द ने 'षट्पाहुड' मे लिखा है कि "जो रागादिक अन्तरग परिग्रह से सहित हैं और जिन भावना रहित द्रव्य-लिंग को धार कर निर्ग्रन्थ बनते हैं, वे इस निर्मल जिन-शासन मे समाधि और बोधि को नही पाते ।"[4] इस भाति आचार्य कुन्दकुन्द ने रागादिक अन्तरग परिग्रह के त्याग को समाधि के लिए आवश्यक बतलाया । बाह्य ज्ञान से शून्य निर्विकल्पक समाधि मे विकल्पो का आधार भूत जो मन है वह अस्त हो जाता है, अर्थात् निज स्वभाव मे मन की चचलता नही रहती । जिन मुनीश्वरो का परम समाधि मे निवास है, उनका मोह नाश को प्राप्त हो जाता है, मन भर जाता हैं, श्वासोच्छ्वास रुक जाता है और कैवल्य ज्ञान उत्पन्न हो जाता है ।[5] आचार्य समन्तभद्र ने यह स्वीकार किया है

> स्वदोषमूल स्वसमाधितेजसा, निनाय यो निर्दयभस्मसात्क्रियाम् ।
> जगाद तत्व जगतेऽर्थिनेऽञ्जसा, बभूव च ब्रह्मपदामृतेश्वर ।।[6]

अर्थात् समाधि-तेज से अपने आत्म-दोषो के मूल कारण को निर्दयतापूर्वक भस्म कर यह जीव ब्रह्म-पदरूपी अमृत का स्वामी हो सकता है ।

---

१. आचार्य योगीन्दु, परमात्मप्रकाश, डा० ए० एन० उपाध्ये-सम्पादित, दोहा १६०, पृ० ३२८, प्र० मडल, बम्बई ।

२ देखिये वही, दोहा १६४, पृ० ३३२ ।

३ देखिये वही, दोहा १६२, पृ० ३३१ ।

४ आचार्य कुन्दकुन्द, षट्पाहुड, भावपाहुड, ७२ वी गाथा पृ० ७८, प्रकाशक बाबू सूरजभान वकील, देवबद ।

५ आचार्य योगीन्दु, परमात्मप्रकाश, डा० ए० एन० उपाध्ये-सम्पादित, दोहा १६२, पृ० ३०६, बम्बई ।

६ आचार्य समन्तभद्र, स्वयम्भू-स्तोत्र, १।३, वीर-सेवा मन्दिर, सरसावा ।

योगसूत्र मे समाधि की परिभाषा लिखते हुए कहा गया है—

तदेवार्थमात्रनिर्भास स्वरूपशून्यमिव समाधि ।[1] अर्थात् ध्येयाकार निर्भास ध्यान ही जब ध्येय स्वाभावावेश से अपने ज्ञानात्मक स्वभाव शून्य के समान होता है, तव उसे समाधि कहते हैं ।[2] ध्यान करते-करते जब हम आत्म-विस्मृत हो जायें, जब केवल ध्येय-विषयक सत्ता की ही उपलब्धि होती रहे तथा अपनी सत्ता विस्मृत हो जाये, और ध्येय से अपना पृथक्त्व ज्ञानगोचर न हो, तब ध्येय विपय पर उस प्रकार का चित्तस्थैर्य ही समाधि है ।[3] इसमे ध्येय की सत्ता प्रतिभासित होती है। अत वह सालम्व, सवीज और सविकल्पक समाधि कहलाती है । विषय-भेद से यह समाधि-रूपरसादिग्राह्य विषयक, अहङ्कारादिग्रहण विषयक, अहमत्वमात्रगृहीतृपदस्थविषयक तीन प्रकार की कही जाती है, जो जैनो के पिण्डस्थ, पदस्थ और रूपस्थ से मिलती-जुलती है। सब वृत्तियो के निरूद्ध होने पर सस्कार-शेप रूप-समाधि असप्रज्ञात समाधि कही जाती है ।[4] इसका साधन परवैराग्य है, क्योकि सालम्ब अभ्यास इसका साधन नही हो सकता । विराम का कारण परवैराग्य, वस्तुहीन आलम्वन के सहारे प्रवृत्त होता है । उसमे कुछ भी चिन्त्य पदार्थ नही रहता । वह अर्थ-शून्य है और उसका अभ्यासी चित्त निरालम्व और अभावापन्न-सा होता है । इस प्रकार की निर्वीज समाधि ही असप्रज्ञात समाधि कही जाती है ।[5] इसे ही जैन लोग निर्विकल्पक समाधि कहते हैं । समाधि का यह द्विविध वर्गीकरण वौद्धो मे 'उपचार' और 'अर्पणा' के नाम से स्वीकार किया गया है । 'विसुद्धिमग्ग' मे उपचार-समाधि की परिभाषा लिखी है— कुसलचित्तेकग्गता समाधि[6],— कुशलचित्त मे, अर्थात् शुद्ध आत्मा मे, मन के एकाग्र होने को समाधि कहते हैं । इस सूत्र की व्याख्या से स्पष्ट है कि यह सालम्व समाधि है । व्याख्या इस प्रकार है— एकारम्मणे चित्तचेतसिकान सम सम्मा च आधान समाधानम्[7], अर्थात् एक आलम्वन मे

---

१ देखिये योगसूत्र, ३।३

२ योगसूत्र ३।३ का व्यास-भाष्य ।

३ पातञ्चल योगदर्शन, भागीरथ मिश्र-सम्पादित, श्री मद् हरिहरानन्द-कृत हिन्दी-व्याख्या पृ० २१४, लखनऊ वि० वि० ।

४ देखिये योगसूत्र, १।१८ ।

५ देखिये, योगसूत्र, १।१८ का व्यास-भाष्य ।

६ आचार्य वुद्धघोप, विसुद्धिमग्ग, कौसाम्वीजी की दीपिका के साथ, तृतीया परिच्छेद, पृ० ५७ ।

७ आचार्य वुद्धघोप, विसुद्धिमग्ग, तृतीय परिच्छेद, पृ० ५७ ।

चित्त और चित्त की वृत्तियो का समान और सम्यक् स्थित होना समाधान है। —समाधानट्ठेन समाधि, अर्थात् समाधानार्थ ही समाधि है। यहाँ 'एकारम्मणे' के द्वारा आलम्बन की बात स्पष्ट ही झलकती है। अर्पणा-समाधि वह है, जिसमे आलम्बन के मान की आवश्यकता नही होती और मन निरवलम्ब मे ही टिकता है।

जैन आचार्यो ने योगसूत्र की भाँति, निर्विकल्पक समाधि मे आत्मविस्मृत हो जाने की बात स्वीकार नही की। वहाँ तो योगी सोता नही, अपितु जागरूक होता है। वह मोक्ष तक की इच्छा-कामनाओ को छोडकर अपने शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लेता है। आत्म-विस्मृति गीता की 'समाधि' मे भी नही होती। श्री अरविन्द ने लिखा है, समाधिस्थ मनुष्य का लक्षण यह नही है कि उसको विपयो, परिस्थितियो, मनोमय और अन्नमय पुरुप का होश ही नही रहता और शरीर को जलाने तथा पीडित करने पर भी इस चेतना मे लौटाया नही जा सकता, जैसा कि साधारणतया लोग समझते है, इस प्रकार की समाधि तो चेतना की एक विशिष्ट प्रकार की प्रगाढता है, यह समाधि का मूल लक्षण नही। समाधि की कसौटी है— सव कामनाओ का वहिष्कार, किसी भी कामना का मन पर चढाई न कर सकना, और यह वह आन्तरिक अवस्था है जिससे स्वतन्त्रता उत्पन्न होती है। आत्मा का आनन्द अपने ही अन्दर जमा रहता है और मन सम, स्थिर तथा ऊपर की भूमिका मे ही अवस्थित रहता हुआ आकर्षणो और विकर्षणो से तथा वाह्य जीवन के घडी-घडी वदलने वाले आलोक, अन्धकार, तूफानो तथा झझटो से निर्लिप्त रहता है।[1] यौगिक समाधि से गीता की समाधि सर्वथा भिन्न है। गीता मे कर्म सर्वोच्च अवस्था तक पहुँचने का साधन है और मोक्ष-लाभ कर चुकने के वाद भी वह बना रहता है, जब कि राजयोग मे सिद्धि के प्राप्त होते ही कर्म की कोई आवश्यकता नही रह जाती।[2]

पातञ्जल समाधि मे पवन को वाञ्छापूर्वक अवरूद्ध करना पडता है, किन्तु जैनो के ध्यानी मुनियो को पवन रोकने का यत्न नही करना पडता। बिना ही यत्न के पवन रुक जाता है और मन अचल हो जाता है-- ऐसा समाधि का प्रभाव है। 'पाञ्जल योग' मे समाधि को शून्य-रूप कहा है, किन्तु जैन ऐसा नही मानते, क्योकि जब विभावो की शून्यता हो जायेगी, तब वस्तु का ही अभाव हो

---

१ अरविन्द, गीता-प्रवन्ध, प्रथम भाग, पृ० १८७-१८८।

२ देखिये, वही, पृ० १३३।

जायेगा। योगसूत्र मे अम्बर का अर्थ आकाश लिया गया है, तब जनो ने आत्म-स्वरूप को अम्बर, अर्थात् शून्य कहा है। "जैसे आकाश द्रव्य सब द्रव्यो से भरा हुआ है, परन्तु सबसे शून्य अपने स्वरूप मे है, उसी प्रकार चिद्रूप आत्मा रागादि सब उपाधियो से रहित है, शून्य-रूप है, इसलिए आकाश शब्द का अर्थ शुद्ध आत्म-स्वरूप लेना चाहिए।"[1]

समाधि और भक्ति

योगसूत्र मे ईश्वर-प्रणिधान को ही समाधि का कारण माना है।[2] ईश्वर का अर्थ है 'पुरुष-विशेष', जो पूर्वजो का भी गुरु है और जिसमे निरतिशय सर्वज्ञ के बीज सदैव प्रस्तुत रहते हैं। प्रणिधान का अर्थ है— भक्ति। ईश्वर की भक्ति से समाधि के मार्ग मे आने वाली सभी बाधाएँ शान्त हो जाती हैं। प्रणव का जाप, मन्त्रोच्चारण और अर्थ-भावन इसी ईश्वर-भक्ति के द्योतक हैं।[3] गीता मे भी भक्ति को योग की प्रेरणा-शक्ति के रूप मे स्वीकार किया गया है। गीता की व्याख्या करते हुए श्री अरविन्द ने लिखा है, यह योग उस सत्य की साधना है, जिसका ज्ञान दर्शन कराता है और इस साधना की प्रेरक शक्ति है— एक प्रकाश-मान शक्ति, एक शान्त या उग्र आत्मसमर्पण का भाव–उस परमात्मा के प्रति, जिन्हे ज्ञान पुरुषोत्तम के रूप मे देखता है।"[4] जैन शास्त्रो मे धर्म्य ध्यान के चार भेद किये गए हैं, जिनमे सबसे पहला है 'आज्ञा-विचय'।[5] 'विवेक' और 'विचारणा' विचय के पर्यायवाची नाम हैं। आज्ञा-विचय का अर्थ है— भगवान जिन की आज्ञा मे अटूट श्रद्धा करना। आज्ञा सर्वज्ञ-प्रणीत आगम को कहते हैं। आचार्य पूज्यपाद ने कहा है, "तान्यथावादिनो जिना इति गहनपदार्थश्रद्धानाद वधारणमाज्ञाविचय"।[6] अर्थात् भगवान् जिन अन्यथावादी नही होते, इस प्रकार गहन पदार्थ के श्रद्धान द्वारा अर्थ का अवधारण करना आज्ञा-विचय धर्म्य

---

१ आचार्य योगीन्दु, परमात्मप्रकाश, डा० ए० एन० उपाध्ये-सम्पादित, १६४वें दोहे का हिन्दी-भावार्थ, पृ० ३०८, बम्बई

२ पातञ्जल गोगदर्शन, १।२३, पृ० ४६

३ पातञ्जल योगदर्शन, १।२४-२८, पृ० ५०-६०

४ अरविन्द, गीता-प्रबन्ध, भाग १, पृ० १३४

५ आज्ञापाय-विपाक-सस्थानविचयाय धर्म्यम्।—तत्त्वार्थसूत्र ६।३६

६ आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि, प० फूलचन्द शास्त्रि-सम्पादित, पृ० ४४६, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

ध्यान है। आज्ञा-विचय के दूसरे अर्थ का उद्भावन करते हुए आचार्य ने कहा है, "भगवान् जिन के तत्व का समर्थन करने के लिए जो तर्क, नय और प्रमाण की योजना-रूप निरन्तर चिन्तन होता है, वह सर्वज्ञ की आज्ञा को प्रकाशित करने वाला होने से आज्ञा-विचय कहलाता है।"[1] प्रत्येक दशा मे भगवान् जिन और उनकी आज्ञा पर पूर्ण श्रद्धा की बात है। इस भाँति धर्म्य ध्यान, जिसे मोक्ष-मार्ग का साक्षात् हेतु कहा गया है, भगवान जिन मे श्रद्धा करने की बात कहता है। यह बात गीता के आत्म-समर्पण तथा पातञ्जल योग के ईश्वर-प्रणिधान से किसी दशा मे कम नही है। तीनो ही भक्ति और समाधि के स्थायी सम्बन्ध की घोषणा करते है।

सालम्ब समाधि के प्रकरण मे रूपस्थ ध्यान की बात कही जा चुकी है। समवशरण मे विराजित भगवान अर्हन्त ही रूपस्थ हैं। रूपस्थ इसलिए है कि उनके रूप है और आकार है। रूपस्थ ध्यान मे ऐसे 'रूपस्थ' पर मन को टिकाना होता है। किन्तु इसके पूर्व मन का उधर झुकना अनिवार्य है, और मन श्रद्धा के बिना नही झुक सकता, अत मन की एकाग्रता के पूर्व श्रद्धा का होना अनिवार्य है। अर्हन्त की पूजा, स्तुति और प्रार्थना आदि मे लगी हुई एकाग्रता और इस ध्यान वाली एकाग्रता मे बाह्य रूप से कुछ भी अन्तर हो, किन्तु दोनो ही के मूल मे अगाध श्रद्धा की भूमिका है। श्रद्धा भक्ति-रस का स्थायी भाव है। पदस्थ ध्यान मे एक अक्षर को आदि लेकर अनेक मन्त्रो का उच्चारण करते हुए 'पच परमेष्ठी' का ध्यान किया जाता है। मन्त्रो के उच्चारण की एकतानता मे आराध्य के प्रति मन की जो एकाग्रता पुष्ट होती है, वह ध्यान वाली एकाग्रता से कम नही है। मन्त्रोच्चारण, स्तुति-स्तवन, पूजा-अर्चा और ध्यान आदि सभी भक्ति की विभिन्न शैलियाँ हैं, जो श्रद्धा के प्रेरणा-स्रोत से ही सदैव सञ्चालित होती हैं।

सामायिक भी एक प्रकार का ध्यान है, जिसका निर्देशन उन गृहस्थ श्रावको के लिए हुआ है, जो साधु नही हो सके हैं। श्रावक के शिक्षाव्रतो मे इसका प्रथम स्थान है। सामायिक के स्वरूप से स्पष्ट है कि वह भक्ति का ही एक अग-मात्र है। सामायिक मे भी, गृहस्थ श्रावक को अपना मन 'पच परमेष्ठी

---

१. 'तत्त्वसमर्थनार्थं तर्कनयप्रमाणयोजनपर स्मृतिसमन्वाहार सर्वज्ञाज्ञाप्रकाशनार्थत्वादाज्ञा-विचय इत्युच्यते।'

—आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि, ९।३६ का भाष्य, पृ० ४४९

पर केन्द्रित करना पडता है । 'चरित्तपाहुड' की छव्वीसवी गाथा का हिन्दी अनुवाद करते हुए प० जयचन्द छाबडा ने लिखा है, "सामायिक अर्थात् राग-द्वेष को त्याग कर, गृहारम्भ-सम्वन्धी सर्व प्रकार की पाप-क्रिया से निवृत्त होकर, एकान्त स्थान मे बैठकर अपने आत्मिक स्वरूप का चिन्तवन करना व 'पच परमेष्ठी' का भक्ति-पाठ पढना, उनकी वन्दना करना, यह प्रथम शिक्षा-व्रत है ।"[1] इस प्रकार आचार्य वसुनन्दि ने जिन धर्म और जिन-वन्दना[2] को सामायिक कहा है और आचार्य श्रुतसागर ने समता के चिन्तवन को सामायिक कहा है ।[3] आचार्य अमितगति सूरि के 'सामायिक-पाठ' मे निबद्ध श्लोक भक्ति के ही निदर्शक हैं । एक स्थान पर उन्होने लिखा है, "जैसे अन्धकार-समूह सूर्य को छू भी नही पाते, वैसे ही कर्म कलक जिसके पास फटक भी नही सकते, ऐसे नित्य और निरञ्जन भगवान् की शरण मे मैं जाता हूँ ।"[4] एक दूसरे स्थान पर उन्होने भगवान् को हृदय मे स्थापित करने की भावना भाते हुए लिखा है, "बडे-बडे मुनियो के समूह जिसका स्मरण करते हैं, सब नर नारी और देवताओ के इन्द्र जिसकी स्तुति करते हैं, तथा वेद और पुराण शास्त्र जिसके गीतो को गाते हुए नही रुकते, ऐसे देवो के देव भगवान् हमारे हृदय मे विराजमान हो ।"[5]

---

१ आचार्य कुन्दकुन्द, षट्पाहुड मे चरित्तपाहुड, २६वी गाथा का हिन्दी-अनुवाद, प्रकाशक सूरजभान वकील, देववद ।

२ आचार्य वसुनन्दि, वसुनन्दिश्रावकाचार, गाथा २७४-७५, पृ० १०७ भारतीय ज्ञानपीठ, काशी ।

३ देववन्दनाया नि सक्लेश सर्वप्राणिसमताचिन्तन सामायिकमित्यर्थ ।

—आचार्य श्रुतसागर, तत्त्वार्थवृत्ति, ७।२१ का भाष्य, पृ० २४५, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

४ न स्पृश्यते कर्मकलङ्कदाषै , यो ध्वान्तसघैरिव तिग्मरश्मि ।
निरञ्जनम् नित्यमनेकमेकम्, त देवमाप्त शरण प्रपद्ये ।।

—अमितगतिसूरि, सामायिक पाठ, ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जैन-सम्पादित, १८वा श्लोक, पृ० १७ धर्मपुरा, देहली ।

५ य स्मर्यते सर्वमुनीन्द्रवृन्दै , य स्तूयते सर्वनरामरेन्द्रै ।
यो गायते वेदपुराणशास्त्रै , स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ।।

—देखिये वही, १२वा श्लोक, पृ० १४

समाधिमरण और उसके भेद

समाधिमरण दो शब्दो-समाधि और मरण से मिलकर बना है। इसका अर्थ है— समाधिपूर्वक मरना। शुद्ध आत्मस्वरूप पर मन को केन्द्रित करते हुए प्राणो का विसर्जन समाधिमरण कहलाता है। सभी धर्मों के आचार्यों ने जीव के अन्त-काल को अत्यधिक महत्त्व दिया है। जैन आचार्यों ने तो यहाँ तक लिखा है कि जीवन-भर की तपस्या व्यर्थ हो जाती है, यदि अन्त समय मे राग-द्वेष को छोडकर समाधि धारण न की। आचार्य समन्तभद्र का कथन है— अन्तक्रियाधिकरण तप फल सकलदर्शिन स्तुवते। तस्माद्यावद्विभव समाधिमरणे प्रयतितव्यम्।[६] अर्थात् तप का फल अन्तक्रिया के आधार पर अवलम्बित है, ऐसा सर्वदर्शी सर्वज्ञ देव ने कहा है। इसलिए यथासामर्थ्य समाधिमरण मे प्रयत्नशील होना चाहिए। श्री शिवार्यकोटि ने 'भगवती-आराधना' मे लिखा है— सुचिरामिवणिरदिवार विहरित्ता णाण दसण चरित्ते। मरणे विराधयित्ता अनतससारिओ दिट्ठो।[७] अर्थात् दर्शन, ज्ञान और चरित्र-रूप धर्म मे चिरकाल तक निरतिचार प्रवृत्ति करने वाला मनुष्य भी यदि मरण के समय उस धर्म की विराधना कर बैठता है, तो वह ससार मे अनन्त काल तक घूम सकता है। समाधिमरण का विधान सभी के लिये है।

समाधिमरण के पाँच भेद है— पण्डितपण्डित, पण्डित, बालपण्डित, बाल और बाल-बाल। इनमे से प्रथम तीन अच्छे और अवशिष्ट दो बुरे है। बाल-बाल मरण मिथ्यादृष्टि जीवो के, बाल-मरण अवरित सम्यग्दृष्टियो के, बाल-पण्डित मरण देशव्रतियो (श्रावको) के, पण्डित-मरण सकल सयमी साधुओ के और पण्डित पण्डित-मरण क्षीणकषाय केवलियो के होता है। पण्डितमरण के भी तीन भेद है— पहला 'भक्त-प्रत्याख्यान' कहलाता है। भक्त नाम भोजन का है, उसे शनै-शनै छोड कर जो शरीर का त्याग किया जाता है, उसे भक्त-प्रत्याख्यान मरण कहते है। भक्त-प्रत्याख्यान करने वाला साधु अपने शरीर की सेवा-टहल या वैय्यावृत्य स्वय अपने हाथ से भी करता है, और यदि दूसरा करे, तो उसे भी स्वीकार कर लेता है। दूसरा 'इगिनीमरण' है, जिसमे और तो सब 'भक्त-प्रत्याख्यान' के समान ही होता है, किन्तु दूसरे के द्वारा वैय्यावृत्य स्वीकार नही

---

६ आचार्य समन्तभद्र, समीचीनधर्मशास्त्र, ६।१२, पृ० १६३, वीर-सेवा मन्दिर, दिल्ली

शिवार्यकोटि, भगवती-आराधना, गाथा १५, मुनि अनन्तकीर्ति दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, हीरावाग, वम्वई

की जाती। तीसरा 'पादोपगमन मरण' है। इसे धारण करने वाले के लिए किसी प्रकार की वैय्यावृत्य का प्रश्न ही नही उठता। इसमे तो मरण-पर्यन्त प्रतिमा के समान किसी शिला पर तदवस्थ रहना होता है।[1]

सल्लेखना की व्याख्या

'समाधि-मरण' के अर्थ मे ही 'सल्लेखना' का प्रयोग होता है। सल्लेखना पद 'सत्' और 'लेखना' दो शब्दो से मिलकर बना है। सत् का अर्थ है सम्यक् और लेखना का अर्थ है कृश करना, अर्थात् सम्यक् प्रकार से कृश करना। बुरे को ही क्षीण करने का प्रयास किया जाता है, अच्छे को नही। जैन सिद्धान्त मे काय और कषाय को अत्यधिक बुरा कहा गया है, अत उन्हे कृश करना ही सल्लेखना है। आचार्य पूज्यपाद ने 'सम्यक्कायकषायलेखना'[2] को और आचार्य श्रुतसागर ने 'सत् सम्यक् लेखना कायस्य कषायाणा च कृशीकरण तनूकरण'[3] को सल्लेखना कहा है।

मरण-काल के उपस्थित होने पर ही सल्लेखना धारण की जाती है। आचार्य उमास्वाति ने लिखा है— "मारणान्तिकी सल्लेखना जोषिता,"[4] अर्थात् मरण-काल आने पर गृहस्थ को प्रीतिपूर्वक सल्लेखना धारण करनी चाहिए। श्री उमास्वाति के इस सूत्र पर आचार्य पूज्यपाद की 'सर्वार्थसिद्धि', भट्टाकलक की 'राजवार्त्तिक' और श्रुतसागर सूरि की 'तत्वार्थवृत्ति' भाष्य-रूप मे देखी जा सकती है। वहाँ इस सूत्र के प्रत्येक पद की व्याख्या विस्तारपूर्वक की गई है। सभी ने 'जोपिता' का प्रतिपादन प्रीतिपूर्वक धारण करने के अर्थ मे ही किया है। आचार्य समन्तभद्र ने 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' मे लिखा है— उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजाया च नि प्रतीकारे। धर्माय तनुविमोचनमाहु सल्लेखनामार्या।[5] अर्थात्, प्रतिकार-रहित असाध्य दशा को प्राप्त हुए उपसर्ग, दुर्भिक्ष, जरा तथा रोग की

---

१ समाधिमरण के भेदो के लिए देखिये, वट्टकेरि-कृत मूलाचार और शिवार्यकोटि-कृत भगवती-आराधना।

२ आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि, ७।२२ का भाष्य, पृ० ३६३, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।

३ आचार्य श्रुतसागर, तत्वार्थवृत्ति, ७।२२ का भाष्य, पृ० २४६, भारतीय ज्ञानपाठी, काशी।

४ आचार्य उमास्वाति, तत्वार्थसूत्र, प० कैलाशचन्द सम्पादित, ७।२२, पृ० १६८, चौरासी, मथुरा।

५ आचार्य समन्तभद्र, समीचीन धर्मशास्त्र, ६।१, पृ० १६०।

दशा मे और ऐसे दूसरे किसी कारण के उपस्थित होने पर जो धर्मार्थ देह का सत्याग है, उसे सल्लेखना कहते हैं।

काय और कषाय को क्षीण करने के कारण सल्लेखना दो प्रकार की होती है— काय-सल्लेखना, जिसे बाह्य सल्लेखना भी कहते है, और कषाय-सल्लेखना, जिसे आभ्यन्तर सल्लेखना कहते हैं। श्री शिवार्यकोटि ने 'भगवती-आराधना' मे लिखा है— एव कदपरिकम्मो अब्भतर वाहिरम्मि सल्लिहणे। ससार मोक्खवुद्वी, सब्बवरिल्ल तव कुणदि। अर्थात् "ऐसे आभ्यन्तर सल्लेखना और वाह्य सल्लेखना ताके विषय बध्या है परिकर जाकै, अर ससार तै छूटने की है बुद्धि जाकी, ऐसा साधु सो सर्वोत्कृष्ट तप कूँ करै है।"[1] इन्ही दो भेदो का निरूपण करते हुए आचार्य पूज्यपाद का कथन है—कायस्य वाह्यस्याभ्यन्तराणा च कषायाणा तत्कारणहापनक्रमेण सम्यग्लेखना सल्लेखना[2], अर्थात्, वाहरी शरीर और भीतरी कषायो को पुष्ट करने वाले कारणो को शनै-शनै घटाते हुए, उनको भले प्रकार कृश करना सल्लेखना है। आचार्य श्रुतसागर ने तो स्पष्ट ही कहा है– कायस्य लेखना बाह्यसल्लेखना। कषायाणा सल्लेखना अभ्यन्तरा सल्लेखना[3] अर्थात् काय की सल्लेखना बाह्य सल्लेखना और कषायो की सल्लेखना आभ्यन्तर सल्लेखना कही जाती है। काय वाह्य है और कषाय आन्तरिक।

आचार्य कुन्दकुन्द ने शिक्षाव्रतो के चार भेद माने है, जिनमे चौथी सल्लेखना है।[4] श्री शिवार्य कोटि, देवसेनाचार्य, जिनसेनाचार्य और वसुनन्दि सैद्धान्तिक ने भी सल्लेखना को शिक्षाव्रतो मे ही शामिल किया है। दूसरी ओर, आचार्य उमास्वाति ने सल्लेखना को शिक्षाव्रतो मे तो क्या, श्रावक के बारह व्रतो मे भी नही गिना और एक पृथक् धर्म के रूप मे ही उसका प्रतिपादन किया। आचार्य समन्तभद्र, पूज्यपाद, अकलकदेव, विद्यानन्दी सोमदेवसूरि, अमितगति और स्वामी कार्तिकेय आदि ने आचार्य उमास्वाति के शासन को स्वीकार किया

---

१. शिवार्यकोटि, भगवती-आराधना, हिन्दी-अनुवाद सहित, गाथा ७५, पृ० ४०, अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला, हीराबाग, बम्बई।

२ आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि, ७।२२, पृ० ३६३

३ आचार्य श्रुतसागर, तत्वार्थवृत्ति, ७।२२ का भाष्य, पृ० २४४

४ सामाइय च पढय विदिय च तहेव पोसह भणिय।
वइय अतिहि पुज्ज चउत्थ सलेहणा अन्ते॥
—चरित्तपाहुड, गाथा २६, पृ० २८

ह। इन आचार्यों का कथन है कि 'शिक्षा' अभ्यास को कहते है और सल्लेखना मरण-समय उपस्थित होने पर धारण की जाती है, अत उसमे अभ्यास का समय ही नही रहता, फिर शिक्षा-व्रतो मे उसकी गणना क्यो कर सम्भव हो सकती है ? इसके अतिरिक्त, यदि सल्लेखना को श्रावक के बारह व्रतो मे गिना जाय तो श्रावक को आगे की प्रतिमाएँ धारण करने के लिए जीवनावकाश ही न मिल सकेगा। सम्भवत इसी कारण श्री उमास्वाति आदि आचार्यों ने सल्लेखना को श्रावक-व्रतो से पृथक् धर्म के रूप मे प्रतिपादित किया है।[1]

सल्लेखना और समाधिमरण

जैन शास्त्रो के अनुसार सल्लेखना और समाधिमरण पर्यायवाची शब्द हैं। दोनो की क्रिया-प्रक्रिया और नियम-उपनियम एक से हैं। आचार्य समन्तभद्र ने 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' के छठे अध्याय की पहली कारिका मे सल्लेखना का लक्षण लिखा, और दूसरी कारिका मे उसी के लिए समाधिमरण का प्रयोग किया। श्री शिवार्यकोटि की 'भगवती-अराधना' मे, अनेको स्थानो पर सल्लेखना और समाधिमरण का प्राय एक ही अर्थ मे प्रयोग किया गया है। आचार्य उमास्वाति ने श्रावक और मुनि, दोनो ही के लिए सल्लेखना का प्रतिपादन कर, मानो सल्लेखना और समाधिमरण का भेद ही मिटा दिया है। किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द समाधिमरण साधु के लिए और सल्लेखना गृहस्थ के लिए मानते थे। यह सच है कि 'मृत्यु' समय एक साधु शुद्ध आत्मस्वरूप पर, अपने मन को जितना एकाग्र कर सकता है, उतना गृहस्थ नही। इस समय तक साधु अभ्यास और वैराग्य के द्वारा समाधि धारण करने मे निपुण हो चुकता है। समाधि मे एकाग्रता अधिक है, सल्लेखना मे नही।

समाधिमरण और आत्म-वध

भारत के कुछ विद्वान, जैन मुनि के समाधिमरण को आत्म-घात मानते हैं। आत्म-घात का शाब्दिक अर्थ है आत्मा का घात, किन्तु जैन दर्शन ने आत्मा को शाश्वत सिद्ध किया है। "आत्मा एक रूप से त्रिकाल मे रह सकने वाला नित्य पदार्थ है। जिस पदार्थ की उत्पत्ति किसी भी सयोग से न हो सकती हो, वह पदार्थ नित्य होता है। आत्मा किसी भी सयोग से उत्पन्न हो सकती है, ऐसा मालूम नही होता, क्योकि जड के चाहे कितने भी सयोग क्यो न करो, तो भी

---

१ प० जुगलकिशोर मुख्तार, जैनाचार्यों का शासन-भेद, पृ० ४३ से ५७ तक

उसमे चेतन की उत्पत्ति नही हो सकती ।"[1] भावलिङ्गी मुनि सदैव विचार करता है, "मेरी आत्मा एक है, शाश्वत है और ज्ञान-दर्शन ही उसका लक्षण है । अन्य समस्त भाव बाह्य है ।"[2] इस भाति नित्य आत्मा का घात किसी भी दशा मे सम्भव नही है ।

आत्मघात का प्रचलित अर्थ है—राग, द्वेष या मोह के कारण, विष, शस्त्र या अन्य किसी उपाय से, अपने इस जीवन को समाप्त कर लेना ।[3] किन्तु जैन मुनि की समाधि न तो राग-द्वेष का परिणाम है, और न मोह का भावावेश । जैन आचार्यों ने समाधिमरण धारण करने वाले से स्पष्ट कहा है—यदि रोगादि कष्टो से घबडाकर शीघ्र ही समाप्त होने की इच्छा करोगे अथवा समाधि के द्वारा इन्द्रादि पदो की अभिवाञ्छा करोगे, तो तुम्हारी समाधि विकृत है ।[4] इससे लक्ष्य तक न पहुँच सकोगे । मृत्यु-समय समाधि धारण करने वाले जीव का भाव अपने को समाप्त करना नही, अपितु शुद्ध आत्म-चैतन्य को उपलब्ध करना होता है । वह मृत्यु को बुलाने का प्रयास नही करता, अपितु वह स्वय आती है । उसका 'समाधिमरण', आने वाले के स्वागत की तैयारी-मात्र है ।

समाधिमरण मे चिदानन्द को प्राप्त करने के लिए शरीर के मोह को छोडना होता है । किन्तु शरीर का मोहत्याग और आत्मघात दोनो एक ही बात नही है । पहिले मे ससार की वास्तविकता को समझ कर शरीर से ममत्व हटाने की बात है, और दूसरे मे ससार से घबडाकर शरीर को समाप्त करने का प्रयास है । पहले मे सात्विकता है, तो दूसरे मे तामसिकता । एक मे ज्ञान का प्रकाश है, तो दूसरे मे अज्ञान का अन्धकार । मोह त्याग मे सयम है, तो आत्मघात मे असयम । समाधिमरण का उद्देश्य मोह-त्याग भी नही, अपितु आत्मानन्द प्राप्त करना है । आत्मस्वरूप पर मन को केन्द्रित करते ही मोह तो स्वय ही दूर हो

---

१ श्रीमद् राजचन्द्र, डा० जगदीशचन्द्र जैन-सम्पादित, पृ० ३०७

२ एगो से सास्सदो अप्पा णाण दसण लक्खणो ।
सेसा मे बाहिराभावा सव्वे सजोगलक्खणा ।।
—आचार्य कुन्दकुन्द, भावप्राभृत, गाथा ५९।

३ रागद्वेषमोहाविष्टस्यहि विषशस्त्राद्युपकरणप्रयोगवशादात्मान घ्नत स्वघातो भवति ।
—आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि, पृ० ३६३

४ जीवितमरणाशसा-मित्रानुराग-सुखानुबन्ध निदानानि ।
—तत्त्वार्थ-सूत्र ७।३७

जाता है।[1] उसे नष्ट करने का प्रयास नही करना पडता। परम समाधि मे तो सभी इच्छाएँ विलीन हो जाती है, यहा तक कि आत्मा के साक्षात्कार की अभिलाषा भी नही रहती। इसके अतिरिक्त जैन आगमो मे आयु-कर्म को बहुत प्रबल माना गया है। चार घातिया कर्मों को जीतने वाले अर्हन्त को भी आयु-कर्म को बिल्कुल क्षीण होने तक इस ससार मे रुकना पडता है। इस तथ्य को जानने वाला जैन मुनि आत्म-घात का प्रयत्न नही कर सकता। तीर्थंकर का स्पष्ट निर्देश है कि आत्मघात करने वाला नरकगामी होता है।

जैन शास्त्रो मे समाधिमरण का उल्लेख

प्राकृत भाषा के 'दिगम्वर प्रतिक्रमण-सूत्र' मे 'पण्डितमरण' शब्द का प्रयोग हुआ है। वहा उसके तीन भेदो का भी विशद वर्णन है। यह 'प्रतिक्रमण सूत्र' गौतम गणधर द्वारा रचित माना जाता है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने अपनी सभी प्राकृत भक्तियो के अन्त मे भगवान् जिनेन्द्र से—"दुक्खक्खओ कम्मक्खओ बोहिलाहो, सुगइगमण समाहिमरण जिणगुण सम्पत्ति होउ मज्झ" के द्वारा समाधिमरण की याञ्चा की है। अनगारो की वन्दना करते हुए उन्होने लिखा है, एव मएऽमित्थुया अणयारा रागदोसपरिमुद्धा सघस्स वरसमाहिं मज्झवि-दुक्खक्खय दितु।[2] वट्टकेरस्वामीकृत 'मूलाचार' मे भी अनेको स्थानो पर समाधिमरण का प्रयोग हुआ है।

श्री यतिवृषभाचार्य ने 'तिलोयपण्णति' के चउत्थमहाधिकार' मे कत्तिय बहुल्लसते सादीसु दिणयरम्मि उग्गमिए। कियसण्णा सा सव्वे पावति समाहि-मरण हि[3] गाथा की रचना की है, इससे समाधिमरण प्राप्त करने की अभिलाषा स्पष्ट है।

श्री शिवार्यकोटि की 'भगवती-आराधना' समाधिमरण का ही ग्रन्थ है। इसमे समाधिमरण-सम्बन्धी नियम-उपनियमो और भेद-प्रभेदो का विस्तार के

---

१ परमात्मप्रकाश, दोहा, पृ० ३२८

२ देखिये आचार्य कुन्दकुन्द-कृत योगिभक्ति, गाथा २३, दश-भक्ति, आचार्य प्रभाचन्द्र की सस्कृत-टीका और प० जिनदास पार्श्वनाथ के मराठी-अनुवाद सहित, पृ० १८६, शोलापुर, १६२१ ई०

३ आचार्य यतिवृषभ, तिलोयपण्णत्ति, डा० ए० एन० उपाध्ये-सम्पादित, चउत्थ महाधिकार, १५३१ वी गाथा, पृ० २४५, जैन सस्कृति सरक्षक सघ, शोलापुर, १६४३ ई०

साथ वर्णन हुआ है। इस विषय का ऐसा असाधारण ग्रन्थ दूसरा नही है। इसमे शौरसेनी प्राकृत की इक्कीस सो सत्तर गाथाएँ है। ग्रन्थ के अन्त मे लिखा है—"भक्ति से वर्णन की गई यह भगवती आराधना सघ को तथा मुझको उत्तम समाधि का वर प्रदान करे। अर्थात्, इसके प्रसाद से मेरा तथा सघ के सभी प्राणियो का समाधिपूर्वक मरण होवे।"[1]

'चेइयवदणमहाभास' मे 'दुक्खक्खओ की कई गाथाओ की व्याख्या की गई है। 'समाहिमरण' का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है— भन्नइ समाहिमरण, रागद्दोसेहिं विप्पमुक्काण। देहस्सपरिच्चाओ भवतकारी चरित्तीण[2]—अर्थात् राग-द्वेष से विनिर्मुक्त चरित्रधारियो का भवान्तकारी देह का परित्याग समाधि-मरण कहा जाता है। 'चेइयवदणमहाभास' प्राचीन प्राकृत गाथाओ का एक सकलन-ग्रन्थ है।

आचार्य समन्तभद्र ने 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' मे तस्माद्यावद्विभव समाधिमरणे प्रयतितव्यम्[3] के द्वारा समाधिमरण का प्रतिपादन किया है। आचार्य पूज्यपाद ने स्व-रचित सस्कृत-भक्तियो मे समाधि-भक्ति पर भी लिखा है। आचार्य जिनसेन ने अपने आदि-पुराण मे लिखा है—"स्वयप्रभा नामक देवी सौमनस वन की पूर्व दिशा के जिन मन्दिर मे चैत्य वृक्ष के नीचे पच परमेष्ठी का भले प्रकार स्मरण करते हुए, समाधिमरण पूर्वक प्राण-त्याग कर स्वर्ग से च्युत हो गई।"[4] उन्होने ही एक दूसरे स्थान पर लिखा है, "जीवन के अन्त समय मे परिग्रह-रहित दिगम्बर-दीक्षा को प्राप्त हुए सुविधि महाराज ने विधि-पूर्वक उत्कृष्ट मोक्ष-मार्ग की आराधना कर समाधिमरणपूर्वक शरीर छोडा, जिससे अच्युत स्वर्ग मे इन्द्र हुए।"[5]

---

१ आराहणा भगवदी एव भत्तीए वण्णिदा सती।
सघस्स सिवज्जस्स च समाहिवरमुत्तम देउ॥
—शिवार्यकोटि, भगवती-आराधना, गाथा २१६८।

२ चेइयवदणमहाभास, श्री शातिसूरि सकलित, मुनि श्री चतुरविजय और प० बेचरदास-सम्पादित, गाथा ८६३, पृ० १५३, श्री जैन आत्मानद सभा, भावनगर, वि० स० १९७७

३ आचार्य समन्तभद्र, रत्नकरण्डश्रावकाचार ६।२, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई

४ भगवज्जिनसेनाचार्य, महापुराण, प्रथम भाग प० पन्नालाल साहित्याचार्य-सम्पादित और अनूदित, ६।५६-५७, पृ० १२४, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

५ देखिये वही, १०।१६-१७०, पृ० २२२

श्री हरिषेणाचार्य वृहत्कथाकोश मे 'जयसेन नृपति कथानकम्' के-"जिनेन्द्र-दीक्षया शुद्ध सर्वत्याग विधाय च । स्मरन् पञ्चनमस्कार धर्मध्यानपरायण ।। स्वीयमुदर हत्वा करवाल्याऽतितीक्ष्णया । समाधिमरण प्राप्य सूरिरेप दिव ययौ ।।"[1] द्वारा और 'शकटाल मुनिकथानकम्' के "तद्वृत्तान्तमिद ज्ञात्वा कृत्वा स्वालोचनाविधिम् । शरीरादिकमुज्झित्वा जपन् पञ्चनमस्कृतिम् ।। आदाय क्षुरिका शान्ता पाटयित्वा निजोदर । समाधिमरण प्राप्य शकटालो दिव ययौ ।"[2] द्वारा प्रमाणित है कि नृपति जयसेन और मुनि शकटाल दोनो ही ने अन्त समय मे समाधिमरण धारण किया था ।

श्री योगीन्दु ने 'परमात्मप्रकाश' मे लिखा है कि मोक्ष-मार्ग मे परिणाम दृढ करने के लिए ज्ञानी जन समाधिमरण की भावना भाते हैं । [3] इस प्रकार महाकवि पुष्पदन्त के 'णायकुमारचरिउ' मे, इसी मोक्खगामी, तुम मज्झ सामी । फुड देहि वोही विसुद्धा समाही । [4] तथा 'त्रिभुवनलिक' मे, 'ण समाहि ण सरसइ ण दय, ण खम पुरिसवेस विहिणा कय' । [5] आदि उल्लेख मिलते हैं ।

जैन पुरातत्व मे समाधिमरण के चिह्न

श्रवणवेल्गोल के शिलालेख क्र० १ से प्रमाणित हो गया है कि श्री भद्रबाहु स्वामी सघ को आगे वढने की आज्ञा देकर आप प्रभाचन्द्र नामक एक शिष्य-सहित कटवप्र पर ठहर गए और उन्होने वही समाधिमरण किया । [6] प्रभाचन्द्र चन्द्रगुप्त का ही नामान्तर या दीक्षा-नाम था । श्रवण वेल्गोल के ही शिलालेख क्र० १७-१८, ४०, ५४ तथा १०८ से भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त दोनो का चन्द्रगिरि से सम्बन्ध स्थापित हो जाता है । [7] राजगिरि पर सप्तपर्ण और सोनभद्र नाम की

---

१ हरिषेणाचार्य, वृहत्कथाकोश, डा० ए० एन० उपाध्ये-सम्पादित १५६।३९-४०, पृ० ३४९, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, भारतीय विद्याभवन, बम्बई

२ देखिये वही, १५७।१३९-४०, पृ० ३५४

३ देखिये परमात्मप्रकाश, पृ० ३२८

४ आचार्य पुष्पदन्त, णायकुमारचरिउ, डॉ० हीरालाल जैन-सम्पादित, द्वितीय परिच्छेद, ३।२०, पृ० १६, जैन पब्लिशिंग सोसाइटी, कारजा, १९३३ ई०

५ देखिये वही, ९ वा परिच्छेद, ४।५ पृ० ९५

६ जैन शिलालेख सग्रह, प्रथम भाग, डॉ० हीरालाल जैन-सम्पादित, पृ० १-२, माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति, वम्बई ।

७ देखिये वही, पृ० क्रमश ६, २४, १०१, २१०

दो गुफाएँ है, जो वैभारगिरि के उत्तर मे एक जैन मन्दिर के नीचे है। सातवी शताब्दी के चीनी यात्री ह्वेनत्साग ने वैभारगिरि पर निर्ग्रन्थ साधुओ को देखा था। इनमे से एक गुफा पर अङ्कित शिलालेख से स्पष्ट है कि मुनि वैरदेव के समय मे वहाँ साधु समाधिमरणपूर्वक निर्वाण प्राप्त करते थे।[1] सितन्नवासल्ल पडुक्कोटा से वायव्यकोण मे नवे मील पर अवस्थित है। यहाँ पर पाषाण के टीलो की गहराई मे जैन गुफाए उत्कीर्णित है। प्रत्येक की लम्बाई ६-४ फुट है। गुफा का क्षेत्रफल १००×५० फुट है।[2] समाधि-शिलाएँ वे स्थान हैं, जिन पर बैठ कर मुनियो ने समाधिमरण-पूर्वक मृत्यु को वरण किया था, महा नवमी-मण्डप के लेख क्र० १२(६६) मे आचार्य नयकीर्ति के समाधि-मरण का सम्वाद है, जो सन् ११७६ मे हुआ था।[3]

समाधिमरणपूर्वक मरने वाले साधु के अन्तिम सस्कार-स्थल को 'नसियाँजी' कहते है। यह जैन परम्परा का अपना शब्द है, जो अन्य किसी परम्परा मे सुनने को नही मिलता। प्राकृत 'णिसीहिया' का अपभ्रश 'निसीहिया हुआ, और वह कालान्तर मे नसिया होकर आजकल नशियाँ के रूप मे व्यवहृत' होने लगा है। सस्कृत मे उसके 'निषीधिका', 'निषिद्धिका' आदि अनेक रूप प्रचलित है। 'बृहत्कल्पसूत्रनिर्युक्ति' की गाथा क्र० ५५११-४२ मे 'निसीहिया' शब्द का प्रयोग हुआ है, तात्पर्य उस स्थान से है, जहाँ क्षपक साधु का समाधि-मरण पूर्वक दाह-सस्कार किया जाता हैं। 'भगवती-आराधना' की टीका मे बतलाया गया है, "जिस स्थान पर समाधिमरण करने वाले क्षपक के शरीर का विसर्जन या अन्तिम सस्कार किया जाता है, उसे निषीधिका कहते है।"[4]

निसीदिया का सवसे पुराना उल्लेख सम्राट् खारवेल के हाथी-गुफा वाले शिलालेख मे हुआ है। इस शिलालेख की १४ वी पक्ति मे ' · कुमारी पवते अरहते परवीण-ससतेहिकाय-निसीदयाय···· ···' और १५ वी पक्ति मे '

---

१ प्राचीन जैन स्मारक, पृ० ११

२ मुनि कान्तिसागर खँडहरो का वैभव, पृ० ६५, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

३. डा० हीरालाल जैन, श्रवणवेल्गोलस्मारक, जैन शिलालेख सग्रह, प्रथम भाग मे निबद्ध पृ० १३।

४ यथा निषाधिका आराधक शरीर-स्थापनास्थानम्।

—मूलाराधना टीका, गाथा १९६७

अरहत निसीदिया समीपे पाभारे' 'पाठ आया है।[1] इससे निषीधिका की प्राचीनता सिद्ध होती है। उससे समाधिमरण की प्राचीनता तो स्वमेव प्रमाणित है। वास्तव मे ये निषीधिकाएँ जैन मुनियो और साधुओ की स्मारक है। वे स्तूप भी इसके पर्यायवाची है, जो समाधिमरण करने वाले किसी महापुरुष की स्मृति मे निर्मित हुए थे। आचार्य स्थूलभद्र ने वी० नि० स० २१९ और ईसा-पूर्व ३११ मे शरीर-त्याग किया। आज भी उनका समाधि-स्थान एक स्तूप के रूप मे पटना मे गुलजार बाग स्टेशन के पिछले भाग मे स्थित है। प्रसिद्ध यात्री श्युआनचुआग ने इसे देखा था।[2] श्रवण वेलगोल के जो लेख प्रकाशित हुए है, उनसे सिद्ध होता है कि वहाँ समाधिमरण से सम्वन्ध रखने वाले मुनि, अर्जिकाओ व श्रावक-श्राविकाओ के लेखयुक्त कई स्मारक है, जिनमे सर्वप्राचीन समाधिमरण का लेख शक० स० ५७२ का है।

समाधिमरण की भावना

जैन परम्परा मे आज भी 'दुक्खक्खओ कम्मक्खओ समाधिमरण च बोहिलाहो वि। मम होउ तिजगवन्धव तव जिणवर चरण सरणेण' की भावना पाई जाती है। समाधिमरण धारण करने वाले का यह आकुल भाव भिन्न-भिन्न युगो, स्थानो और भाषा-उपभाषाओ मे व्यक्त होता रहा है। यहाँ आचार्य पूज्यपाद की समाधि-भक्ति[3] के कतिपय श्लोको को उद्धृत किया जा रहा है। सस्कृत-साहित्य के सभी भक्त-कवियो ने कुछ कम-वढ रूप मे इसी भाव को स्पष्ट किया है

शास्त्राभ्यासो जिनपतिनुति सगति सर्वदार्यै
सद्वृत्ताना गुणगणकथा दोषवादे च मौनम्।
सर्वस्यापि प्रिय-हितवचो भावना चात्मतत्वे
सम्पद्यन्ता मम भवभवे यावदेतेऽपवर्ग ॥२॥

हे भगवन्! मैं भव-भव मे शास्त्राभ्यास, भगवान् जिनेन्द्र की विनती, सदा आर्यों के साथ सगति, अच्छे चरित्र वालो के गुणो का कथन, दूसरो के दोषो के

---

१ जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग १६, किरण २, पृ० १३५-३६

२ मुनि कान्तिसागर, खोज की पगडण्डियाँ, पृ० २४४, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।

३ आचार्य पूज्यपाद, समाधि-भक्ति, सस्कृत भाषा मे है, यह शोलापुर से मुद्रित समाधि भक्ति मे प्रकाशित हो चुकी है।

हे भगवन् जिनदेव ! मेरा बचपन से लेकर आज तक का समय आपके चरणों की सेवा और विनय करते-करते ही व्यतीत हुआ है। इसके उपलक्ष में आपसे मैं यही वर चाहता हूँ कि आज इस समय, जबकि हमारे प्राणों के प्रयाण की वेला आ उपस्थित हुई है, आपके नाम से जटित स्तुति के उच्चारण में मेरा कण्ठ अकुण्ठित न हो।

> तव पादौ मम हृदये मम हृदयं तव पदद्वये लीनम् ।
> तिष्ठतु जिनेन्द्र तावद्यावन्निर्वाण सम्प्राप्तिः ॥७॥

हे जिनेन्द्र ! जब तक मैं निर्वाण प्राप्त करूँ, तब तक आपके चरण-युगल मेरे हृदय मे और मेरा हृदय आपके दोनों चरणों मे लीन बना रहे।

> अनन्तानन्त-ससार-सन्ततिच्छेदकारणम् ।
> जिनराज-पदाम्भोज-स्मरणं शरण मम ॥१४॥
>
> अन्यथाशरण नास्ति त्वमेव शरण मम ।
> तस्मात्कारुण्यभावेन रक्ष रक्ष जिनेश्वर ॥१५॥

भगवान् जिनेन्द्र के चरणकमलो का वह स्मरण, जो अनन्तानन्त ससार-परम्पराओ को काटने मे समर्थ है, मुझ दुखी को शरण देने वाला है। मुझे आपके सिवा और कोई शरण देने वाला नही है, इसलिए हे भगवान् ! कारुण्य भाव से मेरी रक्षा करो।

> नहि त्राता नहि त्राता नहि त्राता जगत्त्रये ।
> वीतरागात्परो देवो न भूतो न भविष्यति ॥१६॥
>
> जिने भक्तिर्जिने भक्तिर्जिने भक्तिर्दिने दिने ।
> सदा मेऽस्तु सदा मेऽस्तु सदा मेऽस्तु भवे भवे ॥१७॥

याचेऽहं याचेऽहं जिन तव चरणारविन्दयोर्भक्तिम् ।
याचेऽहं याचेऽहं पुनरपि तामेव तामेव ।।१८।।

तीनो लोको मे भगवान् वीतराग के अतिरिक्त कोई रक्षा करने वाला नही है। ऐसा देव न कभी भूत मे हुआ और न भविष्यत् मे होगा। भक्त का भगवान् से निवेदन है कि, प्रतिदिन भव-भव मे मुझे भगवान् जिनेन्द्र की भक्ति उपलब्ध हो। हे जिनेन्द्र ! मैं वारम्वार यही प्रार्थना करता हूँ कि आपके चरणारविन्द की भक्ति सदैव प्राप्त होती रहे। मैं पुन -पुन उसी की याचना करता हूँ।

विघ्नौघा प्रलय यान्ति शाकिनीभूतपन्नगा ।
विषो निर्विषता याति स्तूयमाने जिनेश्वरे ।।१९।।

भगवान् जिनेन्द्र की स्तुति करने से विघ्नो के समूह-रूप शाकिनी, भूत और पन्नग सभी विलीन हो जाते है और विप निर्विषता को प्राप्त हो जाता है।

जैन भक्ति-काव्य

यद्यपि हरिभक्तिरसामृतसिन्धु, भक्तिरसायन, नारद भक्तिसूत्र और शाण्डिल्य सूत्रो की भाति जैन परम्परा मे किसी भक्तिसूत्र का निर्माण नही हुआ, किन्तु अनेक जैन सैद्धान्तिक ग्रन्थो मे भक्ति सबधी विवेचन उपलब्ध होता है। आचार्य कुन्द-कुन्द (ईसा की प्रारम्भिक शताब्दिया) ने सिद्ध-भक्ति, श्रुत-भक्ति, चरित्र-भक्ति, योग-भक्ति, आचार्य-भक्ति और निर्वाण-भक्ति पर प्राकृत भाषा में लिखा था। ये भक्तिया प्रभाचन्द्र की सस्कृत टीका और प० जिनदास पार्श्वनाथ के मराठी अनुवाद सहित 'दशभक्ति' नाम की पुस्तक मे, शोलापुर से सन् १६२१ मे प्रकाशित हो चुकी है। इसके अतिरिक्त आचार्य कुन्द-कुन्द के बोध पाहुड और मोक्षपाहुड मे भी भक्तिपरक तत्वो की व्याख्या की गयी है।

आचार्य उमास्वाति (वि० स० दूसरी शताब्दी) के तत्वार्थसूत्र मे श्रद्धा, विनय और वैयावृत्य के सम्बन्ध मे अनेक सूत्रो का निर्माण हुआ है। उन्होने एक सूत्र के द्वारा तीर्थङ्करत्व नाम कर्म के उदय मे भक्ति को कारण कहा है। आचार्य उमास्वाति के इस सूत्र पर आगे के काल मे अनेकानेक भाष्य और वृत्तियो की रचना हुई। इनमे आचार्य पूज्यपाद (वि० स० पाचवी शताब्दी) के 'सर्वार्थसिद्धि', आचार्य अकलक (वि०स० सातवी शताब्दी) के 'तत्वार्थराजवार्तिक' और आचार्य श्रुतसागर (वि० स० १६वी शताब्दी) के 'तत्वार्थवृत्ति' नाम के ग्रन्थ अत्यधिक प्रसिद्ध है। इनमे उपर्युक्त भक्ति सबधी सूत्रो की विशद व्याख्या

की गयी है। इन भाष्यकारो ने यथास्थान मौलिक तथा नवीन बातो का भी समावेश किया है।

उमास्वाति के पश्चात् आचार्य समतभद्र के 'समीचीन धर्म शास्त्र' मे श्रद्धा, विनय वैयावृत्य, जिनेन्द्र और गुरु भक्ति पर तात्विक रूप से विचार किया गया है। वे अपनी परीक्षा की कसौटी पर कसने के उपरान्त ही जिनेन्द्र के परम-भक्त बने थे। उन्होने अपनी श्रद्धा को सुश्रद्धा कहा है। उस समय का भारतीय वातावरण उनके तर्क और पाडित्य का लोहा मानता था।

आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि के अतिरिक्त दश-भक्तियाँ भी सस्कृत मे लिखी हैं। ये सब 'दशभक्ति' नाम की पुस्तक मे प्रकाशित हो चुकी हैं। इन्ही आचार्य के 'समाधितत्र और इष्टोपदेश' मे भी समाधि और गुरुभक्ति से सम्बन्धित अनेक प्रकरण बिखरे पडे हैं। विक्रम की पाचवी शताब्दी के ही आचार्य सिद्धसेन के 'द्वात्रिंशिका स्तोत्र' मे भी भक्ति के विषय मे बहुत कुछ लिखा हुआ मिलता है।

आचार्य योगीन्दु (छठी शताब्दी ईसवी) ने 'परमात्मप्रकाश-योगसार' की रचना की थी। यह अपभ्रंश भाषा का एक महत्वपूर्ण ग्रथ है। इसका प्रकाशन परमश्रुतप्रभावकमण्डल, बम्बई, से हो चुका है। इसमे भगवान सिद्ध और आत्मा की एकरूपता दिखाते हुए उनकी भक्ति का निरूपण किया गया है। डा० ए० एन० उपाध्याय ने इस ग्रथ को रहस्यवादी कहा है।

आचार्य यतिवृषभ (वि० स० छठी शताब्दी) की तिलोयपण्णत्ति (प्राकृत) मे जिनेन्द्र के पचकल्याणक और तत्सम्बन्धी भक्ति का विस्तृत वर्णन किया गया है। उन्होने अकृत्रिम मन्दिरो, देवमूर्तियो, देवियो और देवो की भक्ति के विषय मे पर्याप्त लिखा है। भक्ति के प्रमुख अग वदना का विचार, उत्तराध्यनसूत्र, आवश्यकनिर्युक्ति और वृहत्कल्पभाष्य मे सभी दृष्टियो से किया गया है।

आचार्य शिवार्यकोटि (वि० स० सातवो शताब्दी) के 'भगवती आराधना' ग्रन्थ मे जैन भक्ति पर पर्याप्त सामग्री उपलब्ध होती है। उन्होने जैन धर्म के मूल सिद्धान्तो के आधार से भक्ति का विवेचन किया है। इस विशालकाय ग्रन्थ मे अनेक स्थलो पर पच-परमेष्ठी की श्रद्धा, सेवा, नियम वैयावृत्य और अनुराग परक भक्ति की सार्थकता सिद्ध की गयी है। श्री जिनदास गणी (वि० स० सातवी-आठवी शताब्दी] की निशीथचूर्णि मे "सेवा जा सा भत्ति," कहकर जिनेन्द्र सेवा पर वहुत कुछ लिखा हुआ मिलता है। श्री देवसेन [११वी शती

को पूजा वन्दना से कोई तात्पर्य नही है, क्योकि वे सभी रागो से रहित हैं। निन्दा से भी उनका कोई प्रयोजन नही है, क्योकि उनमे से वैरभाव निकल चुका है। फिर भी उनके पुण्य गुणो का स्मरण भक्त के चित्त को पाप मलो से पवित्र करता है। भगवान् को भक्त के इस स्मरण का भान भी नही होता, किन्तु उन्ही के गुणो के स्मरण से भक्त का चित्त पवित्र वना और पाप-मल धुले। अत वह तो उन्हे कर्त्ता कहता ही है। इसी दृष्टि को लेकर जैन भक्त अपनी रचनाओ मे जिनेन्द्र से कभी याचना करता है, कभी प्रार्थना और कभी विनती।

प्राचीन भक्ति-परक काव्य

स्तुति-स्तोत्र, स्तव-स्तवन, वदना, पूजा और मगलाचरण के रूप मे जैनो का प्राचीन भक्ति-काव्य वहुत अधिक है। यह साहित्य प्राकृत, सस्कृत और अप-भ्रश तीनो ही भाषाओ मे लिखा गया था। प्राकृत का 'जयतिहुअरण स्तोत्त' सवसे अधिक प्राचीन माना जाता है। वृहद्द्रव्यसग्रह' की व्रह्मदेवकृत सस्कृत टीका के आधार पर सिद्ध है कि इसके रचियता भगवान् महावीर के प्रमुख गणधर गौतम थे। भगवान महावीर के समवशरण मे प्रविष्ट होते ही गौतम ने इसी स्तोत्र से उनको नमस्कार किया था। भद्रबाहु स्वामी का 'उवसग्गहर स्तोत्र' भी वहुत प्राचीन है। उसमे भगवान् पार्श्वनाथ की भक्ति से सम्बन्धित पाँच पद्यो की रचना हुई है। भद्रबाहु भगवान महावीर के निर्वाण के १७०वे वर्ष मोक्ष गये थे। आचार्य कुन्द-कुन्द ने भक्ति परक अनेक स्तुतियो का निर्माण प्राकृत भाषा मे ही किया था। उनका उल्लेख ऊपर हो चुका है। इसके अतिरिक्त उन्होने 'तित्थ-परथुति' की भी रचना की थी। इसमे आठ गाथाए है, जिनमे चौबीस तीर्थंकरो की स्तुति की गयो है। इसे 'लोगस्ससूत्त', भी कहते है। मानतुगसूरि (तीसरी सदी ई०) का २१ पद्यात्मक 'भयहर स्तोत्त' भी प्राकृत भाषा का मनोहारी काव्य है।

सस्कृत भाषा मे तो उत्तमोत्तम जैन स्तुति-स्तोत्रो की रचना हुई। आचार्य समन्तभद्र के स्वयम्भू–स्तोत्र तथा स्तुति–विद्या समूचे भारतीय भक्ति साहित्य के जगमगाते रत्न है। हृदय की भक्ति परक ऐसी कोई धडकन नही जो इनमे सफलता के साथ अभिव्यक्त न हुई हो। भाव और कला का ऐसा अनूठा समन्वय भारत के किसी अन्य स्तोत्र मे दृष्टिगोचर नही होता। शकराचार्य के 'भज गोविन्द' और जयदेव के 'गीत गोविन्द' मे स्वरलहरी भले ही मनमोहक हो, किन्तु उनकी भावधारा मे 'स्वयम्भू स्तोत्र' जैसा अजस्र प्रवाह नही है। आचार्य सिद्धसेन (वि० स० पाचवी शताब्दी) के 'कल्याणमन्दिर स्तोत्र', विद्यानन्दि

पात्रकेशरी (ईसा की पाचवी-छठी शताब्दी) के 'बृहत्पंचनमस्कार स्तोत्र' मानतु-गाचार्य (वि०स०सातवी शताब्दी-मुनि चतुर विजय) के 'भक्तामर स्तोत्र', भट्टाकलक (वि० स० सातवी शताब्दी) के अकलक स्तोत्र, वप्पभट्टि (ई० ७४३-८३८) के 'चतुर्विंशति जिन स्तोत्र', धनजय (वि० स० आठवी-नवी शताब्दी) के 'विषापहार स्तोत्र' और आचार्य हेमचन्द्र (जन्म स० ११४५, मृत्यु स० १२२९) के 'वीतराग स्तोत्र' मे भक्ति रस चरम आनन्द की सीमा तक पहुँच गया है। इनमे भी 'भक्तामर स्तोत्र' की ख्याति सबसे अधिक है। इसमे ४८ पद्य है। सादृश्य विधायक उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपको के प्रयोग से बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव की ऐसी सफल अभिव्यक्ति कम स्तोत्रो मे देखी जाती है। भक्त मर स्तोत्र का पढने वाला आज भी भाव विभोर और तन्मय हुए बिना नही रहता ।

कुछ विद्वानो का कथन है कि अपभ्रश मे स्तुति स्तोत्रो का निर्माण नही हुआ। इसी आधार पर वे हिन्दी के भक्ति-काव्य को अपभ्रश से प्रभावित नही मानते। किन्तु जैन भण्डारो की खोज के अधार पर सिद्ध हो चुका है कि सस्कृत और प्राकृत की भाति ही अपभ्रश मे भी स्तोत्र और स्तवनो की रचना हुई थी। कवि धनपाल (वि० स० ११ वी शताब्दी) ने 'सत्यपुरीय महावीर उत्साह,' जिनदत्त सूरि (जन्म ११३२, मृत्यु १२११ वि० स०) ने 'चर्चरी' और 'नवकार-फलकुलक' तथा देवसूरि (जन्म ११५३, मृत्यु १२११ वि० स०) ने 'मुनिचद्रसूरि स्तुति' का निर्माण अपभ्रश मे ही किया था। एक श्री जिनप्रभसूरि हुए हैं, जिनको डा० विण्टरनित्स ने सुलतान फीरोज (वि० स० १२२०-१२९६) का समका-लीन बतलाया है। ये जिनप्रभसूरि, विविध तीर्थकल्प के रचियता जिनप्रभसूरि से भिन्न थे। उन्होने जिनजन्माभिषेक, जिनमहिमा और मुनिसुव्रत स्तोत्रम् की रचना की थी। श्री धर्मघोषसूरि (वि० स० १३०२-१३५७) ने भी महावीर-कलश का निर्माण अपभ्रश मे ही किया था। पाटण के जैन भण्डार मे अपभ्रश का भक्ति-साहित्य इतना अधिक है कि उस पर पृथक खोज की आवश्य-कता है। जैनो मे अनेक कवि ऐसे भी हुए हैं जिन्होने एक स्तोत्र मे छ भाषाओ का प्रयोग किया है। उनमे सोमसुन्दर सूरि (वि० स० १४३०-१४९९) का 'षडभाषामय स्त्रोत्राणि' प्रसिद्ध है। यह जैन-स्तोत्र समुच्चय मे प्रकाशित हो चुका है।

जैन देवियो की भक्ति मे अनेक स्तुति स्तोत्रो की रचना हुई थी। मैने पी० एच० डी० के लिये प्रस्तुत किये गये अपने शोध निवन्ध मे देवी पद्मावती, अम्बिका, चक्रेश्वरी, ज्वालामालिनी, सरस्वती, सच्चिया और कुरुकुल्ला के

पुरातात्विक, ऐतिहासिक और सैद्धातिक विवेचन के साथ-साथ भक्ति परक स्तुति-स्तोत्रो का भी निरूपण किया है । मल्लिषेणसूरि (वि० स० ११वी-१२ वी शताब्दी) ने 'भैरव पद्मावतीकल्प' की रचना की जो देवी पद्मावती से सम्बन्धित महत्वपूर्ण ग्रन्थ है । इसके १० अध्यायो मे ४०० श्लोक निबद्ध हुए हैं । इसका तीसरा अध्याय 'भगवती अराधना' के नाम से गू था गया है । यह ग्रथ अहमदाबाद और सूरत से प्रकाशित हो चुका हैं । अहमदाबाद वाले प्रकाशन मे जिनप्रभसूरि (१३ वी शताब्दी ईसवी) की 'पद्मावति चतुष्पदिका' भी छप चुकी है । इसमे ३७ पद्य हैं । इन्ही सूरिजी ने प्राकृत भाषा मे भी 'पद्मावती चतुष्पदी' की रचना की थी, जिसमे ४६ गाथाए है । जैन स्तोत्र सदोह के "घ" परिशिष्ट मे एक 'पद्मावत्यष्टक' दिया है, जिसकी वृत्ति के रचियता श्री पार्श्वदेवगणी (वि० स० ११७१)थे । सूरत वाले भैरव पद्मावतीकल्प मे 'पद्मावती सहस्रनाम,' 'पद्मावतीकवच' और 'पद्मावती-स्तोत्र' दिये गये हैं । इनके अतिरिक्त श्री वप्पभट्टसूरि (आठवी सदी ईसवी) ने 'सरस्वती स्तोत्र,' श्री देवसूरि ने 'कुरुकुल्ला देवी स्तवनम्', जिनेश्वरसूरि(१२ वी शताब्दी वि० स०)ने 'अम्बिका स्तुति' और जिनदत्तसूरि ने 'चक्रेश्वरी स्तोत्र' का निर्माण किया था । इनसे स्पष्ट है कि जैन देवियो की भक्ति जिनेन्द्र के भक्तो की भक्ति है । जैन देवियाँ, हिन्दू देवियो की भाति स्वतत्र नही थी । उनको जिनेन्द्र की शासनदेवी कहा जाता है । उन पर तात्रिक युग का प्रभाव है, किन्तु उनमे मास-भक्षण, जन-रुधिर का पान और व्यभिचारादि जैसी प्रवत्तियो का कभी जन्म नही हुआ ।

उपर्युक्त स्तुति-स्तोत्रो की भाँति ही पूजा, वन्दना और मगलाचरणो के रूप मे जैन भक्ति की विविध प्रवृत्तियो का प्रस्फुटन हुआ है । इन सब मे मगलाचरण का महत्वपूर्ण स्थान है । आचार्य यतिवृषभ की तिलोयपण्णत्ति और आचार्य विद्यानन्दि की आप्तपरीक्षा मे मगल का तात्विक विवेचन किया गया है । जैनो का सबसे प्राचीन मगलाचरण "णमो अरहताण" वाला मत्र है । वैसे तो इस मत्र को अनादि निधन कहा जाता है, किन्तु उपलब्ध साहित्य मे, भगवन् पुष्पदन्त भूतबलि के षट्खण्डागम का प्रारम्भ इसी मगलाचरण से हुआ है । प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश के सभी जैन ग्रथो का प्रारम्भ किसी न किसी मगलाचरण से हुआ है । ये मगलाचरण जैन भक्ति के सर्वोत्तम निदर्शन है । उनमे सबसे बडी विशेषता है कि इनके नाम पर विलासिता को थोडा भी प्रश्रय नही दिया गया, जब कि शैव भक्ति मे लिखे गये अनेक मगलाचरण वैसी भाव-नाओं का नियत्रण नही कर सके ।

वन्दना भी जैन भक्ति का मुख्य अग है। 'वन्दनक सूत्र' पर लिखी गई 'भद्रबाहुनिर्युक्ति' मे, उत्तराध्ययन सूत्र और आवश्यक सूत्रो मे, हरिभद्रसूरि के 'वन्दनापचाशक' मे तथा वट्टकेरकृत 'मूलाचार' मे वन्दना का सैद्धान्तिक निरूपण किया गया है। अरहन्तवन्दन और चैत्यवन्दन पर अनेक स्तुतिस्तोत्र उपलब्ध है। श्री जिनदत्तसूरि के चैत्यवन्दनकुलक मे २८ गाथाएँ हैं। जिनप्रभसूरि के 'वन्दन स्थान विवरण' मे १५० प्राकृत की गाथाएँ है।

आचार्य समन्तभद्र ने देवाधिदेव जिनेन्द्र के चरणो की परिचर्या अर्थात् सेवा करने को ही पूजा कहा है। अष्टद्रव्यरूप पूजा का उल्लेख सर्व प्रथम, आचार्य यतिवृषभ की 'तिलोयपण्णत्ति' मे उपलब्ध होता है। इसके उपरान्त पचपरमेष्ठी, विविधतीर्थक्षेत्र, नन्दीश्वर द्वीप, कृत्रिम और अकृत्रिम चैत्यालयो की भक्ति मे अधिकाधिक पूजाओ का निर्माण हुआ। ये पूजाये बहुत कुछ सस्कृत और हिन्दी मे ही रची गई। इनके अत मे लिखित जयमालाएँ भक्ति-साहित्य का मूल्यवान अश है। इन पूजाओ के अनेक सकलन प्रकाशित हो चुके हैं जिनमे भारतीय ज्ञानपीठ-पूजाजलि महत्वपूर्ण है। हिन्दी मे द्यानतराय की पूजाएँ, सगीत, लय, भाव और भाषा सभी दृष्टियो से उत्तम हैं। जैन और अजैन पूजा साहित्य के तुलनात्मक विवेचन से अनेक नई बातें ज्ञात हो सकती है।

हिन्दी का जैन भक्ति-कव्य

हिन्दी का भक्ति-काव्य अपनी ही उपर्युक्त पूर्व परम्परा से अनुप्राणित है। उसका विभाजन-निष्कल भक्तिधारा और सकल भक्तिधारा के रूप मे किया जा सकता है। निष्कल ब्रह्म 'सिद्ध' को कहते हैं। सिद्ध अदृश्य हैं और स्थूल आकार से रहित हैं। वे मोक्ष मे विराजमान हैं। उनमे सम्यक्त्व, दर्शन, ज्ञान, वीर्य, सूक्ष्मता, अवगाहन, अगुरुलघु और अव्याबाध नाम के आठ गुण होते हैं। आचार्य योगीन्दु ने 'सिद्ध' और 'शुद्ध आत्मा' का एक ही रूप माना है। आचार्य पूज्यपाद का कथन है कि आठ कर्मों के नाश से शुद्ध आत्मा की प्राप्ति होती है, उसे ही सिद्धि कहते हैं और ऐसी सिद्धि करने वाला ही सिद्ध कहलाता है। प० आशाधर ने 'सिद्ध' की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है "सिद्धि स्वात्मोपलब्धि सजाता यस्य इति सिद्धि।" आत्मा भी निराकार है अदृश्य है। हिन्दी के जैन कवियो ने अपने मुक्तक पदो मे सिद्ध और आत्मा दोनो ही को सम्बोधन करके अपना भाव प्रकट किया है।

सकल ब्रह्म अरहन्त को कहते है। चार घातिया कर्मों का क्षय करने से अर्हत्पद मिलता है। अर्हन्त को चार अघातिया कर्मों के नाश होने तक ससार मे

स्थाना होता है। वे समवशरण मे बैठकर भगवान को उपदेश देते है। उनके शरीर होता है, वे दिखाई देते है। हिन्दी के भक्त कवियों ने अर्हन्त की भक्ति में बहुत कुछ लिखा है। इसी सकल भक्ति-धारा मे आचार्य, उपाध्याय, साधु, देव-देवियो, चैत्य, मूर्ति, मन्दिर और तीर्थ क्षेत्रो को लिया जा सकता है। ये सब सशरीर है और दिखाई देते है। किन्तु जैन हिन्दी के भक्त कवियो को निष्कल और सकल भक्ति धाराओ मे पृथक्-पृथक् नही बाटा जा सकता, जैसा कि प० रामचन्द्र शुक्ल ने निर्गुण और सगुण भक्ति धाराओ के रूप मे स्पष्ट विभाजन किया है। हिन्दी का ऐसा कोई जैन कवि नही है, जिसे हम केवल सिद्ध या अर्हन्त का ही भक्त कह सके। प्रत्येक जैन कवि ने यदि एक ओर सिद्ध और आत्मा की भक्ति मे अपने भाव अभिव्यक्त किये, तो दूसरी ओर अर्हन्त, आचार्य या किसी देव-देवी के चरणो मे भी अपनी श्रद्धा के पुष्प बिखेरे है।

वीरगाथा काल मे जैन भक्ति कवि

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के कथनानुसार प० रामचन्द्र शुक्ल ने जिस काल को वीरगाथा काल नाम दिया है, उसमे वीरगाथाओ की अपेक्षा धार्मिक कृतियाँ अधिक थी। प० शुक्ल ने उन कृतियो को सूचना मात्र कह के छोड दिया था। उन कृतियो मे जैन भक्ति सम्बन्धी रचनायें हैं। उनमे धार्मिकता है, तो साहित्यिकता भी। धार्मिक होने मात्र से ही कोई रचना असाहित्यिक नही हो जाती। मूल प्रवृत्तियो का भावोन्मेष ही साहित्य है, फिर भले ही उसका मुख्य स्वर धर्म अथवा अन्य किसी विषय से सम्बन्धित हो। इसी कारण कबीर ग्रन्थावली और रामचरितमानस साहित्य के ग्रन्थ माने जाते हैं।

हिन्दी साहित्य के इतिहास मे वीरगाथा काल, वि० स० १०५० (सन् ९९३) से वि० स० १३७५ (सन् १३१८) तक निर्धारित किया गया है। इसके पूर्व बहुत पहले ही, प्राकृत और अपभ्रश के अतिरिक्त देश भाषा का जन्म हो चुका था। धर्मशास्त्री नारद ने लिखा है कि "सस्कृतै प्राकृतैर्वाक्यै शिष्य-मनुरूपत । देशभाषाद्युपायैश्च बोधयेत् स गुरुः स्मृत ।।" डा० काशीप्रसाद जायसवाल का कथन है कि आचार्य देवसेन (वि० स० ९९०) के पहले ही 'देश भाषा' प्रचलित हो चुकी थी। आचार्य देवसेन ने अपने श्रावकाचार मे जिन दोहो का उपयोग किया है, वे देश भाषा के ही हैं। इस ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति कारजा के सेनगण मन्दिर के पुस्तक भडार मे मौजूद है। इसमे श्रावको के लिये

जिनेन्द्र और पचगुरु भक्ति का अनेक स्थानो पर उल्लेख हुआ है। एक दोहा इस प्रकार है —

> "जो जिरासासरा भासियउ सो भइ कहियउ सारु।
> जो पाले सइ भाउ करि सो तरि पावइ पारु ॥"

इसमे प्रयुक्त शब्द रूप, विभक्ति और धातुरूप प्राय सभी देश-भाषा के है। देश-भापा को ही प्राचीन हिन्दी कहते है। यह भाषा ही आगे चलकर विकसित हिन्दी के रूपमे परिरात हुई। आचार्य हेमचन्द्र ने अपभ्रश और देश-भाषा मे अन्तर स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है। अपभ्रश, देश-भाषा अथवा प्राचीन हिन्दी नही है। इसी काररा स्वयम्भू (वि० स० ९ वी शताब्दी) के 'पउमचरिउ' और पुष्पदन्त (वि० स० १०२९) के ,महापुराण' को हिन्दी के ग्रन्थो मे नही गिना जा सकता। इनमे बिखरे हुए कुछ स्थल देश-भाषा के हैं, किन्तु वे अल्प ही हैं। पुष्पदन्त से ४० वर्ष उपरान्त हुए श्रीचन्द का कथाकोष देश-भाषा मे लिखा गया है। इसकी अधिकाश कथायें जिनेन्द्र-भक्ति से सन्वधित है। ईसा की ११वी सदी के धनपाल की 'श्रुत पचमीकथा' मे भी देश-भाषा का ही प्रयोग हुआ है। 'श्रुत पचमी' का मूलस्वर जिन-भक्ति से युक्त है। तेहरवी शताब्दी के प्रारम्भ के कवि विनयचन्द्र सूरि ने "नेमिनाथचउपई" का निर्माण किया था। नेमिनाथ के वैराग्य लेने पर, उनके वियोग मे राजीमती विलाप करती है। इस "चउपई" मे उनका वियोग वर्णन दिखलाया गया है। एक दृष्टात देखिये —

> "मणइ सखी राजल मन रोई,
> नीठुरु नेमि न अप्पराु होई।
> साचेउ सखि वरि गिरि भिज्जति,
> किमइ न भिज्जइ सामलकति।।"

विनयचन्द्र सूरि के समकालीन शालिभद्रसूरि के 'वाहुबलि रास' मे अपभ्र श का प्रयोग हुआ है। श्री जिनदत्तसूरि (वि० स० १२७४) के "उपदेश-रसायनरास" मे गुरुभक्ति के अनेक दृष्टात हैं, किन्तु उसकी भाषा देश-भाषा नही है,वह दुरुह अपभ्र श का निदर्शन है। श्री जिनपद्मसूरि का "थूलिभद्दफाग" आचार्य स्थूलभद्र की भक्ति मे लिखा गया है। आचार्य स्थूलिभद्र भद्रबाहु स्वामी के समकालीन थे। उनका निर्वाणस्थल, गुलजारवाग, पटना स्टेशन के सामने कमल-दह मे बना हुआ है। यह रचना भाव और भाषा दोनो ही दृष्टियो से उत्तम है। भाषा हिन्दी के प्रारम्भिक रूप को लिए हुए है। ऐसे सरस फागो की

अक्षुण्ण परपरा वि०स० की अठारहवी शताब्दी तक उपलब्ध होती है। प्रस्तुत फाग के पावस वर्णन का एक पद्य इस प्रकार है—

"सीयल कोमल सुरहि वाय जिम जिम वायते।
माण-मडफ्फर माणणिय तिम तिम नाचते ।।
जिम जिम जलधर भरिय मेह गयणगणि मिलिया।
तिम तिम कामीतणा नयण नीरहि झलहलिया ।।"

नेमिचन्द्र भडारी, खरतगच्छीय जिनेश्वर सूरि के पिता थे। वि० स० १२५६ के लगभग 'जिनवल्लभसूरि गुणवर्णन' के नाम से एक स्तुति लिखी थी, जो ऐतिहासिक काव्यसग्रह मे प्रकाशित हो चुकी है। यह स्तुति आचार्य-भक्ति का दृष्टात है। महेन्द्रसूरि के शिष्य श्री धर्मसूरि ने वि० स० १२६६ मे जम्बूस्वामीचरित और स्थूलिभद्ररास की रचना की। दोनो मे क्रमश ५२ एव ४७ पद्य है। भगवान् महावीर के निर्वाण के उपरान्त केवल तीन केवली हुए, जिनमे जम्बूस्वामी अन्तिम थे। स्थूलभद्र के विषय मे लिखा ही जा चुका है। शाहरयण (वि० स० १२७८) ने 'जिनपतिसूरिधवलगीत' लिखा था। यह 'जैन ऐतिहासिक काव्य सग्रह' मे छप चुका है। मत्रीवर वस्तुपाल के धर्माचार्य श्री विजयसेनसूरि ने वि० स० १२८८ मे 'रेवतगिरि रासो' का निर्माण किया था। यह प्राचीन 'गुर्जरकाव्य सग्रह' मे प्रकाशित हुआ है। इन सबकी भाषा हिन्दी है। नेमिचन्द्र भडारी का एक पद्य देखिये —

"पणमवि सामि वीर जिणु, गणहर गोयम सामि।
सधरम सामिय तुलनि सरणु, जुग प्रधान सिवगामि ।।"

विक्रम सवत् की चौदहवी शती मे अनेक जैन कवि हुए है। उनकी भाषा हिन्दी थी। उनकी कविताओ का मूल स्वर भक्तिपूर्ण था। खरतरगच्छीय जिनपतीसूरि के शिष्य जिनेश्वरसूरि ने वि० स० १३३१ के लगभग अनेक ऐसी स्तुतियो की रचना की, जो गुरु, आचार्य और जिनेन्द्र की भक्ति से सम्बन्धित थी। जिनेश्वर सूरि के शिष्य श्री अभयतिलक ने, वि० स० १३०७ मे, महावीर रास का निर्माण किया था, जिसमे केवल दस पद्य है। यह रास श्री अगरचदजी नाहटा के निजी सग्रह मे मौजूद है। लक्ष्मीतिलक का 'शातिनाथरास' और सोममूर्ति का 'जिनेश्रसूरि सयमश्रीविवाहवर्णनरास' प्रसिद्ध कृतिया हैं।

यद्यपि रामचन्द्र शुक्ल ने भक्ति-काल वि० स० १४०० से १७०० तक माना है, किन्तु जैन हिन्दी भक्ति काव्य की दृष्टि से उसको वि स १८०० तक मानना चाहिए, क्योकि जैन हिन्दी के भक्ति काव्य की प्रौढ रचना वि० स० १७०० से १८०० के मध्य हुई।

राजशेखर सूरि (वि स १४०५) का जन्म प्रश्नवाहन कुल मे हुआ था। वे तिलकसूरि के शिष्य थे। उनका सम्बन्ध कोटिक गण की मध्यम शाखा के हर्षपुरीगच्छ से था उन्होने हिन्दी मे 'नेमिनाथफाग' की रचना की थी। यह २७ पद्यो का एक छोटा सा खण्डकाव्य है। इसमे नेमिनाथ और राजुल की कथा है। राजशेखर एक सफल कवि थे। भावो और दृश्यो को चित्रित करने मे उन्होने अद्भुत प्रतिभा का परिचय दिया है। विवाह के लिए सजी राजुल के पूरे चित्र की कतिपय पक्तिया देखिये —

"किम किम राजुलदेवि तणउ सिणगारु भणेवउ।
चपइ गोरी अइधोई अ गि चदनु लेवउ॥
खु पु भराविउ जाइ कुसुम कस्तूरी सारी।
सीमतइ सिंदूररेह मोतिसरि सारी॥"

विनयप्रभ उपाध्याय (वि० स० १४१२) खरतरगच्छ के जैन साधु थे। उनके गुरु का नाम दादा जिनकुशलसूरि था। उनकी प्रमुख रचना का नाम "गौतमरासा" है। यह कृति भगवान् महावीर के प्रथम गणधर गौतम की भक्ति से सम्बन्धित है। इसमे स्थान स्थान पर उत्प्रेक्षाओ के सहारे गौतम की शोभा का चित्र अ कित किया गया है। इसके अतिरिक्त विनयप्रभ उपाध्याय की कृतियो मे ५ स्तुतिया और हैं। उनमे विविध तीर्थंकरो के गुणो का काव्यमय विवेचन है। प्रत्येक मे १६–२६ के लगभग पद्य हैं। इनमे 'सीमन्धर स्वामिस्तवन', एन्शियट जैनहिम्स' मे प्रकाशित हो चुका है। सीमन्धर स्वामी पूर्व विदेह के विहरमाण बीस तीर्थं करो मे एक हैं। उनका शासन अभी चल रहा है। यह २१ पद्यो का एक मनोरम स्तवन है। कवि ने लिखा है कि मेरुगिरि के उत्तु ग शिखर, गगन के टिमटिमाते तारागण और समुद्र की तरगमालिका, सीमधर स्वामी का स्तवन करते ही रहते हैं।

मेरुनन्दन उपाध्याय के दीक्षागुरु का नाम जिनोदयसूरि था। उन्होने वि० स० १४१५ के उपरान्त दीक्षा ली थी। मेरुनन्दन उपाध्याय की तीन रचनाए

उपलब्ध है— जिनोदयसूरि विवाहलउ, अजितशान्तिस्तवनम् और सीमन्धर स्वामी स्तवनम् तीनो ही भक्ति से सम्बन्धित है। पहले मे गुरु भक्ति और अवशिष्ट दो मे तीर्थंकर भक्ति है। जिनोदयसूरि विवाहलउ मे आचार्य जिनोदय का दीक्षाकुमारी के साथ विवाह हुआ है। यह एक रूपक काव्य है। अजितशातिस्तवनम् मे सीमन्धर स्वामी की स्तुति की गयी है। ये दोनो ही स्तवन 'जैन-स्तोत्र सदोह' के प्रथम भाग मे प्रकाशित हो चुके है।

भट्टारक सकलकीर्ति अपने समय के एक प्रसिद्ध विद्वान थे। उनका सस्कृत भाषा पर एकाधिपत्य था। उन्होने सस्कृत मे १७ ग्रन्थो की रचना की थी। प्रत्येक उत्तमकोटि का ग्रन्थ है। भट्टारक सकलकीर्ति प्रतिष्ठाचार्य भी थे। उनके द्वारा प्रतिष्ठित मूर्तियो मे तत्कालीन इतिहास की अनेक बाते अकित हैं। उनका समय १५ वी शती का उत्तरार्द्ध माना जाता है। वे वि०स० १४४४ मे ईडर की भट्टारकीय गद्दी पर आसीन हुए और वि० स०१४९९ मे महसाना (गुजरात) मे उनका स्वर्गवास हुआ। वे हिदी के सफल कवि थे। राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारो मे उनकी हिदी मे लिखी हुई अनेक कृतिया उपलब्ध हुई हैं, जिनमे आराधना प्रतिबोधसार, णमोकारफलगीत और नेमीश्वर गीत का भक्ति से सम्बन्ध है।

वि० स० की १६ वी शती, जैन हिन्दी भक्ति काव्य की मुक्तक रचनाओ के लिए प्रसिद्ध है। मुनि चरित्रसेन (वि० स० १६ वी शती पूर्वार्द्ध) की 'समाधि' नाम की रचना मे समाधि और समाधि लगाने वालो के प्रति भक्तिभाव प्रकट किया गया है। यह कृति दिल्ली के मस्जिद खजूर के जैन पचायती मन्दिर के शात्र भण्डार मे मौजूद है। इन्ही के समकालीन आनन्द तिलक हुए है। उन्होने 'आणदा' का निर्माण किया था। इसकी एक हस्तलिखित प्रति आमेर शास्त्र-भण्डार मे रक्खी है। इस रचना मे ४३ पद्य हैं। यह परमात्म प्रकाश और पाहुड दोहा की परम्परा मे गिनी जा सकती है। सत कवियो की भाति ही मुनि महानन्दिदेव ने जिनेन्द्र का निवास देह मे माना, वैसे ही जैसे कुसुम मे परिमल रहता है। देह के भीतर रहने वाले उस चिदानन्दरूप जिनेन्द्र की जो पूजा करता है, भी वह स्वय भी आनन्द-मण्डल के भीतर स्थिर हो जाता है। अर्थात उसको चिरन्तन आनन्द की प्राप्ति होती है। उन्होने तीर्थ भ्रमण को व्यर्थ प्रमाणित करते हुए लिखा है-आनन्द तीर्थों मे नही, अपितु आत्मा मे है, और वह आत्मा प्रत्येक के पास होती है। जो वस्तु अपने पास है, उसकी ओर न देखकर बाहर भटकना मूर्खता है। मुनि जी ने कबीर की भाति ही कहा

कि चित्त मे भरा पाप–मल वाह्य स्नान से नही, अपितु जिनेन्द्र के ध्यान रूपी तालाव मे नहाने से गलेगा। तीर्थ क्षेत्र की व्यर्थता सम्वन्धी एक दृष्टान्त इस भाति है —

"अठसठि तीरथ परिभमइ, मूढा मरहि भमतु ।
अप्पा विंदु न जाणही आनन्दा घट महि देउ अणतु ।।"

कवि चतरूमल का जन्म श्रीमाल वश मे हुआ था। उनके पिता का नाम जसवत था। चतरूमल ने जैन पुराणो का अध्ययन किया और उनका मन नेमीश्वर के चरित्र मे विशेष रूप से रमा। उन्होने वि० स १५७१ मे 'नेमीश्वर गीत' की रचना की थी। यह एक गीतकाव्य है। भट्टारक ज्ञानभूषण मूलसघ के सरस्वती गच्छ के वलात्कारगण की परम्परा मे हुए हैं। 'जैन धातु प्रतिमालेख सग्रह' से स्पष्ट है कि वे वि० स० १५३२ से १५५७ तक भट्टारक पद पर प्रतिष्ठित रहे। वे सस्कृत, गुजराती और हिन्दी के विद्वान् थे। हिदी मे लिखी हुई उनकी दो रचनाए उपलब्ध हैं—आदीश्वरफागु और पोसहरास। आदीश्वर फाग एक उत्तम कृति है। भट्टारक शुभचन्द्र पद्मनन्दि की परम्परा से सवधित है। उनका रचना काल वि स १५७३ से १६१३ तक माना जाता है। वे अपने समय के गणमान्य विद्वान् थे। उनका सस्कृत भापा पर अधिकार था। वे 'षट्भाषा कवि चक्रवर्ती' कहलाते थे। उन्होने हिन्दी मे तत्वसारदूहा की रचना की है। इसकी हस्तलिखित प्रति जयपुर मे ठोलियो के जैन मन्दिर मे मौजूद है। इस रचना मे सत काव्य की ही भाति वर्ण और जाति के भेद को कृत्रिम माना गया है, गुरु की महिमा का उल्लेख है और चिदानन्दरूप आत्मा के चिन्तवन से मोक्ष का मिलना कहा गया है। इन्ही की रची हुई एक दूसरी हिन्दी की कृति 'चतुर्विशति स्तुति' अभी प्राप्त हुई है।

विनयचन्द्रमुनि इसी शती के एक सामर्थ्यवान कवि थे। वे माथुरसघीय भट्टारक बालचन्द्र के शिष्य थे। वे विनयचन्द्र सूरि से स्पष्टतया पृथक है। विनयचन्द्र सूरि चौदहवी शती के रत्नसिंह सूरि के शिष्य थे। मुनि विनयचन्द्र गिरिपुरी के राजा अजेय नरेश के राज्यकाल मे हुए है। उनका समय वि० स० १५७६ माना जाता है। उनकी तीन कृतिया उपलब्ध है–चूनडी, निर्झर पचमी कथा, पचकल्याणकरासु। चूनडी एक रूपक काव्य है। इसमे कुल ३१ पद्य है। इसमे एक पत्नी ने पचगुरु से प्रार्थना की है कि उसका पति ऐसी चूनडी लावे, जिसके सहारे वह भव समुद्र के पार हो सके। निर्झर पचमी कथा मे, भगवान जिनेन्द्र के परम भक्त भविष्यदत्त का चरित्र दिया हुआ है। कथा का मूल स्वर

भक्ति से सम्बन्धित है। 'पचकल्याणक रासु मे जैन तीर्थंकरो के पचकल्याणको के प्रति भक्तिभाव प्रदर्शित किया गया है।

कवि ठक्करसी (वि० स० १५७८) खण्डेलवाल जाति मे उत्पन्न हुए थे। उनका गोत्र पहाड्या था। उनके पिता का नाम होल्ह था, जो एक कवि थे। उनकी माता धर्मनिष्ठ थी। ठक्करसी की प्रसिद्ध रचना "कृपण चरित्र" पहिले से ही विदित है। इस काव्य का मुख्य अ श कृपण की कृपणता से सबधित होते हुए भी भक्ति से युक्त है। इसके अतिरिक्त इनकी नवीन कृतिया मेघमालाव्रतकथा, पचेन्द्रिय बेलि, नेमिसुर की बेल, पार्श्वसकुन सत्ता बत्तीसी, गुणबेल, चिन्तामणि, जयमाल और सीमान्धर स्वामी स्तवन, विविधशास्त्र भण्डारो से प्राप्त हुई हैं। इनमे काव्य सौन्दर्य की दृष्टि से पचेन्द्रिय बेल, नेमिसुर की बेल और गुणबेल उत्तम हैं।

सत्रहवी शती के जैन हिन्दी कवियो का भक्ति परक काव्य भाव और भाषा दोनो ही दृष्टियो से प्रौढ है। इसी शती के जैन कवि महाकवि हैं। उनकी गणना यदि एक ओर कबीर और जायसी की कोटि मे होनी चाहिये, तो दूसरी ओर वे सूर और तुलसी की पक्ति मे बैठने योग्य हैं। कुमुदचन्द्र इसी शती के आरम्भ मे हुए थे। उनकी रचनाओ मे ऋषभ-विवाहला और भरत बाहुबलि-छद उत्तम हैं। ब्रह्मरायमल्ल (वि० स १६१५) ने अनेकानेक हिन्दी काव्यो की रचना की। इनकी भाषा सरस है और प्रसाद गुण से युक्त है। ये रायमल्ल, १६वी शती के प्रसिद्ध पडित राजमल्ल से पृथक हैं। इनका जन्म हूँबड वश मे हुआ था, उनके पिता का नाम मह्य और माता का नाम चम्पा था। उनकी माता जिनेन्द्र भक्त थी, अत वे भी 'जिनपादकजमधुप' बन सके। इनके गुरु का नाम अनन्तकीर्ति था। नेमीश्वररास, हनुवतकथा, प्रद्युम्नचरित, सुदर्शनरास, श्री पालरास और भविष्यदत्त कथा, ब्रह्मरायमल्ल की हिन्दी की कृतिया हैं। इनमे नेमीश्वर रास और हनुवतकथा की विशेष ख्याति है। हनुवतकथा मे बालक हनुमान के ओजस्वीरूप का चित्र खीचा गया है। यह रूप बालक के उदात्तता-परक पक्ष को पुष्ट करता है। एक पद्य देखिए —

"बालक जब रवि उदय कराय।
अ धकार सब जाय पलाय ॥

बालक सिंह होय अति सूरो।
दन्तिघात करे चकचूरो ॥

सघन वृक्ष बन अति विस्तारो।
रत्ती अग्नि करे दह छारो।।
जो बालक क्षत्रिय को होय।
सूर स्वभाव न छोडे कोय।।"

कुशललाभ जैसलमेर के रावल हरराज के आश्रित कवि थे। रावल हरराज का समय सत्रहवी शती का प्रथम पाद माना जाता है। कुशल-लाभ का रचनाकाल भी यही था। अनेक विद्वानो को विदित है कि कुशल-लाभ ने राजस्थानी के आदि काव्य 'ढोला मारू रा दूहा' के बीच मे अपनी चौपाइया मिलाकर प्रबन्धात्मक उत्पन्न करने का प्रयास किया था। कुशललाभ खरतरगच्छ के समर्थगुरु अभयदेव उपाध्याय के शिष्य थे। ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे उन्हे कवित्व शक्ति जन्म से ही मिली है। उन्होने भक्ति, शृ गार और वीर जैसे रसो पर अधिकार पूर्वक लिखा। उनकी रचनाओ मे श्रीपूज्यवाहणगीत, स्थूलिभद्र स्तम्भन पार्श्वनाथ स्तवनम्, गौडी पार्श्वनाथस्तवनम् और नवकारछन्द, भक्ति से सबधित है। श्री'पूज्यवाहणगीत' की विशेषता है कि उसमे गुरु के विरह से उत्पन्न हुई अनुभूतियो का सरस वर्णन किया गया है। गुरु की महत्ता उद्घोषित करने वाले दोहो से हिन्दी साहित्य भरा पडा है। किन्तु गुरु–विरह के ऐसे सरस भाव अन्यत्र देखने को नही मिलते।

साधुकीर्ति (वि० स० १६१८) खरतरगच्छीय अमरमाणिक्य के शिष्य थे। उन्होने स्थान-स्थान पर जिनचन्द्रसूरि का स्मरण किया है। साधुकीर्ति भक्त कवि थे, उन्होने अनेक स्तुतियो की रचना की है। उनकी कृतियो मे पद्य–सग्रह, चूनडी, शत्रुञ्जयस्तवन ,विमलसिरिस्तवन, आदिनाथस्तवन, सुमतिनाथ-स्तवन, नेमिस्तवन और नेमिगीत मुख्य हैं। साधुकीर्ति मुक्तक काव्यो के रचने मे सिद्धहस्त थे। उदयराज जती ने भी अनेक भक्तिपरक काव्यो का निर्माण किया है। उनका रचनाकाल वि० स० १६६७ के आसपास माना जाता है। वे जोधपुर के समीप किसी स्थान के रहने वाले थे। उनके गुरु खरतरगच्छीय भद्रसार थे। उन्होने भजन छत्तीसी, गुण बावनी, चौबीस जिन सवैया, मन प्रशसा दोहा और वैद्यविरहिणी प्रबन्ध रचना की थी। इनमे 'वैद्यविरहिणी प्रबन्ध' एक रूपक काव्य है। हीरानन्द मुकीम आगरा के ख्याति प्राप्त जौहरी थे। शाहजादा सलीम से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध था। उन्होने सम्मेद शिखर जी की यात्रा के लिए सघ निकाला था। शाह हीरानन्द कवि भी थे। उनकी अध्यात्म-बावनी एक कृति है। उसका मूल स्वर रहस्यवाद से सम्बन्धित है। हेम विजय

सूरि (वि० स० १६७०) वृद्ध शाखा के आचार्य विजयसेन सूरि के शिष्य थे। सम्राट् अकबर ने विजयसेन सूरि को आगरे मे बुलाया था और उन्हे सवाई हरिविजय की उपाधि से सुशोभित किया था। हेमविजय अन्धे थे। उन्होने हरिविजय और विजयसेन सूरि की भक्ति मे छोटे-छोटे अनेक पद्य बनाये हैं। उन्होने तीर्थंकरो का भी स्तवन, छोटी-छोटी स्तुतियो से किया है। 'नेमिनाथ के पद' उनकी सफल रचना है। जब नेमीश्वर राजुल के विवाह द्वार से दीन पशुओ की करुण पुकार सुनकर, गिरिनार पर तप करने चले गये, उस समय राजुल की बेचैनी का एक चित्र देखिये। गिरिनार की ओर भागती हुई राजुल को सखियो ने पकड लिया है। वह उनको सम्बोधन करके कहती हैं-

"कहि राजमति सुमति सखियान कू, एक खिनेक खरी रहुरे।
सखिरि सगिरि अ गुरी मुही बाहि करति बहुत इसे निहुरे ॥
अबही तबही कबही जबही, यदुराय कू जाय इसी कहुरे।
मुनिहेम के साहिब नेम जी हो, अब तोरन ते तुम्ह क्यू बहुरे ॥"

जैन कवि सुन्दरदास, हिन्दी के सत कवि सुन्दरदास से पृथक थे। जैन कवि बागड प्रान्त के रहने वाले थे। बादशाह शाहजहा ने उनको पहले 'कविराय' और फिर 'महाकविराय' की पदवी प्रदान की थी। उन्होने सुन्दर शृगार, पाखड पचासिका, सुन्दर सतसई और सुन्दर विलास का निर्माण किया था। इनकी प्रवृत्तिया हिन्दी के कबीर दादू, सुन्दरदास आदि सत कवियो से मिलती जुलती हैं। उनका समय वि० स० १६७५ के आस-पास माना जाता है। पाडे रूपचन्द सस्कृत के प्रख्यात विद्वान् थे। उन्होने बनारस मे शिक्षा प्राप्त की थी। प्रसिद्ध कवि कबीरदास ने इन्ही से गोम्मटसार-जीवकाड पढा था। इसका उल्लेख 'अर्द्ध कथानक' मे हुआ है। पाडे रूपचन्द एक प्रतिभा सम्पन्न कवि भी थे। विद्वत्ता और कवित्व शक्ति का ऐसा समन्वय अन्यत्र कम ही देखने को मिलता है। उनके गीत काव्यो पर आध्यात्मिकता की छाप है। परमार्थी दोहा शतक, गीतपरमार्थी मगलगीत प्रबन्ध, नेमिनाथ रासा, खटोलनागीत और अध्यात्म सवैया उनकी प्रसिद्ध कृतिया है। इसके अतिरिक्त जयपुर के शास्त्र भण्डारो से उनकी दो रचनाए सोलहस्वप्नफल तथा जिनस्तुति और प्राप्त हुई हैं। अर्धकथानक के अनुसार उनका देहावसान वि० स० १६९४ मे हुआ।

हर्षकीर्ति (वि० स० १६८३) की मुक्तक रचनाओ मे अध्यात्म और भक्तिरस की अधिकता है। उन्होने पचगति बेल, नेमिनाथ राजुल गीत, नेमीश्वर-

गीत, वीस तीर्थंकर जखडी, चतुर्गतिवेल, भजन व पदो का निर्माण किया था। कनककीर्ति भी इन्ही के समकालीन थे। उनकी हिन्दी कृतियो मे गीत अधिक है। उनका सम्वन्ध किसी तीर्थ या ऋषि मुनि की भक्ति से है। उनकी कृतिया मेघकुमार गीत, जिनराजस्तुति, विनती, श्रीपाल स्तुति और पद है।

कवि वनारसीदास जैन हिन्दी साहित्याकाश के जगमगाते सूर्य हैं। उन्होने नाममाला, नाटक समयसार, वनारसी विलास, अर्धकथानक, मोहविवेक युद्ध, माझा और स्फुट पदो का निर्माण किया था। उन्होने १४ वर्ष की अवस्था (वि० स० १६५७) मे "एक नवरस" नाम का ग्रन्थ भी लिखा था। उसमे एक हजार दोहा चौपाई थे, किन्तु वाद मे उसे अत्यधिक अश्लील मानकर उन्होने गोमती मे वहा दिया था। नाममाला एक कोष ग्रन्थ है। उसकी रचना वि० स० १६७० मे हुई थी। नाटक समयसार वनारसीदास की सर्वोत्कृष्ट कृति है। यद्यपि इसका मुख्य अधार आचार्य कु द-कु द का 'समयपाहुड' और उस पर लिखी गयी अमृतचन्द्राचार्य की 'आत्मख्याति' टीका है, किन्तु उसमे मौलिकता भी पर्याप्त है। सबसे वडा अन्तर यह है कि नाटक समयसार मे कवि की भावुकता प्रमुख है। जवकि समयसारपाहुड मे दार्शनिक पाडित्य। मैंने अपने शोध निवध मे 'नाटक समयसार' की परीक्षा भक्ति-परक दृष्टि से की है। मुझे उसमे निर्गुण और सगुण दोनो ही भक्ति का समन्वय दिखाई दिया है। 'वनारसी विलास' मे वनारसीदास की ५० मुक्तक रचनाए सग्रहीत है। इनका सकलन आगरे के दीवान जगजीवन ने वि० स० १७०१ मे किया था। वनारसी विलास वहुत पहले ही प० नाथूराम प्रेमी के सम्पादन मे वम्वई से प्रकाशित हो चुका है। 'अर्ध कथानक' की रचना वि० स० १६९८ मे हुई थी। इसमे वनारसीदास के ५५ वर्ष के जीवन की आत्मकथा है। प० वनारसीदास चतुर्वेदी डा० माता प्रसाद गुप्त आदि वडे-वडे विद्वानो ने भी इसकी प्रशसा की हैं। इसमे ६७५ दोहा-चौपाइया हैं। इसमे तत्कालीन भारतीय समाज का यथार्थ परिचय प्राप्त होता है। मोह विवेक युद्ध, माझा और कतिपय पद नयी खोज मे उपलब्ध हुए हैं। वनारसीदास के अध्यात्म-परक गीत मे दाम्पत्य भाव की अभिव्यक्ति हुई है। उन्होने आत्मा को पति और सुमति को पत्नी बनाया है। पत्नी, पति के वियोग मे तडफते हुए दर्शनाभिलाषा प्रकट करती है —

"मैं विरहिन पिय के आधीन।
यो तलफो ज्यो जल बिन मीन॥

होहु मगन मैं दरशन पाय ।
ज्यो दरिया मे बूंद समाय ।।
पिय को मिलो अपनपो खोय ।
ओला गल पाणी ज्यो होय ।।"

इसी शती मे मनराम, कुवरपाल, यशोविजय उपाध्याय और महात्मा आनन्दघन प्रतिभा सम्पन्न कवि थे । मनराम का 'मनराम विलास', कुँअरपाल के 'पद', यशोविजयजी का 'जस-विलास' और आनन्दघन की 'आनन्दघन बहत्तरी', प्रौढ कृतिया हैं । सभी का सम्बन्ध या तो निराकार आत्मा और सिद्ध अथवा अरहत की भक्ति से है । पाडे हेमराज (वि० स० १७०३-१७३०) एक प्रसिद्ध कवि माने जाते हैं । उनकी सितपट चौरासी बोल, हिन्दी भक्तामर और गुरुपूजा नाम की कृतिया पहले से ही ज्ञात थी । किन्तु अब हितोपदेश दोहाशतक, उपदेश दोहावावनी और नेमिराजीमती जखढी भी प्राप्त हुई हैं। इन्हे सत काव्य की परम्परा मे गिनना चाहिये ।

जिनहर्ष (वि० स० १७१३-१७३८) अट्ठारहवी शती के एक सामर्थ्य-शाली कवि थे । इनके गुरु का नाम वाचक शान्तिहर्ष था । जिनहर्ष ने उन्ही से शिक्षा प्राप्त की थी । जिनहर्ष एक जन्मजात कवि थे । उन्होने पचासो स्तुति-स्तवन, रास और छप्पयो की रचना की है । वे मूलत गुजराती लेखक थे । किन्तु इनका हिन्दी पर अधिकार था । उन्होने हिंदी मे जसराजबावनी, उपदेशछत्तीसी, चौबीसी, नेमि-राजीमती बारहमास सवैया, नेमि बारहमासा, महावीर छद, सिद्धचक्रस्तवन और मगलगीत का निर्माण किया था । जिनरगसूरि (वि० स० १७३१) का जन्म श्रीमाल जाति के सिन्धुणवश मे हुआ था । उन्होने जैसलमेर मे वि० स० १६७८ फाल्गुन कृष्ण ७ को जिनराजसूरि से दीक्षा ली थी । शाहजहा के पुत्र दारा ने उन्हे 'युग-प्रधान' के पद से विभूषित किया था । उनकी रचनाओ मे प्रबोधबावनी, रगबहत्तरी, चतुर्विशति जिन-स्तोत्र, चितामणि, पार्श्वनाथ-स्तवन प्रसिद्ध हैं । प्रथम दो मे निष्फल और अन्तिम दो मे सकल ब्रह्म की भक्ति है ।

इस समूची शती मे भैया भगवतीदास अपनी ओजस्वी कविता के लिए प्रसिद्ध हैं । उन्होने भक्ति के क्षेत्र मे भी ओज को प्रमुखता दी है । भैया भगवतीदास आगरा के रहने वाले थे । उस समय औरगजेब का राज्य था । उन्होने उसके राज्य की प्रशसा की है । 'भैया' का प्राकृत और सस्कृत पर अधिकार था । उनकी हिन्दी, गुजराती और बगला मे विशेष गति थी और वे उर्दू तथा फारसी

के भी जानकार थे। उनकी ६७ रचनाओ का सकलन 'ब्रह्म-विलास' नाम से सन् १६०३ मे हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, बम्बई से प्रकाशित हुआ था। 'भैया' की सभी कृतिया निर्गुण अथवा सगुण भक्ति से सम्बन्धित हैं। एक भक्त भगवान जिनेन्द्र की पुष्पो से पूजा करता हुआ कहता है कि हे भगवन्! इस कामदेव ने समूचे विश्व को जीत लिया है। उसे इसका घमण्ड भी बहुत है। मुझे विश्वास है कि आपके चरणो की शरण मे जाने से प्रबल कामदेव की निर्दयता का शिकार मैं न हो पाऊँगा —

"जगत के जीव जिन्हे जीत के गुमानी भयो।
ऐसो कामदेव एक जोधा जो कहायो है॥
ताके शर जानियत फलनि के वृन्द बहु।
केतकी कमल कुद केवरा सुहायो है॥
मालती सुगध चारू बेलि की अनेक जाति।
चपक गुलाब जिन चरण चढायो है॥
तेरी ही शरण जिन जारे न बसाय याको।
सुमत सौ पूजे तोहि मोहि ऐसो भायो है॥"

द्यानतराय एक प्रमुख कवि थे। इनका जन्म वि० स० १७३३ मे आगरे मे हुआ था। उनकी शिक्षा विधिवत् हुई। उन्हे उर्दू फारसी का ज्ञान कराया गया, तो सस्कृत के माध्यम से धार्मिक शिक्षा भी दी गई। उनका गृहस्थ जीवन दु'खी रहा। वे वि० स० १७८० मे दिल्ली मे आकर रहने लगे थे। उनकी प्रसिद्ध रचना 'धर्म-विलास' यहा पर ही पूरी हुई। इसमे पदो की सख्या ३२३ है, कुछ पूजाये हैं। ग्रन्थ के साथ विस्तृत प्रशस्ति भी निबद्ध है, जिससे आगरे की सामाजिक परिस्थिति का अच्छा परिचय मिलता है। इसके पदो मे भक्ति-रस तो साक्षात् ही बह उठा है। द्यानतराय ने पूजा और आरतियो का निर्माण करके, जैन भक्ति की परम्परा मे जैसा सरस योगदान किया है, वैसा उस समय तक अन्य कोई नही कर सका था। उनकी 'देव-शास्त्र-गुरु पूजा का तो प्रत्येक जैन मन्दिर मे प्रतिदिन पाठ होता है। इसके अतिरिक्त बीसतीर्थङ्कर, पचमेरु, दशलक्षण, सोलहकारण, रत्नत्रय, निर्वाणक्षेत्र, नन्दीश्वरद्वीप, सिद्धचक्र और सरस्वती पूजायें भी उन्ही की कृतियाँ हैं। उन्होने पाच आरतियो का भी निर्माण किया था। उनका प्रारम्भ क्रमश 'इह विधि मगल आरति कीजै, 'आरति श्री जिनराज तिहारी', 'आरति कीजै श्री मुनिराज की', 'करो आरती वर्द्धमान की', और 'मगल आरती आतमरामा' से होता है। उनके स्वयम्भू, पार्श्वनाथ और एकीभावस्तोत्रो मे 'पार्श्वनाथ स्तोत्र' मौलिक है। इनके अतिरिक्त समाधिमरण

धर्मपचीसी, अध्यात्मपचासिका, १०८ नामो की गुणमाला, दशस्थानचौबीसी और छहढाला (सद्य प्राप्त) भी उन्ही की रचनायें है। उनका समूचा साहित्य भाव और भाषा दोनो ही दृष्टियो से खरा है।

द्रोणपुरी के शास्त्र भडार मे कवि विद्यासागर के हस्तलिखित ग्रन्थो का पता लगा है। विद्यासागर कारजा के रहने वाले थे। उनके पिता का नाम राखू साह था। वे बघेरवाल जाति मे उत्पन्न हुए थे। उनकी रचनाए भक्त-हृदय की प्रतीक हैं। उन्होने सोलह स्वप्न-छप्पय, जिन-जन्म-महोत्सव षट्पद, सप्तव्यसन सवैया, दर्शनाष्टक, विषापहार छप्पय और भूपाल स्तोत्र छप्पय का निर्माण किया था। विनयविजय साधु थे। उनके गुरु का नाम कीर्तिविजय उपाध्याय था। विनय विजय यशोविजय के समकालीन थे। दोनो ने साथ रहकर ही काशी मे विद्याध्ययन किया था। गुजराती साहित्य को इनकी देन बहुत बडी है। हिन्दी मे लिखा हुआ उनका 'विनयविलास' उपलब्ध है। उसके पद सत-काव्यधारा के प्रतीक है। लक्ष्मीबल्लभ (वि० स० १८वी शती का दूसरा पद) उपाध्याय लक्ष्मीकीर्ति के शिष्य थे। वे बनारस के रहने वाले थे। वे विद्वान थे और कवि भी। उनकी हिन्दी कृतियो के नाम ये हैं—चौबीस स्तवन, महावीर गौतम स्वामी छद, दूहा बावनी, सवैया बावनी, नेमि राजुल बारहमासा, भावना विलास, चेतना बत्तीसी, उपदेश बत्तीसी और छप्पय बावनी। सभी जैन भक्ति से सम्बन्धित है।

विनोदीलाल (वि० स० १७५०) शाहजहाँपुर के रहनेवाले थे। उनका जन्म अग्रवाल वश और गर्ग गोत्र मे हुआ था। वे अपनी सरस और प्रसादगुण युक्त रचनाओ के लिए प्रसिद्ध है। उन्होने चौबीस तीर्थङ्करो की भक्ति मे अनेक सवैयो का निर्माण किया है। वे नेमीश्वर के परमभक्त थे। विवाह द्वार से लौटते नेमीश्वर और विलाप करती राजुल, उन्हे बहुत ही पसन्द हैं। उनका लिखा हुआ नेमि-राजुलबारहमासा, विरहकाव्य परम्परा की एक अमर कृति है। इसके अतिरिक्त, उन्होने नेमि व्याह, राजुल पच्चीसी, नेमजी रेखता, प्रभात-जयमाल, चतुर्विशति जिन स्तवन सवैया और फूलमाल पच्चीसी की रचना की थी। विवाह के लिए सजे हुए नेमीश्वर का एक चित्र देखिये —

> "मौर धरो सिर दूलह के कर ककरण बाध दई कस डोरी।
> कुण्डल कानन मे झलके अति भाल मे लाल विराजत रोरी।।
> मोतिन की लड शोभित है छबि देखि लजै बनिता सब गोरी।
> लाल विनोदी के साहिब के मुख देखन को दुनिया उठि दौरी।।"

भूधरदास (वि० स० १७८१) एक प्रतिभासम्पन्न कवि थे। उनकी रचनाए अपने प्रसाद, गुण और भाव-लालित्य के लिये प्रसिद्ध हैं। जैनशतक, भूधरविलास, पदसग्रह, जखडी, विनतियाँ, बारह भावनाए, बाईस परीषह और स्तोत्र उनकी मुक्तक कृतिया है। उन्होने पार्श्वपुराण नाम के एक महाकाव्य का भी निर्माण किया था। यह एक उच्चकोटि का मौलिक काव्य है। इसमे महा-काव्य के सभी गुण सन्निहित है। इसकी रचना वि० स० १७८१ मे हुई थी। कवि भवानीदास (वि० स० १७९१) के लिखे हुए १८ मुक्तक काव्यो का पता चला है। इन रचनाओ के आधार पर सिद्ध है कि वे आगरे के रहने वाले थे, और उनका जन्म श्वेताम्बर जाति मे हुआ था। इन कृतियो मे चौबीस जिनबोल, चौबीसी के कवित्त, नेमि-हिण्डोलना और नेमिनाथ-राजमति गीत प्रसिद्ध है।

अजयराज पाटणी (वि० स० १७९२-१७९४) आमेर के रहने वाले थे। उनकी जाति खण्डेलवाल और गौत्र पाटणी था। उन्होने पार्श्वनाथ-सालेहा की रचना वि० स० १७९३ मे की थी। वे रूपक काव्यो के लिखने मे सिद्धहस्त थे। उनके लिखे हुए चरखा-चउपई, शिवरमणी का विवाह और जिन जी की रसोई ऐसे ही गीत हैं।

जैन अपभ्रंश का हिन्दी के निर्गुण भक्ति-काव्य पर प्रभाव

जिस भाति सस्कृत मे 'श्लोक' और प्राकृत मे 'गाथा' छन्द के लिए प्रसिद्ध हैं, ठीक वैसे ही अप्रभ्रश मे 'दूहा' का सबसे अधिक प्रयोग किया गया। अपभ्रश का तात्पर्य है-दूहा-साहित्य। यह दो भागो मे बाँटा जा सकता है—एक तो भाटो के द्वारा रचा गया जिसमे शृगार, वीर आदि रसो की भावात्मक अभिव्यक्ति है। इसके प्रचुर उदाहरण 'आचार्य हेमचन्द्र' के 'सिद्धहेमशब्दानुशासन'[1] मे मौजूद है। दूसरा वह, जिसके रचयिता बौद्ध सिद्ध और जैन साधक थे। तिलोप्पाद, सरहपाद, कण्हपाद आदि का दूहा-साहित्य 'दोहाकोश' मे प्रकाशित हो चुका है। जैन साधको का साहित्य एक सकलित रूप मे तो नही, किन्तु पृथक्-पृथक् पुस्तकाकार या पत्रिका मे प्रकाशित होता रहा है। कुछ ऐसा है, जो हस्तलिखित रूप मे उपलब्ध है।

परमात्मप्रकाश अपभ्रश का सामर्थ्यवान् ग्रन्थ है। इसके रचयिता आचार्य योगीन्दु एक प्रसिद्ध कवि थे। उनका समय ईसा की छठी शती माना जाता

---

१ सिद्धहेमशब्दानुशासन, डॉ० पी० एल० वैद्य— सम्पादित तथा भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट से सन् १९३६ ई० मे प्रकाशित। सशोधित सस्करण सन् १९५८ ई० मे पुन छपा है।

है।[1] उन्होने इस ग्रन्थ का निर्माण, अपने शिष्य प्रभाकर भट्ट को अध्यात्म-विषय समझाने के लिए किया था अत उसमे एक अध्यापक की सरलता, मधुरता और पुनरावृत्तिवाली बात मौजूद है । योगीन्दु ने स्वय स्वीकार किया है कि शिष्य को समझाने के लिए शब्दो को बार-बार दुहराना पडा है । इसी उद्देश्य से उपमा और रूपको का भी प्रयोग किया गया है। उनके पद्य कोमलता और माधुर्य से युक्त हैं। उनकी भाषा जनसाधारण की भाषा थी, अत उसमे गेय-परकता अधिक है। उद्योतनसूरि (७७८ ई०) का यह कथन कि 'अपभ्रश का प्रभाव बरसाती पहाडी नदियो की भाँति बेरोक होता है और प्रणयकुपिता नायिका की भाँति यह शीघ्र ही मनुष्यो के मन को वश मे कर लेती है,[2] परमात्मप्रकाश पर पूर्णरूप से घटित होता है। जहाँ तक भावधारा का सम्बन्ध है, उसमे भी योगीन्दु की उदारता स्पष्ट परिलक्षित होती है। वे किसी सम्प्रदाय अथवा धर्म-विशेष की सकुचित सीमाओ मे आबद्ध नही हुए। उन्होने मुक्त आत्मा की भाति ही उन्मुक्तता का परिचय दिया। उनका 'जिन' शिव और बुद्ध भी बन सका। उनके द्वारा निरूपित परमात्मा की परिभाषा मे केवल जैन ही नही अपितु वेदाती, मीमासक और बौद्ध भी समा सके। उन्होने अजैन शब्दावली का भी प्रयोग किया। परमात्मप्रकाश अध्यात्म का ग्रन्थ है, जैन या बौद्ध नही। इसके दो अधिकारो मे १२६ और २१९ दोहे हैं। इस पर ब्रह्मदेव की सस्कृत टीका और प० दौलतराम की हिन्दी टीका महत्वपूर्ण है।[3] यह ग्रन्थ डा० ए० एन० उपाध्ये के सम्पादन मे बम्बई से प्रकाशित हो चुका है।

योगसार नामक ग्रन्थ के रचयिता भी योगीन्दु ही थे। इसमे १०८ दोहे हैं। इसका विषय परमात्मप्रकाश से मिलता-जुलता है किन्तु, इसमे वैसी सरसता नही है। डॉ० ए० एन० उपाध्ये ने इसका भी सम्पादन किया है। इसका प्रकाशन 'परमात्मप्रकाश' के साथ बम्बई मे हुआ था।

सावयधम्मदोहा के रचयिता को लेकर दो भिन्न मत हैं। डॉ० ए० एन० उपाध्ये इसे लक्ष्मीचन्द की रचना बतलाते है और डॉ० हीरालाल जैन देवसेन की। इस समय देवसेनवाला मत ही प्रचलित है। डॉ० हीरालाल का सबसे बडा

---

१ परमात्मप्रकाश, डॉ० ए० एन० उपाध्ये-लिखित प्रस्तावना, पृ० ६७।

२ वही, प्रस्तावना, पृ० १०६ और अपभ्रशकाव्यत्रयी, गायकवाड ओरियण्टल सीरीज, बडौदा, श्री एल० बी० गाधी-लिखित प्रस्तावना, पृ० ६७-६८।

३ श्री ब्रह्मदेव ईसा की तेरहवी शती और प० दौलतराम अठारहवी शती मे हुए।

तर्क यह है कि 'सावयधम्मदोहा' देवसेन के भावसग्रह[1] से बिलकुल मिलता-जुलता है। देवसेन मालवा-प्रान्त की धारा-नगरी के निवासी थे। उन्होंने वहां ही सन् ९३३ ई० मे 'सावयधम्मदोहा' का निर्माण किया था। अब यह 'दोहक' डा० हीरालाल जैन के सम्पादन मे कारजा से प्रकाशित हो चुका है। इसका दूसरा नाम 'श्रावकाचारदोहक' भी है। इसमे श्रावकधर्म होने पर भी कवि की उन्मुक्तता स्पष्ट है।

दोहापाहुड मध्यकालीन सतकाव्य की एक शक्तिशाली कृति है। इसके रचयिता मुनि रामसिंह के विषय मे केवल इतना विदित है कि वे राजस्थान के निवासी थे। डॉ० रामकुमार वर्मा ने उनका समय वि० स० ९९० मे ११५७ के मध्य निर्धारित किया है।[2] डॉ० हीरालाल जैन इन्हे सन् १००० के लगभग मानते है।[3] इस ग्रन्थ मे केवल २२२ दोहे हैं। डॉ० हीरालाल जैन के सम्पादन और विद्वत्तापूर्ण भूमिका के साथ यह ग्रन्थ कारजा से प्रकाशित हो चुका है। इस ग्रन्थ मे एक ओर आत्मसाक्षात्कार के बिना बाह्य आडम्बर नितात हेय और व्यर्थ बताये गये है, तो दूसरी ओर जीव के परमात्मा से प्रेम करने की बात कही गई है। वहा आत्मा और परमात्मा के तादात्म्य से उत्पन्न हुए समरस भाव के अनुपम चित्र पाये जाते है। दोहापाहुड एक रहस्यवादी कृति है। हिन्दी के भक्तिकालीन रहस्यवाद पर उसका स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है।

वैराग्यसार के रचयिता सुप्रभाचार्य हैं। कई दोहो मे उनका नाम आया है। यह काव्य सबसे पहले डॉ० वेलणकर द्वारा सपादित होकर 'एनल्स आव भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट' से प्रकाशित हुआ था। यह सस्कृत टीका के साथ जैनसिद्धान्तभास्कर, भाग १६, किरण, दिसम्बर, १९४९ ई० मे भी छप चुका है। कवि ने ससार की क्रूरता और व्यर्थता दिखाकर जीव को आत्मदर्शन की ओर उन्मुख किया है। इस काव्य मे धन की सार्थकता जिनेन्द्र की भक्ति मे स्वीकार की गई है। काव्य मे सरसता और आकर्षण की कमी नही है।

---

१ यह ग्रन्थ माणिकचन्द-दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला से पन्नालाल सोनी के सम्पादन मे, विक्रमाब्द १९७८ मे प्रकाशित हो चुका है।

२ 'हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' डॉ० रामकुमार वर्मा, पृ० ८३।

३ पाहुडदोहा, भूमिका, डॉ० हीरालाल जैन-लिखित, पृ० ३३।

मुनि रामसिंह के 'दोहापाहुड' के अतिरिक्त एक और दोहापाहुड उपलब्ध हुआ है। उसकी हस्तलिखित प्रति आमेर-शास्त्रभण्डार, जयपुर मे मौजूद है। उसमे ३३३ दोहे हैं। इसके रचयिता कोई महचन्द्र नाम के कवि हैं। इससे स्पष्ट है कि ये महीचन्द्र नाम के तीनो जैन भट्टारको से पृथक हैं। उन्होने एक स्थान पर 'जोइ द' का स्मरण किया है।[1] उनका काव्य 'परमात्मप्रकाश' से प्रभावित है। उसमे 'परमात्मप्रकाश' की भाति ही 'निष्कल ब्रह्म' के ध्यान से अनत सुख की प्राप्ति की बात कही गई है। उसकी अन्य प्रवृत्तियाँ भी 'परमात्मप्रकाश' से हू-ब-हू मिलती-जुलती हैं। यह भी रहस्यवाद का उत्तम निदर्शन है।

महात्मा आनन्द तिलक ने 'आणदा' नाम की एक मुक्तक रचना का निर्माण किया था। इसकी हस्तलिखित प्रति आमेर-शास्त्र भण्डार, जयपुर मे मौजूद है। इसके रचना-काल पर मतभेद हैं, किन्तु भाषा की दृष्टि से वह चौदहवी शती की प्रतीत होती है। इतना निश्चित है कि इसका निर्माण कबीर आदि निर्गुणवादी सतो के पूर्व हुआ था। इसमे ४४ पद्य हैं। यह रचना आध्यात्मिक भक्ति का सरस उदाहरण है। इसमे 'अप्पा' को चिदानदु, णिरजणु, परमसिउ आदि विशेषणो से युक्त किया गया है। इसमे लिखा है कि साधुजन तीर्थों मे भ्रमण न करके, कुदेवो को न पूजकर अपने हृदय मे भरे अमृत-सरोवर मे स्नान करें और हृदय में ही विराजमान परमात्मा की उपासन करे, उन्हे परमानन्द मिलेगा। सद्गुरु की महिमा का स्थान-स्थान पर वर्णन किया गया है।

हिन्दी का भक्ति-काव्य दो भागो मे विभक्त है-निर्गुण-भक्तिधारा और सगुण भक्तिधारा। निर्गुण-भक्ति के दो भेद हैं-ज्ञानाश्रयी शाखा और प्रेमाश्रयी शाखा। इसी भाँति सगुण-भक्तिधारा भी कृष्ण-काव्य-और राम-काव्य के रूप मे वटी हुई है। इनमे निर्गुण-भक्तिकाव्य जैन अपभ्रंश के दूहा-काव्य से प्रभावित है, ऐसा मैं मानता हूँ। दोनो की अधिकाश प्रवृत्तिया समान हैं। इसलिए डॉ० हीरालाल जैन ने लिखा था-"इनमे वह विचार-स्रोत पाया जाता है जिसका प्रवाह हमे कबीर की रचना मे प्रचुरता से मिलता है।[2] डॉ० रामसिंह 'तोमर' का भी कथन है कि 'जो हो, हिन्दी-साहित्य मे इस रहस्यवाद-मिश्रित

---

१ महचन्द-कृत पाहुडदोहा, आमेर-शास्त्रभण्डार, जयपुर की हस्तलिखित प्रति, दोहा स० ३२८।

२ डॉ० हीरालाल जैन, अपभ्रंश-भाषा और साहित्य, काशी-नागरी-प्रचारिणी, पत्रिका भाग ५०, अक ३-४, पृ० १०७।

परम्परा के आदि प्रवर्त्तक कबीरदास है और उनकी शैली, शब्दावली का पूर्ववर्त्ती रूप जैन रचनाओ मे प्राप्त होता है।' [1]

कबीर निर्गुण ब्रह्म के उपासक थे। 'निर्गुण' का अर्थ है-गुणातीत। गुण का अर्थ है–प्रकृति का विकार-सत्त्व, रज और तम।[2] ससार इस विकार से सयुक्त है और ब्रह्म इससे रहित। किन्तु कबीरदास ने विकार-सयुक्त ससार के घट-घट मे 'निर्गुण' ब्रह्म का वास दिखाकर सिद्ध किया है कि 'गुण', 'निर्गुण' का और 'निर्गुण' 'गुण' का विरोधी नही है। इन्होने 'निरगुन मे गुन और गुन मे निरगुन' को ही सत्य माना,[3] अवशिष्ट सवको धोखा कहा। अर्थात्, कबीरदास सत्त्व, रज, तम के साहित्य की अपेक्षा ब्रह्म को निर्गुण और सत्त्व, रज, तम रूप विश्व के कण-कण मे व्याप्त होने की दृष्टि से सगुण कहा। उनका ब्रह्म ऐसा व्यापक था जो भीतर से वाहर और वाहर से भीतर तक फैला था। वह अभाव-रूप भी था और भावरूप भी, निराकार भी था और साकार भी, द्वैत भी था और अद्वैत भी। स्पष्ट है कि कबीर का ब्रह्म अनेकान्तात्मक था। जैसे, अनेकान्त मे दो विरोधी पहलू अपेक्षाकृत दृष्टि से निभ सकते है, वैसे कबीर के ब्रह्म मे भी थे। कबीर पर जाने और अनजाने एक ऐसी परम्परा का जवरदस्त प्रभाव पडा था, जो अपने मे पूर्ण थी और स्पष्ट। कबीरदास की सत्यान्वेषक बुद्धि ने उसको स्वीकार किया। उन्होने अनुभूति के माध्यम से उसको पहिचाना। अने-कान्त के पीछे छिपे सिद्धान्तो को न किसी ने समझाया, और न उनका उस सिद्धान्त से कोई अर्थ ही था। कबीरदास सिद्धान्तो के घेरे मे वधने वाले जीव नही थे। खैर, कबीरदास ने उस सुगन्धि को पसन्द किया, जो सर्वोत्तम थी। वह कहा से आ रही थी, किसकी थी, इसकी उन्होने कभी चिन्ता नही की। आज वह हमारे विचार का विषय अवश्य है।

कबीरदास पर वैसे तो न जाने कितने सम्प्रदायो का प्रभाव है, किन्तु उन मे नाथ और सूफी सम्प्रदायो को प्रमुखता दी जाती है। मै नाथ सम्प्रदाय

१, डॉ० रामसिंह 'तोमर' जैन साहित्य की हिन्दी–साहित्य को देन, प्रेमी-अभिनन्दन-ग्रन्थ, पृ० ४६७।

२ डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी कबीर · प्र० हिन्दी--ग्रथ-रत्नाकार--कार्यालय, बम्बई, नवम्बर, १९५५, ई० पृ० २०४।

३ सतो, धोखा कासू कहिये
गुण मे निरगुण निरगुण मे गुण
बाट छाडि क्यू बहिये ? — कबीर, ग्रन्थावली, पद १८०।

का सम्बन्ध जैन परम्परा से मानता हू । डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी माना है कि नाथ-सम्प्रदाय मे जो वारह सम्प्रदाय अन्तर्मु क्त किये गये थे, उनमे पारस और नेमी-सम्प्रदाय भी थे । दोनो जैन थे । इसी कारण नाथ-सम्प्रदाय मे अनेकान्त का स्वर अवश्य था, भले ही उसका रूप अस्पष्ट रह गया हो ।

यही अनेकान्त का स्वर अपभ्र श के जैन दूहा-काव्य मे पूर्णरूप से वर्तमान है । कवीर ने जिस ब्रह्म को 'निर्गु ण' कहा है, योगीन्दु के 'परमात्मप्रकाश' मे उसे ही 'निष्कल' सज्ञा से अभिहित किया गया था । 'निष्कल' की परिभापा बताते हुए टीकाकार ब्रह्मदेव ने 'पञ्चविधशरीररहित ' लिखा ।[1] महचन्द ने भी अपने दोहापाहुड मे निष्कल शब्द का प्रयोग इसी अर्थ मे किया है । शरीररहित का अर्थ है–नि शरोर, देहरहित, अस्थूल, निराकार, अमूर्त्तिक, अलक्ष्य । प्रारम्भ मे योगीन्दु ने इसी 'निष्कल' को 'निरञ्जन' कहकर सम्वोधित किया है । उन्होने लिखा है–"जिसके न वर्ण होता है, न गन्ध, न रस, न शब्द, न स्पर्श, न जन्म और न मरण, वह निरञ्जन कहलाता है ।"[2] निरञ्जन का अधिकाधिक प्रयोग किया गया है । वैसे 'निष्कल' के अनेक पर्यायवाची है । उनमे आत्मा, सिद्ध, जिन और शिव का स्थान–स्थान पर प्रयोग मिलता है । मुनि रार्मसिह ने समूचे दोहापाहुड मे केवल एक स्थान पर 'निर्गु ण' शब्द भी लिखा है । उन्होने उसका अर्थ किया है– निर्लक्षण और नि सग ।[3] वह 'निष्कल' से मिलता–जुलता है ।

कवीर की 'निर्गु ण मे गुण और गुण मे निर्गु ण' वाली बात अपभ्र श के काव्यो मे उपलब्ध होती है । योगीन्दु ने लिखा— जसु अब्भतरि जगु वसइ, जग-अब्भतरि जो जि ।[4] इस भाँति मुनि रार्मसिह का कथन है— तिहुयणि दीसइ

---

१ परमात्मप्रकाश, १।२५ पर ब्रह्मदेव-कृत-सस्कृत-टीका, पृ० ३२ ।

२ जासु ण वण्णु ण गधु रसु जासु ण सद्दुण फासु ।
जासु ण जम्मणु मरणु णवि णाउ निरजणु तासु ।। परमात्मप्रकाश १।१६, पृ० २७ ।

३ हउ सगुणी पिउ णिग्गुणउ णिल्लक्खणु णीसगु ।
एकहिं अ गी वसतयह मिलिउ ण अ गहिं अ गु ।।
—पाहुडदोहा, १०० वाँ दोहा, पृ० ३० ।

४ जसु अब्भतरि जगु वसइ जग अब्भतरि जो जि ।
जागे जि वसतु वि जगु जिण वि मुणि परमप्पउ सो जि ।।
—परमात्मप्रकाश, १।४१ पृ० ४५ ।

देउ, जिए जिएावरि तिहुवगु एउ ।[1] अर्थात्, त्रिभुवन में जिनदेव दिखता है और जिनवर मे यह त्रिभुवन । जिनवर मे त्रिभुवन ठीक वैसे ही दिखता है, जैसे निर्मल जल मे ताराओ का समूह प्रतिबिम्बित होता है ।[2] किन्तु, त्रिभुवन मे जिनदेव की व्याप्ति कुछ विचार का विषय है । त्रिभुवन का अर्थ है— त्रिभुवन मे रहने वालो का घट-घट । उसमे निर्गुण या निष्कल ब्रह्म रहता है । निष्कल है पवित्र और घट-घट है अपवित्र-सगुण और मैल से भरा । कुछ लोगो का कथन है कि गन्दगी से भरी जगह मे वह ब्रह्म नही रह सकता, अत पहले उसको तप, साधना या सयम किसी भी प्रक्रिया से शुद्ध करो, तब वह रहेगा, अन्यथा नही । कबीर ने निर्गुण राम की शक्ति मे पूरा विश्वास किया और कहा कि इसके बसते ही कलुष स्वत ही पलायन कर जाता है । उन्होंने स्पष्ट ही लिखा- ते सब तिरे राम रसवादी, कहे कबीर बूडे बकवादी ।[3] उनकी दृष्टि मे विकार, की लहरो से तरगायित उस ससार-सागर से पार होने के लिए राम-रूपी नैया का ही सहारा है । कबीर मे बहुत पहले मुनि रामसिंह ने भीतरी चित्त के मैल को दूर करने के लिए निरञ्जन को धारण करने की बात कही थी ।[4] उन्होंने यह भी लिखा कि जिसके मन मे परमात्मा का निवास हो गया, वह परमगति पा लेता है ।[5] उनके कथनानुसार जिसके हृदय मे भगवान् 'जिनेन्द्र' मौजूद हैं

---

१ तिहुयणि दीसइ देउ जिणु जिणवरि तिहुवगु एउ ।
जिणवरि दीसइ मयलु जगु को विण किज्जइ भेउ ।।
—पाहुडदोहा, ३९ वाँ दोहा, पृ० १२ ।

२ नारायणु जलि विंवियउ णिम्मलि दीसइ जेम ।
अप्पए णिम्मलि विंवियउ लोयालोउ वि तेम ।।
—परमात्मप्रकाश, २।१०२, पृ० १०६ ।

३ रसना राम गुन रमि रस पीजै । गुन अतीत निरमोलिक लीजै ।।
निरगुन ब्रह्म कथौ रे भाई । जा सुमिरत सुधि बुधि मति पाई ।।
विष तजि राम न जपसि अभागे । का बूडे लालच के लागे ।।
ते सब तिरे रामरसवादी । कहै कबीर बूडे बकवादी ।।
—कबीर-ग्रन्थावली, पद ३७५

४ अब्भिंतर चित्ति वि मइलियइ बाहरि काइ तवेण ।
चित्ति णिरंजणु को वि धरि मुच्चहि जेम मलेण ।।
—पाहुडदोहा, ६१ वाँ दोहा, पृ० १८ ।

५ जसु मणि णिवसइ परमपउ सयलइ चिंत चवेवि ।
सो पर पावइ परमगइ अट्ठइ कम्म हणेवि ।।
—वही, दोहा-स ६६ ।

वहा मानो समस्त जगत् ही सचार करता है । उनके परे कोई नही जा सकता ।[1] आचार्य योगीन्दु का भी कहना है— "जिसके मन मे निर्मल आतमा नही वसती, उसका शास्त्र-पुराण और तपश्चरण से भी क्या होगा ?"[2] अर्थात् निष्कल ब्रह्म के बसने से मन भी शुद्ध हो जायगा, उसकी गन्दगी रहेगी नही । विषय-कषायो से सयुक्त मन जब निरञ्जन को पा लेता है, तब वह मोक्ष का हकदार बन जाता है । इसके अतिरिक्त तन्त्र और मन्त्र उसे मोक्ष नही दिला सकते ।[3] महचन्द्र ने भी दोहापाहुड मे लिखा है— "निष्कल परम जिन को पा लेने से जीव सब कर्मो से मुक्त हो जाता है, आवागमन से छूट जाता है और अनत सुख प्राप्त कर लेता है ।[4]

कबीर आदि सत कवियो ने 'साहिब' को घट के भीतर देखने के लिए कहा । उन्होने स्पष्ट ही लिखा कि देवालय, मस्जिद, मूर्त्ति और चित्र आदि मे 'वह' नही रहता । वहा उसका ढू ढा जाना व्यर्थ होगा । इसी भाति उन्होने तीर्थ-यात्रा को भी नि सार माना । तीर्थो मे भगवान नही रहता । 'भ्रम विधोसण कौ अ ग' कबीरदास ने लिखा है–"यह दुनिया मन्दिरो के आगे सिर झुकाने को जाती है, परन्तु हरि तो हृदय के भीतर रहते हैं, तू उसी मे लौ लगा ।[5]" इसी भाति

---

१ केवलु मल परिवज्जियउ जहिं सो ठाइ अणाइ ।
तस उरि सब जगु सचरइ परइ ण कोइ वि जाइ ।।

—वही, दोहा–स० ८६ ।

२ अप्पा णिय मणि निम्मलउ णियमे वसइ ण जासु ।
सत्थ पुराणइ तव चरणु मुक्खु वि करहि कि तासु ।।

—परमात्मप्रकाश, १।६८, पृ० १०२ ।

३ जेण णिरजणि मणु धरिउ विसय कसायहि जतु ।
मोक्खह कारण एत्त अण्णु ण ततु ण मतु ।।

—वही, १।१२३, पृ० १२५ ।

४ झायहिं णिक्कुलु परम जिणु कम्मट्ठ हविणि मुक्क ।
आवण गवण विवर्जियऊ लहु अणतु चउक्कु ।।
—महचन्द पाहुडदोहा, आमेर-शास्त्रभण्डार की हस्तलिखित प्रति, ६१ वाँ दोहा ।

५ कबीर दुनिया देहुरैं, सीस नवावण जाइ ।
हिरदा भीतर हरि बसै, तू ताही सौ ल्यो लाइ ।।

—कबीर-ग्रन्थावली, भ्रमविधौसण कौ अ ग, ११ वाँ दोहा ।

उन्होने पत्थर की मूर्त्ति के पूजने को मझधार मे डूबने के समान माना है।[1] दादू का कथन भी मिलता-जुलता है–"कोई द्वारका दौडता है, कोई काशी और कोई मथुरा, किन्तु साहिब तो घट के भीतर मौजूद है।"[2] सत कवि की यह मान्यता अपभ्रंश कवियो मे अधिकाधिक देखी जाती है। 'परमात्मप्रकाश' मे लिखा है–"आत्मदेव न तो देवालय मे रहता है, न शिला मे, न लेप्य मे और चित्र मे, वह तो समचित्त मे निवास करता है।"[3] योगीन्दु ने योगसागर मे भी लिखा–"श्रुत-केवली (सब विद्याओ का पूर्ण जानकार) ने कहा है कि तीर्थों मे, देवालयो मे देव नही है, वह तो देह-देवालय मे विराजमान रहता है, इसे निश्चित समझो। यह सासारिक जीव उसके दर्शन मन्दिरो मे करना चाहता है, यह उपहासास्पद है।"[4] मुनि रामसिह ने पाहुडदोहा मे उनको मूर्ख कहा है, जो शिव को देवालयो मे ढूढते फिरते है, अपने देह-मन्दिर को नही देखते, जहा वह है।[5] महात्मा आनन्दतिलक का कथन है—

अठसठि तीरथ परिभमइ, मूढा मरहि भमतु।
अप्पा बिन्दु न जाणही, आणदा घट महिं देउ अणतु ॥[6]

---

१ पाहण केरा पूतला, करि पूजैं करतार।
इसी भरोसैं जे रहे, ते बूढे काली धार ॥
—देखिए वही, पहला दोहा।

२ दादू केई दौडे द्वारिका, केई कासी जाहि।
कैंई मथुरा को चले, साहिब घट ही माहि ॥
—दादू की वाणी, यशपाल-सपादित, दिल्ली,
पृ० २६ का अन्तिम पद्य।

३ देउ ण देउले णवि सिलए णवि लिप्पइ णवि चित्ति।
अखउ णिरजणु णाणमउ सिउ सठिउ समचित्ति ॥
—परमात्मप्रकाश, १।१२३, पृ० १२४।

४ तित्थहिं देवलि देउ णवि इम सुइकेवलिवुत्तु।
देहा देवलि देउ जिणु एहउ जाणि णिरुत्तु ॥४२॥
देहा देवलि देउ जिणु जणु देवलहिं णिएइ।
हासउ महु पडिहाइ इहु सिद्धे भिक्ख भमेइ ॥४३॥

५. मूढा जोवइ देवलइ लोयहिं जाइ कियाइ।
देह ण पिच्छइ जप्पणिय जहिं सिउ सत ठियाइ ॥१८०॥

६ देखिए 'आणदा' की हस्तलिखित प्रति, (आमेर–शास्त्र भडार, जयपुर), पद–स० ३।

कबीरदास ने सबसे बडा काम यह किया कि उस अव्यक्त ब्रह्म को प्रेम का विषय बनाया। अभी तक वह केवल ज्ञान के द्वारा प्राप्तव्य माना जाता था। प० रामचन्द्र शुक्ल की दृष्टि मे निर्गुण ब्रह्म से प्रेम करने की बात सूफियो से आई, भारतीय धरती मे उसका बीज भी नही था। किन्तु, आत्मा से प्रेमपरक प्रणय की परम्परा जैनकाव्यो मे उपलब्ध होती है और उसका प्रारम्भ अपभ्रंश के इस साहित्य से ही नही, अपितु उसके भी बहुत पूर्व से मानना होगा। यह तो स्पष्ट है कि मुनि रामसिंह के पाहुडदोहा पर आचार्य कुन्द-कुन्द के भावपाहुड का प्रभाव है। आचार्य कुन्द कुन्द का समय वि० स० की पहली शती माना जाता है। कबीरदास ने निर्गुण-भक्ति के क्षेत्र मे दाम्पत्य-रति का रूपक घटित किया। उन्होने ब्रह्म को पति और जीव को पत्नी बनाया। 'हरि मेरा पीव मैं हरि की बहुरिया' को लेकर प्रेम के विविध पहलुओ पर कबीर ने लिखा–तन्मय होकर लिखा। ब्रह्म को पति बनाने की बात पाहुडदोहा मे उपलब्ध होती है। मुनि रामसिंह ने लिखा–मैं सगुण हूँ और पिय निर्गुण–निर्लक्षण और नि सग, अत एक ही देहरूपी कोठे मे रहने पर भी अ ग से अ ग न मिल सका।[1] आगे चलकर हिन्दी के जैनकाव्य मे दाम्पत्य प्रेम का सरस उद्‌घाटन हुआ। उनमे सर्वोत्कृष्ट थे महात्मा आनन्दघन। उनकी आत्मारूपी दुलहिन ने परमात्मारूपी पिय से प्रेम किया, फिर दर्शन, मिलन और तादात्म्य-जन्य आनन्द का अनुभव किया। वैसे बनारसीदास, भगवतीदास, द्यानतराय, मनराम आदि हिन्दी के जैन कवियो ने आध्यात्मिक भक्ति मे दाम्पत्य-रति को प्रमुखता दी किन्तु, रूपक के रूप मे भी अश्लीलता नही आ पाई, यह उनकी विशेषता थी। पति–पत्नी का प्रेम चलता रहा और आध्यात्मिकता भी निभती रही।

ब्रह्म के प्रति प्रेम की भावनात्मक अभिव्यक्ति ही रहस्यवाद कहलाती है। कबीर के रहस्यवाद की सबसे बडी विशेषता है—'समरस भाव'। आत्मा और परमात्मा के तादात्म्य होने को समरस कहते हैं। रसता इसलिए कहा कि दोनो के एक होने से ब्रह्मानन्द मिलता है। उसे ही रस कहते है। आत्मा और परमात्मा के तादात्म्य को लेकर जैन परम्परा मे कुछ भिन्नता है। जैन आचार्यो की 'आत्मा' एक अखण्ड ब्रह्म का खण्ड अ श नही है, अत उसके ब्रह्म मे मिलने जैसी बात उत्पन्न ही नही होती। किन्तु, आत्मा शुद्ध होकर परमात्मा बनती है। आत्मा के तीन भेद है—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। बाह्य आत्मा इतनी मिथ्यावत होती है कि वह पूर्ण शुद्धता प्राप्त ही नही कर सकती। अन्त-

---

१ पाहुडदोहा, १०० वा पद्य, पृ० ३०।

रात्मा मे शुद्ध होने की ताकत होती है, किन्तु वह अभी पूर्ण शुद्ध है नही। परमात्मा आत्मा का पूर्ण शुद्ध रूप है।[1] रहस्यवाद मे आत्मा के दो ही रूप काम करते है—एक तो वह, जो अभी परमात्मा को प्राप्त नही कर सका है और दूसरा वह,जो परमात्मा कहलाता है। पहले मे बहिरात्मा और अन्तरात्मा शामिल है और दूसरे मे केवल परमात्मा। पहला अनुभूति-कर्त्ता है और दूसरा अनुभूति-तत्व।

चाहे आत्मा ही ब्रह्म बनती हो अथवा वह ब्रह्म मे मिलती हो, समरसता और तज्जन्य अनुभूति का आनन्द जैनकाव्यो मे उपलब्ध होता है। कबीर ने लिखा है—पाणी ही तै हिम भया, हिम है गया बिलाइ। जो कुछ था सोई भया, अब कछू कह्या न जाइ॥[2] ठीक ऐसा ही जैन कवि बनारसीदास का कथन है—पिय मोरे घट मैं पिय माहि, जलतरग ज्यो द्विविधा नाहि।[3] द्विविधा के मिटने की बात भगवतीदास भैया ने भी कही—जब तै अपनो जिउ आप लख्यो,तब तै जु मिटी दुविधा मन की।[4] हिन्दी कवियो की यह समरसता अपभ्रश के दूहा-काव्य मे ज्यो की त्यो उपलब्ध होती है। आचार्य योगीन्दु ने 'परमात्मप्रकाश' मे लिखा है—मणु मिलियउ परमेसरहे परमेसरु वि मणस्स, हि वि समरसि हूवाँह पुज्ज चडावउँ कस्स। अर्थात् मन परमेश्वर मे और परमेश्वर मन मे मिलकर समरस हो गये, तो फिर मैं अपनी पूजा किसे चढाऊँ?[5] एक-दो शब्दो के हेर-फेर से मुनि रामसिंह ने भी लिखा—मणु मिलियउ परमेसरहो परमेसरु जि मणस्स, बिण्णि वि समरसि हुइ रहिय पुज्ज चडावउँ कस्स।[6] दोनो की भाषा मे यत्किञ्चित् अन्तर के अतिरिक्त कोई भेद नही है। मुनि आनन्द तिलक ने भी समरस के रग की बात लिखी है। उनका कथन है—समरस भावे रगिया अप्पा देखइ सोई, अप्पउ जाणइ परहणई आणद करई णिरालब होई।[7]

---

१ परमात्मप्रकाश, १।११।१५, पृ० २०–२४।

२ कबीर-ग्रन्थावली, परचा कौ अग, १७ वा दोहा।

३ बनारसीदास अध्यात्मगीत, १६ वा पद्य, बनारसी विलास, जयपुर, पृ० १६१।

४ भगवतीदास 'भैया', शत-अष्टोत्तरी, ३५ वा कवित्त, ब्रह्मविलास, जैन ग्रन्थरत्नाकर-कार्यालय, बम्बई, सन् १९२६ ई०, पृ० १६।

५ परमात्मप्रकाश, १।१२३, पृ० १२५।

६ पाहुडदोहा, ४९ वा दोहा, पृ० १६।

७ देखिए आमेर-शास्त्र भडार, जयपुर की 'आणदा' की हस्तलिखित प्रति, ४० वा पद्य।

आत्मा और परमात्मा के तादात्म्य से उत्पन्न होने वाला आनन्द केवल कबीर के भाग्य मे ही नही बदा था, बनारसीदास को भी मिला और उन्हे उसका स्वाद कामधेनु, चित्रावेलि और पचामृत भोजन जैसा लगा।[1] उनकी दृष्टि मे राम-रसिक और राम-रस पृथक् नही रह पाते, दोनो एक हो जाते हैं।[2] द्यानत-राय ने उस आनन्द को गू गे के गुड के समान कहा, जिसका अनुभव तो होता है, किन्तु कहा नही जा सकता।[3] कबीर ने इसी को 'गू गे केरी शर्करा, बैठे ही मुसकाय' कहकर प्रकट किया था। समरसता से उत्पन्न होने वाले इस आनन्द की बात कबीर से कई शती पूर्व आचार्य योगीन्दु ने 'परमात्मप्रकाश' मे स्वीकार की थी। उन्होने 'णिच्चु णिरजणु णाणमउ परमाणदसहाउ' कहकर अपने नित्य, निरजन और ज्ञानमय परमात्मा को परमानन्द-स्वभाव वाला घोषित किया।[4] एक दूसरे दोहे मे—'केवल सुक्ख सहाउ' लिखा,[5] अर्थात् उसका स्वभाव पूर्ण सुखरूप है। 'परमसुख और परमानन्द' पर्यायवाची है। तात्पर्य हुआ कि परमानन्द और केवल--सुख स्वभाव वाले ब्रह्म से जिसका तादात्म्य होगा, वह भी तद्रूप ही हो जायगा। इस आनन्द को पूर्णतया स्पष्ट करते हुए उन्होने एक पद्य मे लिखा—"समभाव मे प्रतिष्ठित योगीश्वरो के चित्त मे परमानन्द उत्पन्न करता हुआ जो कोई स्फुरायमान होता है, वही परमात्मा है।"[6] अर्थात् आत्मा जब परमानन्द का अनुभव कर उठे,तब समझो कि परमात्मा मिल गया है। 'परमानन्द' के 'परम' की व्याख्या करते हुए उन्होने उसे अद्वितीय का वाचक लिखा है। उनका कथन है—"शिव-दर्शन से जिस परमसुख की प्राप्ति होती है, यह इस भुवन मे

---

१ अनुभौ के रस कौं रसायन कहत जग,
अनुभौ अभ्यास यहु तीरथ की ठौर है।
अनुभौ की केलि यहै कामधेनु चित्रावेलि,
अनुभौ को स्वाद पच अमृत कौ कोर है॥
—बनारसीदास नाटकसमयसार, बम्बई, वि० स० १९८९, पृ० १७।

२ देखिए वही।

३ द्यानतविलास, कलकत्ता, ६० वा पद, पृ० २५।

४ णिच्चु णिरजणु णाणमउ परमाणद सहाउ।
जो एहउ सो सत सिउ तासु मुणि ताहि भाउ॥ —२।१७।

५ केवल दसण णाणमउ केवल सुक्ख सहाउ।
केवल वीरिउ सो मुणहि जा जि परावरु भाउ॥२४॥

६ जो सम भाव परिट्ठियहॅ जोइहॅ कोई फरेइ।
परमाणदु जणतु फुडु सो परमप्पु हवेइ॥३५॥

कही भी नही है। इस अनन्त सुख को इन्द्र करोडो देवियो के साथ रमण करने पर भी प्राप्त नही कर पाता।"[1] ठीक यही बात मुनि रामसिह ने पाहुडदोहा मे लिखी है—त सुहु इ दु वि णाउ लहइ देविहि कोटि रमतु।[2] उन्होने यह भी लिखा कि 'जिसके मन मे परमात्मा का निवास हो गया, वह परमगति को पा जाता है।'[3] यह परमगति, परमसुख और परम आनन्द ही है। मुनि आनन्द तिलक ने भी—'अप्प णिर जणु परम सिउ अप्पा परमाणदु' लिखकर आत्मा को 'निरञ्जन' और 'शिव' कहते हुए 'परमानन्द' भी कहा।[4]

कबीरदास ने परमात्मा के मिलन को अमृत का धारासार बरसना कहा है। जिस प्रकार अमृत अमरत्व प्रदान करता है, उसी प्रकार मिलन की यह वर्षा जीव को परमपद देती है। इस अमृत का ज्ञान गुरु से प्राप्त होता है। कबीर इसके पारखी है। उन्होने इस अमृत को छककर पिया है।[5] जैनकवि विनय-विजय ने भी घट मे स्थित सुधासरोवर का उल्लेख किया है। उसमे स्नान करने से दु ख दूर हो जाते है, परम आनन्द उपलब्ध होता है। इस सरोवर को गुरुदेव दिखाता है, किन्तु वही देख सकता है, जिसका उसमे दिल लगा है।[6] इस सुधा स्नान और सुधा पान की महिमा कवि बनारसीदास को भी विदित थी। कवि

---

१ ज सिव दसणि परम सुहु पावहि झाणु करतु।
त सुहु भुवणि वि अत्थि णवि मेल्लिवि देउ अणतु ॥११६॥
ज मुणि लहइ अणत जग, णिय अप्पा झायतु।
त सुहु इ दु वि णाउ लहइ देविहि कोडि रमतु ॥११७॥

२ ज सुहु विसय परमुहउ णिय अप्पा झायतु।
त सुहु इ दु विणाउ लहइ देविहि कोडि रमतु ॥३॥

३ जसु मणि णिवसइ परमपउ सयलइ चित्त चवेवि।
सो पर पावइ परमगइ अट्ठइ कम्म हणेवि ॥६६॥

४ आमेर–शास्त्रभण्डार, जयपुर की 'आणदा' की हस्तलिखित प्रति, दूसरा दोहा।

५ अमृत वरिसै हीरा निपजै घटा पडै टकसाल।
कबीर जुलाहा भया पारषू अनमै उतरया पार ॥
—कबीर वाणी। कबीरदास डा० द्विवेदी, पृ० २६०।

६ सुधा सरोवर है या घट मे, जिसमे सब दुख जाय।
विनय कहे गुरुदेव दिखाये, जो लाऊँ दिल ठाय ॥
प्यारे काहे कू ललचाय ॥
—पदसग्रह, बडौत, शास्त्रभण्डार की हस्तलिखित प्रति, पृ० १७।

आनन्दसूरि ने भी अमृत का आचमन किया था। जिस अमृत के आनन्द की बात हिन्दी के जैन और अजैन कवियो मे इतनी प्रसिद्ध है, उसका पूर्वस्वाद अपभ्रंश कवि ले चुके थे। मुनि आनन्द तिलक ने लिखा है कि ध्यान-रूपी सरोवर मे अमृत-रूपी जल भरा है, जिसमे मुनिवर स्नान करते है और अष्टकर्मो को धोकर निर्वाण मे जा पहुँचते है।[1] इन्ही मुनि ने एक दूसरे स्थान पर लिखा है कि परमानन्द-रूपी सरोवर मे जो मुनि प्रवेश करते हैं, वे अमृतरूपी महारस को पीने मे समर्थ हो पाते है, किन्तु गुरु के उपदेश से।[2] मुनि रामसिह ने ब्रह्म को अमर कहकर उसे अपनाने का आग्रह किया है। अर्थात् उसके अमृतरूप की महिमा गाई है।[3] योगन्दु ने अमृत-सरोवर को दृष्टान्त के द्वारा प्रकट किया है। उन्होने लिखा है—"ज्ञानियो के निर्मल मन मे अनादिदेव उसी प्रकार निवास कर रहा है, जिस प्रकार सरोवर मे हस लीन रहता है। सभी कुछ अनादि है, हस भी और सरोवर भी।"[4] परमात्मप्रकाश मे ब्रह्म का 'अजरामर' विशेषण तो एकाधिक बार प्रयुक्त हुआ है। हृदयरूपी सरोवर मे हस के विचरण करने की बात तो महचन्द ने भी लिखी है।[5]

मध्यकालीन सत कवियो ने अपने बह्म को सभी पौराणिक देवो के नाम से पुकारा है। किन्तु, उनका अर्थ पुराण-सम्मत नही था। कबीर का राम निरञ्जन है। वह निरञ्जन, जिसका रूप नही, आकार नही, जो समुद्र नही, पर्वत नही, धरती नही, आकाश नही, चन्द्र नही, पानी नही, पवन नही—अर्थात्

---

१ झाण सरोवरु अमिय जलु मुणिवरु कहइ सण्हाणु।
णुम कर्म मल धोर्वाहि अणदा रे, णियठा पाहु णिव्वाणु॥
—आमेर-शास्त्रभण्डार की हस्तलिखित प्रति, ५ वाँ पद।

२ परमाणद सरोवरह जे मुणि करइ प्रवेसु।
अमिय महारसु जइ पिवई आणदा! गुरु स्वामिहि उपदेसु॥
—वही, २६ वाँ पद।

३ देहहो पिक्खिवि जरमरणु मा भउ जीव करेहि।
जो अजरामरु बम्भु सो अप्पाण मुणेहि॥
—पाहुडदोहा, ३३ वाँ दोहा, पृ० १७।

४ णिय मणि णिम्मलि णाणियहँ णिवसइ देउ अणाइ।
हसा सरवरि लीणु जिम मठ एहउ पडिहाइ॥
—परमात्मप्रकाश, १।१२२, पृ० १२३।

५ महचन्द, दोहापाहुड, आमेर-शास्त्रभण्डार की हस्तलिखित प्रति, ३२ वाँ पद्य।

सभी दृश्यमान पदार्थो से विलक्षण।[1] उनका विष्णु वह है, जो ससार रूप मे विस्तृत है, उनका गोविन्द वह है, जिसने ब्रह्माण्ड को धारण किया है, उनका खुदा वह है, जो दस दरवाजो को खोल देता है, करीम वह है, जो इतना सब कर देता है, गोरख वह है, जो ज्ञान से गम्य है, महादेव वह है, जो मन को मानता है, सिद्ध वह है, जो इस चराचर दृश्यमान जगत् का साधक है, नाथ वह है, जो त्रिभुवन का एकमात्र पति या योगी है।[2] जैन महात्मा आनन्दघन ने भी अपने ब्रह्म के ऐसे ही ऐसे अनेक पर्यायवाची दिये हैं। उन्होने भी इनका पौराणिक अर्थ नही लिया है। उनका राम वह है, जो निज पद मे रमे, रहीम वह है, जो दूसरो पर रहम करे, कृष्ण वह है, जो कर्मों का क्षय करे, महादेव वह है, जो निर्वाण प्राप्त करे, पार्श्व वह है, जो शुद्ध आत्मा का स्पर्श करे, ब्रह्म वह है, जो आत्मा के सत्य रूप को पहचाने। उनका आत्मब्रह्म निष्कर्म, निष्कलक और शुद्ध चेतनमय है।[3] इससे स्पष्ट है कि कबीर और आनन्दघन दोनो का ही राम दशरथ का पुत्र नही था। वह अवाङ् मनसगोचर था।

आत्मा को अनेक नाम से पुकार कर उसे अमूर्त्त, अलक्ष्य, अजर, अमर घोषित करने वाली जैन परम्परा अति प्राचीन है। आचार्य मानतु ग ने 'भक्तामरस्तोत्र' मे जिनेन्द्र को बुद्ध कहा, किन्तु वह बुद्ध नही, जिसने कपिलवस्तु मे राजा शुद्धोदन के घर जन्म लिया था, अपितु वह, जो (विबुधार्चितबुद्धिबोधात्) बुद्ध है। उन्होने शकर भी कहा, किन्तु शकर से उनका तात्पर्य 'श' करने वाले से था, प्रलयङ्कर शकर से नही। उनका जिनेन्द्र धाता भी था, किन्तु शिवमार्ग-विरोधेर्विधानात् होने से धाता था। सब पुरुषो मे उत्तम होने से ही उनका नाम भगवान् पुरुषोत्तम था।[2] आचार्य भट्टाकलक ने अकलकस्तोत्र मे ऐसे ही

---

१ कबीर-ग्रन्थावली, २१६ वाँ पद।

२ कबीर-ग्रन्थावली, ३२७ वाँ पद।

३ निज पद रमे राम सो कहिये, रहिम करे रहेमान री।
करशे कर्म कान सो कहिये, महादेव निर्वाण री॥
परसे रूप पारस सो कहिए, ब्रह्म चिन्हे सो ब्रह्म री।
इह विध साधो आप आनन्दघन, चेतनमय नि कर्म री॥

—आनन्दघन-पदसग्रह, प्र० अध्यात्मज्ञान-प्रसारक-मडल, बम्बई, पद ६७ वाँ।

२ बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चितबुद्धिबोधा-
त्त्व शङ्करोऽसि भुवनत्रयशङ्करत्वात्।
धातासि धीर! शिवमार्गविधेर्विधानाद्-
व्यक्त त्वमेव भगवन्पुरुषोत्तमोऽसि॥

—भक्तामरस्तोत्र, २५ वाँ पद्य।

तीन काल की वस्तुओं को नित्य जानता है। वह सदैव शांत-स्वभाव रहता है।[1] अपभ्रंश–साहित्य मे परमात्मा के जिस पर्यायवाची का सबसे अधिक प्रयोग किया गया, वह है—निरञ्जन। योगीन्दु ने निरञ्जन की परिभाषा लिखी है, जिसका विवेचन पिछले पृष्ठो पर हो चुका है। योगीन्दु ने योगसार मे भी परमात्मा के निष्कल, शुद्ध, जिन, विष्णु, बुद्ध, शिव आदि अनेक नाम दिये है।[2] तात्पर्य वहा भी यही है कि परमात्मा को किसी नाम से पुकारो, किन्तु वह है निरञ्जन रूप ही। महात्मा आनन्द तिलक ने उसे हरि, हर, ब्रह्मा कहा, किन्तु साथ ही यह भी लिखा कि वह मन और बुद्धि से अलभ्य है, स्पर्श, रस, गन्ध से बाह्य है और शरीर से रहित है।[3]

जो परमात्मा निराकार है, अमूर्त है, अलक्ष्य है, उसकी भक्ति किस प्रकार सम्भव है? मन को चारो ओर से हटाकर, देह–देवालय मे बसने वाले ब्रह्म मे तल्लीन करना, ब्रह्म से प्रेम करना और ब्रह्म का नाम लेना यदि भक्ति है तो वह भक्ति कबीर ने की और उनके भी पूर्व जैन भक्तो ने। उन्होने किसी उद्देश्य को पूरा करने के लिए अपने मन को ब्रह्म मे समर्पित नही किया—उनका समर्पण बिना शर्त था। उनका प्रेम भी अहेतुक था उसमे लौकिक अथवा पारलौकिक किसी प्रकार का स्वार्थ नही था। कबीर जैसा बिना शर्त आत्मसमर्पण–सगुण परम्परा तो दूर, निर्गुण-धारा के भी अन्य कवियो मे न बन पडा। उन्होने कहा—"इस मन को 'बिसमल' करके, ससार से हटा करके निराकार ब्रह्म के दर्शन करू। किन्तु यह मार्ग आसान नही है। इस पर चलने वाले को सिर देना

---

१ जो णिय भाउ ण परिहरइ जो परभाउ ण लेइ।
जाणइ सयलु वि णिच्चु पर सो सिउ सतु हवेइ ॥
—परमात्मप्रकाश, १।१८, पृ० २७।

२ णिम्मलु णिक्कलु सुद्धु जिणु विण्हु बुद्धु सिव सतु।
सो परमप्पा जिण भणिउ एहउ जाणि णिमतु ॥
—योगसार, ९ वाँ दोहा, पृ० ३७३।

३ हरिहर सभुवि सिव णही मणु बुद्धि लक्खिउण जाइ।
मध्य सरीर है सो वसइ अणदा लीजइ गुरुहिं पसाइ ॥
फरस रस गध बाहिरउ रूव विहूणउ सोइ।
जीव सरीरहँ विणु करि अणदा सहगुरु जाणइ सोइ ॥
—आमेर-शास्त्रभण्डार की 'आणदा' की हस्तलिखित प्रति, पद्य-स०१८, १९।

पडता है । यदि वह ऐसा नही करेगा तो उस पर अगारे दहकाये जायेंगे ।"[1] कुछ का तात्पर्य है कि सभी सासारिक सुख-सुविधाओ की वलि देकर मन को ब्रह्म मे लीन करना चाहिए, अन्यथा विकृत विश्व मे फसे रहने के कारण उसे नारकीय दुख झेलने होगे । ब्रह्म मे मन समो देने से मलीमस स्वत ही रह जायगा । ऐसा नही हे कि हमने मन दिया, तो ब्रह्म ने पवित्रता । कवीर मे लेन-देन वाली वात नही थी । कवीर ने ऐसी शर्त कभी नही लगाई । 'मन दिया मन पाइये, मन विन मन नहिं होई ।[2] मे केवल मन के उन्मुख होने की वात है, शर्त की नही, मन को ससार से उन्मन करके निरजन मे खपाना मूलाधार हे ।

विना शर्त मन निरञ्जन मे लगाने की वात जैसी जेन परम्परा मे देखी जाती है, अन्यत्र नही । जैन सिद्धात के अनुसार शर्त का निर्वाह नही हो सकता । जैन भक्त जिस ब्रह्म की आराधना करता हे, उसमे कर्त्तव्य-शक्ति नही है । वह विश्व का नियन्ता नही है । उसे किसी की पूजा और निन्दा से कोई तात्पर्य नही है । फिर भी, उसके गुणो का स्मरण चित्त को पवित्र वनाता है—पापो को दूर करता है ।[3] ब्रह्म के कुछ न करते हुए भी, उसके स्मरण मात्र से ही पवित्रता मिलती है और उसमे शुभ कर्म वनते हे, जो इहलौकिक और पारलौकिक दोनो प्रकार की ही विभूति देने मे समर्थ हे । इस भाति जैन भक्त के ब्रह्म मे केवल प्रेरणा देने वाला कर्त्तव्य होता है । अर्थात् उसके मूक और अकर्त्ता व्यक्तित्व मे इतनी ताकत होती है, जिसके स्मरण या दर्शन-मात्र से भक्त को वह सब कुछ

---

१ इस मन कौं विसमल करौं, दीठा करौं अदीठ ।
 जे सिर राखौं आपणाँ, तौ पर सिरिज अगीठ ।।
 —कवीर-साखी-सुधा, मन को अग, छठा दोहा ।।

२ मन दीया मन पाइए, मन बिन मन नही होइ ।
 मन उनमन उस अड ज्यू अनल अकासा जोई ।।
 —देखिये वही ६ वा दोहा ।

३ न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे
 न निन्दया नाथ विवान्तवैरे (?) ।
 तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नं
 पुनाति चित्त दुरिताञ्जनेभ्य ।।
 —आचार्य समन्तभद्र स्वम्भूस्तोत्र, १२।२

स्वत ही मिल जाता है, जिसकी उसे आकाक्षा रहती है। किन्तु भक्त आकाक्षा-रहित होता है, निष्काम होता है, कुछ न देने वाले का दर्शनाकाक्षी निष्काम होगा ही, यह सत्य है। किन्तु उसे ब्रह्म को देखने की इच्छा तो रहती है। वह सासारिक इच्छा मे न गिनी जाने के कारण 'कामना' नही कहलायगी। अर्थ यह है कि पहले तो जैन भक्त के निष्काम होने से ही शर्त वाली बात नही टिक पायेगी, फिर यदि टिकाई भी जाय, तो किसके सहारे? जो सब कुछ झाडकर मोक्ष मे जा बिराजा हो, उसे तुम्हारे भले बुरे से क्या तात्पर्य। उसके पास अपने गुण है, उन्हे तुम चाहो प्राप्त करलो, वे तुम्हारे पास भी हैं—छिपे पडे है, ढूढ लो। अर्थात् शर्त को कही स्थान नही, एक जैन भक्त ने खीझकर लिखा—तुम प्रभु कहियत दीनदयालु, आपन जाइ मुक्ति मे बैठे, हम जु रुलत जग-जाल।[1] जैन ब्रह्म क्या करे, जब उसे विदित है कि उसने तुम्हे जगजाल मे नही रुलाया, फिर उसे जग जाल से निकलने की प्रेरणा दे सकते है, जो निकल चुके हैं, इसके अतिरिक्त कुछ नही। बताइये ऐसो से आप क्या शर्त लगायगे। तो, शर्त का मूल हो जैन परम्परा मे नही है।

इसके विपरीत जो अपने मन को बिना शर्त नि स्वार्थ भाव से ब्रह्म मे केन्द्रित करता है, वह भी वैसा ही हो जाता है। पिछले पृष्ठो पर परमानन्द, सुख और परमगति पाने की बात लिखी है, वह मन को परमात्मा मे ध्यानस्थ करने से ही सम्भव हुआ था। परमात्मा परमानन्द का ही बना है। वह उसका स्वरूप है। योगीन्दु ने यहा तक लिखा कि जो परमात्मा है, वह ध्यान का विषय होगा ही।[2] योगीवृन्द भी उस ज्ञानमय परमात्मा का ध्यान लगाता है।[3] ध्यान के बिना तो हरि-हर भी अपने ही अन्दर रहने वाले ब्रह्म को नही देख पाते। कबीर की भाति ही योगिन्दु ने लिखा था कि अन्य सब भावो को छोडकर हे जीव! अपनी आत्मा की ही भावना करो। वह आत्मा, जो आठ कर्म और सब

---

१ देखिये द्यानत पद सग्रह, कलकत्ता, ६७ वा पद, पृ० २८।

२ एर्याहि जुत्तउ लक्खर्णाहि जो परु णिक्कुल देउ।
सो तर्हि णिवसइ परम पइ जो तइलोयहँ झेउ॥
—परमात्मप्रकाश, १।२५, पृ० ३२।

३ जोइय विर्दाहि णाणमउ जो झाइज्जइ झेउ।
मोक्खह कारणि अणवरउ सो परमप्पउ देउ॥
—वही, १।३६, पृ० ४३।

दोपो से रहित है तथा दर्शन ज्ञान और चरित्र से युक्त है।[1] उसका ध्यान करने से एक क्षण मे स्वत ही परमपद मिल जाता है।[2] 'पाहुडदोहा' मे लिखा है कि योगियो को उस परमात्मा का ध्यान करना चाहिए, जो त्रैलोक्य का सार है। उन्होने उनको मूढ कहा, जो जगतिलक आत्मा को छोडकर अन्य किसी का ध्यान करते है। मरकतमणि को पहचानने के उपरात काच की क्या गणना रहती है।[3] आत्मा की भावना से पाप एक क्षण मे नष्ट हो जाते हैं। सूर्य एक निमेप मे अधकार के समूह का विनाश कर देता है।[4] उसके अनुसार जो परम निरजन देव को नमस्कार करता है, वह परमात्मा हो जाता है।[5] जो अशरीरी का सन्धान करता है, वही सच्चा धनुर्धारी है।[6] महात्मा आनन्द तिलक ने लिखा है—परमप्पद जो झावई सो सच्चउ विवहारु।[7] अर्थात् जो परमात्मा का ध्यान करता है, वही सच्चा व्यवहार है।

जहा तक अहेतुक प्रेम का सम्बन्ध है, वह भी जैन परम्परा मे ही अधिक खपता है। जो वीतराग है, वह राग को पसद करेगा? किन्तु, जैन भक्त उसकी वीतरागता पर रीझकर ही भक्ति करता है। वीतराग से राग करने वाले के हृदय मे प्रतिकार-स्वरूप प्रेम पाने की आकाक्षा न रही होगी, यह सत्य है। किंतु, जैन

---

१ अप्पा मेल्लिवि णाणमउ अण्णु परायउ भाउ।
सो छडेविणु जीव तुहु भावहि अप्प सहाउ।।
अट्ठह कम्मह वाहिरउ सयलह दोसह चत्तु।
दसण णाण चरित्तमउ अप्पा भावि णिरत्तु।।
—वही, १।७४, पृ० ८०, ८१।

२ अप्पा झायहि णिम्मलउ कि बहुए अण्णेण।
जो झायतह परम पउ लब्भइ एक्क खणेण।।
—वही, १।९७, पृ० १०१।

३ अप्पा मिल्लिवि जगतिउ मूढ य झायहि अण्णु।
जि मरगउ परियाणियउ तहु कि कच्चहु गण्णु।। ७१।।

४ अप्पाए वि विभावियइ णासइ पाउ खणेण।
सूरु विणासई तिमिरहरु एक्कल्लउ णिमिसेण।। ७२।।

५ परमणिरजणु जो णवइ सो परमप्पउ होइ।। ७७।।

६ असरीरह सधाणुकिउ सो धाणुक्कु णिरुत्तु।। १२१।।

७ देखिये 'आणदा' की हस्तलिखित प्रति, २४ वा पद्य।

हो या अजैन, एक प्रेमी अपने दिल का क्या करे ? भगवान चाहे निर्मोह हो या निर्गुण या शून्य-सनेही, जब उससे प्रेम किया है, तब प्रेमी का हृदय उसके साथ रभस आलिंगन को मचलेगा ही। कबीर का तो बाद मे मचला, किन्तु मुनि रामसिह का पहले ही मचल चुका था। जैन आचार्यों ने सिद्धात की दृष्टि से लिखा है कि मचलना बुरा नही, अच्छा होता है। भगवान के प्रति किया गया राग पाप के बन्ध का कारण नही बनता।[1] इसी कारण तो जिस भाति कबीर-दास की आत्मा पिय-मिलन के लिए बेचैन हुई, प्रिय-आगमन के लिए सन्चित बनी उसी भाति मुनि रामसिह को आत्मा ने अपनी सखी से कहा था—प्रियतम को बाहर पाच इन्द्रिया का स्नेह लग गया है, अत ऐसा प्रतीत होता है कि उसका आगमन नही होगा।"[2] प्रिय-आगमन के लिए दोनो की बेचैनी समान है, दोनो का सदेह समान है, दोनो की चिन्ता समान है। कबीर का प्रेम अहेतुक न बनता, यदि उन पर रामानन्दी भक्ति का प्रभाव होता—उन्हे वह योगधारा भी जन्म से मिली थी, जिसमे फक्कडपन था और थी मस्ती। और, उस योगधारा मे जो अहेतुक वाला पुट था, वह अवश्य ही जैन परम्परा मे जाने या अनजाने कैसे भी आया होगा। मैं नाथ-सम्प्रदाय को अनेक सम्प्रदायो का सकलन कह चुका हूँ। जैनो मे योग वाली बात अधिक थी। इसलिए अहेतुकता भी अधिक थी।

अहेतुक प्रेम का निर्वाह हिन्दी के जैन कवियो ने खूब किया। पत्नी प्रिय के वियोग मे इस भाति तडप रही है, जैसे जल के बिना मछली।[3] उसके हृदय मे पति से मिलने का चाव निरन्तर बढ रहा है। वह अपनी समता नाम की सखी से कहती है कि पति के दर्शन पाकर मैं उसमे इस तरह समा जाऊगी, जैसे

---

१ देवगुरुम्मिय भत्तो साहम्मिय सजुदेसु अणुरत्तो।
सम्मत्तमुव्वहतो झाणरओ होइ जोई सो॥
—आचार्य कुन्दकुन्द मोक्षपाहुड, ५२ वी गाथा।

२ पचहि बाहिरु णेहडउ हलि सहि लग्गु पियस्स।
तासु ण दीसइ आगमणु जो खलु मिलउ परस्स॥
—पाहुडदोहा, ४५ वा दोहा, पृ० १४।

३ मैं विरहिन पिय के अधीन।
यो तलफो ज्यो जल बिना मीन॥
—बनारसीदास आध्यात्मगीत, तीसरा पद्य, बनारसी विलास, जयपुर पृ० १५९।

बूद दरिया मे समा जाती है। मैं अपनापा खोकर पी से मिलूगी, जैसे ओला गलकर पानी हो जाता है।[1] और जब पति उसे मिला, तब रमस आलिंगन कौन कहे, एकमेक हुए बिना चैन न पडा। उन दोनो के 'एकमेक' को लेकर बनारसी दास ने लिखा—वह करतूति है और प्रिय कर्त्ता। 'वह सुखसीव है और प्रिय सुखसागर। वह शिव नीव है और प्रिय शिव मन्दिर। वह सरस्वती है और प्रिय ब्रह्मा। वह कमला है और पिय माधव। वह भवानी है और पिय शकर। वह जिनवाणी है और पति 'जिनेन्द्र।'[2] 'भैया' का पति कही भटक गया है, तो वह दुलारते हुए कहते है—"हे लाल। तुम किसके साथ लगे फिरते हो—तुम अपने महल मे क्यो नही आते, वहा दया, क्षमा, समता और शाति जैसी सुन्दर रमणिया तुम्हारी सेवा मे खडी हुई हैं। एक-से-एक अनुपम रूपवाली हैं।"[3] दुलारना सफल हुआ, पिय घर वापस आगया, तो सुमति का ठिकाना न रहा। वह पिय के साथ परमानन्द की अनुभूति मे डूब गई। महात्मा आनन्दघन की सुहागिन नारी के पति भी लम्बी प्रतीक्षा के बाद स्वय आगये है। उसकी

---

१ होहु मगन मैं दरसन पाय, ज्यो दरिया मे बूद समाय।
पिय को मिलो अपनपो खोय, ओला गल पाणी ज्यो होय॥
—देखिए वही, ६ वा पद्य पृ० १६०।

२ पिय मो करता मैं करतूति,
पिय ज्ञानी मैं ज्ञान विभूति।
पिय सुखसागर मैं सुखसीव,
पिय शिवमन्दिर मैं शिव नीव।
पिय ब्रह्मा मैं सरस्वती नाम,
पिय माधव मो कमला नाम।
पिय शकर मैं देवि भवानि,
पिय जिनवर मैं केवल वानि॥
—देखिये वही, पृ० १६१

३ कहा कहा कौन सग लागे ही फिरत लाल,
आवौ क्यो न आज तुम ज्ञान के महल मे।
नैकहू विलोकि देखौ अन्तर सुदृष्टि सेती,
कैसी-कैसी नीकी नारी ठाडी हैं टहल मे
एक तें एक वनी सुन्दर सुरूप घनी,
उपमा न जाय गनी वाम की चहल मे।
—भैया भगवतीदास शतअष्टोतरी, २७ वा पद्य, ब्रह्मविलास पृ० १४।

प्रसन्नता अगाध है। उसने इस उपलक्ष्य मे शृ गार किया है। सहज स्वभाव की चूडिया और थिरता का कगन पहना है, ध्यान-रूपी उरवसी गहना उर पर धारण किया है, सुरत के सिन्दूर से माग सजाई है, निरत की वेणी को आकर्षक ढग से गू था है और भक्ति की मेहदी रची है।[1]

शिव-रमणी कु आरी है। कु आरियो के विवाह होते ही है। शिव-रमणी का विवाह तीर्थंकर शातिनाथ (१६ वें तीर्थंकर) के साथ होने वाला है। अभी विवाह-मण्डप मे दूल्हा नही आ पाया है, किन्तु वधू की उत्सुकता दवती नही और वह अपने मनभाये के अभी तक न आने से उत्पन्न हुई बेचैनी सखी पर प्रकट कर देती है। उसका कथन है कि उसका पति सुखकन्द चन्द्र के समान है, तभी तो उसका मन उदधि आनन्द से आन्दोलित हो उठा है और उसके नेत्र-चकोर सुख का अनुभव कर रहे है।[2] यह सच है कि अभी उसे आनन्द हो रहा है, किन्तु जव पति से मिलने जायगी, तव आनन्द के साथ-साथ भय भी उत्पन्न होगा। पति अनजाना है, अनजाने से मिलने मे भय तो है ही। कवीर की नायिका काप रही है—थरथर कम्पै वाला जीव ना जाने क्या करसी पीव।[3] जायसी की नायिका घवरा रही है—अनचिन्ह पिउ कापै मन माहा, का मै कहव गहव जौ वाहा।[4] इसी प्रकार वनारसीदास की नवयौवना भी भडभडा गई है—बालम तुहु तन चितवन गागर फूटि, अचरा गौ फहराय सरम गह छूटि।[5] इस

---

१ सहज स्वभाव चूरिया पेनी, थिरता कगन भारी।
ध्यान उरवसी उर मे राखी, पिय गुन माल अधारी।
सुरत सिन्दूर माग रग राती, निरते वेनी समारी
उपजी ज्योत उद्योत घट त्रिभुवन, आरसी केवल कारी।
महिंदी भक्ति रग की राची, भाव अजन सुखकारी॥
—आनन्दघन पद सग्रह, २० वा पद पृ० १०।

२ सहि एरी ! दिन आज सुहाया मुझ भाया आया नही घरे।
सहि एरी ! मन उदधि अनन्दा सुखकन्दा चन्दा देह घरे॥
चन्द जिवा मेरा वल्लभ सोहे, नैन चकोरहि सुक्ख करै।
—वनारसीदास शातिजिनस्तुति, प्रथम पद्य, वनारसीविलास, पृ० १८९।

३ कवीरदास सवद, ६१ वा पद, सतसुधासार, दिल्ली, पृ० ८५।

४ जायसी पद्मावती-रत्नसेन-भेंट खण्ड पद्मावत, काशी, पृ० १३२।

५ वनारसीदास अध्यात्मपदपक्ति, १० वाँ राग-विरवा, पहला पद्य, वनारसीविलास, जयपुर, पृ० १५४।

विवेचन से सिद्ध है कि निर्गुणवादी सतो के अहेतुक प्रेम पर सूफियो का नही, अपितु उस श्रमणधारा का प्रभाव था, जो कबीर से सदियो पूर्व चली आ रही थी ।

जैन साहित्य मे सतगुरु' पूर्णरूप से प्रतिष्ठित है । उसकी महिमा यहा तक बढी कि पचपरमेष्ठी (अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, और साधु) को 'पचगुरु' की सज्ञा से अभिहित किया गया है । जहा कबीर ने गोविन्द और गुरु को दो बताया, वहा जैन आचार्यों ने दोनो को एक कहा । उनकी दृष्टि मे गोविद ही गुरु है । एक शिष्या ने कहा कि मैं उस गुरु की 'शिष्यानी' हूँ, जिसने दो को मिटाकर एक कर दिया ।[1] आत्म और अनात्म के भेद को मिटाने वाला ही गुरु है ।[2] केवल ग्रथो का पारायण करने वाला गुरु नही है । कबीर ने भी केवल ग्रन्थ पढकर गुरु बनने वाले की निरर्थकता घोषित की है । गुरु वह है जो ब्रह्म तक पहुचने का रास्ता दिखाये अथवा जिसके प्रसाद से ब्रह्म प्राप्त किया जा सके । रास्ता वही दिखा सकता है, जिसके पास ज्ञान का दीपक हो यह दीपक कबीर के गुरु के पास था और जैन गुरु तो दीपक रूप ही था । जीव लोक और वेद के अन्धकार से ग्रस्त पथ पर चला जा रहा था, आगे 'सत्गुरु' मिल गया, तो उसने ज्ञान का दीपक दे दिया, मार्ग प्रकाशित हो उठा और वह अभीष्ट स्थान तक पहुचने का रास्ता पा गया ।[3] आचार्य देवसेन का भी कथन है कि अन्धकार मे क्या कोई कुछ पहचान सकता है ? गुरु के वचन-रूपी दीपक के बिना प्रकाश ही न होगा, तो फिर देखना कैसे हो सकेगा, पहचानना तो दूर रहा ।[4] अनदेखा

---

१. बे भजे विणु एक्कु किउ मणह ण चारिय विल्लि ।
तहि गुरुवहि हउ सिस्सणी अण्णहि करमिण लल्लि ।।
—पाहुडदोहा, १७४ वा दोहा, पृ० ५२ ।

२ गुरु दिणयरु गुरु हिमकरणु गुरु दीवउ गुरु देउ ।
अप्पापरह परपरह जो दरिसावइ भेउ ।।
—वही, प्रथम दोहा, पृ० १ ।

३ पीछै लागा जाइ था, लोक वेद के साथि ।
आगै थैं सतगुरु मिल्या दीपक दीया हाथि ।।
—गुरुदेव कौ अग, १२ वा दोहा, कबीर-साखी-सुधा, पृ० ६ ।

४ त पायडु जिणवरवयणु, गुरुउवएसइ होइ ।
अधारइ विणु दीवडइ अहव कि पिछइ कोइ ।।
—सावयधम्मदोहा, छठा दोहा, पृ० ४ ।

अनचीन्हा लक्ष्य उपलब्ध भी न हो सकेगा। किन्तु गुरु के दीपक के साथ भी शर्त है कि वह ज्ञान का होना चाहिए। साधारण दीपक तो ६४ जला दिये जाये, तो भी अन्धकार दूर नही होगा। अन्धकार तो लाखो चन्द्रो के साथ होने पर भी हटेगा नही, जब तक उसमे ज्ञान का प्रकाश न होगा।[1] ज्ञान का प्रकाश ही मुख्य है—वह प्रकाश, जो आत्मब्रह्म तक पहुचने का मार्ग दिखाता है। इस प्रकाश का प्रदाता ही गुरु है, फिर चाहे सूर्य से, चाहे दीपक से और चाहे किसी देव से।[2]

कबीर के गुरु के प्रसाद से गोविन्द मिलते है। सुन्दरदास के गुरु भी दयालु होकर आत्मा को परमात्मा से मिला देते है।[3] दादू के मस्तक पर तो गुरुदेव ज्यो ही आर्शीवाद का हाथ रखते है कि उसे 'अगम-अगाध' के दर्शन हो जाते है।[4] जैन कवियो ने भी गुरु के प्रसाद को महत्ता दी है। कवि कुशललाभ को भी गुरु की कृपा से ही शिव-सुख उपलब्ध हुआ है।[5] सोलहवी शती के कवि चतरूमल ने पचगुरुओ के प्रणाम करने से मुक्ति का मिलना स्वीकार किया है। इसी शती के ब्रह्मजिनदास ने आदि पुराण मे गुरु के 'प्रसाद' से 'मुगति रमणी' के मिलने की बात लिखी है। पाण्डे रूपचन्द के मत से गुरु की कृपा से ही 'अवि-चल स्थान' प्राप्त होता है। यह परम्परा विकसित और पुष्ट रूप मे अपभ्रश-युग से चली आ रही थी। जैन अपभ्रश-काव्य मे सतगुरु की जी खोलकर प्रशसा की गई है। उनसे गुरु के प्रसाद का परम सामर्थ्य भी प्रकट हो जाता है। मुनि राम-

---

१ चौसठि दीवा जोइ करि, चौदह चदा माहि।
तिहि घरि किसको चानिणौ जिहि घरि गोविन्द नाहि॥
—गुरुदेव को अग, १७ वा दोहा, कबीर-साखी-साखी-सुधा पृ० १८७।

२ देखिए पाहुडदोहा, प्रथम दोहा पृ० १।

३ परमातम सो आत्मा जुरे रहे बहु काल।
सुन्दर मेला करि दिया सद्गुरु मिले दयाल॥
—सुन्दरदर्शन, इलाहबाद, पृ० १७७

४ दादू गैब माहि गुरुदेव मिल्या, पाया हम परसाद।
मस्तक मेरे कर धर्या देख्या अगम अगाध॥
—दादू, गुरुदेव, को अग, पहली साखी, सत सुधासार पृ० ४४६।

५ दिन-दिन महोत्सव अतिघणा, श्री सघ भगति सुहाइ।
मन शुद्धि श्री गुरुसेवी यह, जिणि सेव्यइ शिव सुख पाइ॥
—जैन ऐतिहासिक काव्यसग्रह, पूज्यवाहणगीतम् ५३ वा पद, पृ० ११५

सिंह ने लिखा है—"तू तभी तक लोभ से मोहित हुआ विषयो मे सुख मानता है, जब तक कि गुरु के प्रसाद से अविचल बोध नही पा लेता ।"[1] उन्होने यह भी कहा कि लोग तभी तक धूर्त्तता करते है जब तक गुरु के प्रसाद से देह के देव को नही जान लेते ।[2] मुनि महचन्द का कथन हे—"यह जीव गुरु के प्रसाद से परमपति ब्रह्म को अवश्य ही उपलब्ध कर लेता है ।"[3] महात्मा आनन्दतिलक ने असीम श्रद्धा के साथ लिखा कि यदि शिष्य निर्मल भाव से सुनता है तो गुरु के उपदेश से उसमे असीम ज्योति उल्लसित हुए बिना नही रहती । यह सच है कि शिष्य का भाव निर्मल होना चाहिए, अन्यथा गुरु का उपदेश निरर्थक ही होगा । कबीर के अनुसार 'बपुरा सतगुरु' क्या कर सकता है, यदि शिष्य मे ही चूक हो उसे चाहे जैसे समझाओ, सब व्यर्थ जायगा । ठीक वैसे ही जैसे बशी मे फूक ठहरती नही, बाहर निकल जाती है । पाँडे रूपचन्द ने लिखा हे कि अमृतमय उपदेश भी शिष्य को रुच नही सकता, यदि उसकी ज्ञानी आत्मा मिथ्यात्व से आवृत है । बनारसीदास का कथन हे—सहजमोह जब उपशमै रुचै सुगुरु उपदेश, तब विभाव भवतिथि घटै, जगै ज्ञानगुण लेश ।

भारतीय धरती सद्गुरुओ की महिमा से सदैव धन्य होती रही । उसका प्राचीन साहित्य, पुरातत्व और इतिहास साक्षी है । किन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि शनै शनै वह महिमा नि शेषप्राय हो गई, कुगुरु बढते गये और उनका अपयश भी । किन्तु उस समय के सत दोनो के अन्तर को स्पष्ट घोषित करते रहे, जिससे जनसाधारण को उनकी पहचान बनी रहती थी ।

---

१ लोहिं मोहिउ ताम तुहु विसयह सुक्ख मुणेहि ।
गुरुह पासाए जाम णवि अविचल बोहि लहेहि ।।
—पाहुडदोहा, ८१वा दोहा, पृ० २४ ।

२ ताम कुतित्थइ परिभमइ, धुत्तिम ताम करति ।
गुरुह पसाए जाम णवि देहह देउ मुणति ।।
—वही, ८० वा दोहा, पृष्ठ २४ ।

३ छुड्डु अतरु परियाणिजइ, बाहिरि तुट्टइ नेहु ।
गुरुह पसाइ परम पऊ, लब्भइ निस्सदेह ।।
—महीचन्द पाहुडदोहा, हस्तलिखित प्रति, ७१ वा दोहा

हिन्दी के आदिकाल मे जैन भक्तिपरक कृतियाँ

प० रामचन्द्र शुक्ल ने जिस युग को 'वीर गाथाकाल' कहा, उसी को महापण्डित राहुल साकृत्यायन ने 'सिद्धकाल' और डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'आदिकाल' नाम से अभिहित किया है। मुझे 'आदिकाल' प्रिय है, क्योकि उसमे 'वीर', 'धर्म', 'भक्ति' और 'सिद्ध' आदि सभी कुछ खप सकता है। वह एक निष्पक्ष शब्द है। यह तो अभी खोज का ही विषय बना हुआ है कि इस काल मे वीरगाथाए अधिक लिखी गयी अथवा धार्मिक कृतियाँ। साम्प्रतिक खोजो से जो कुछ सिद्ध हुआ है, उसके आधार पर धार्मिक कृतियो की सख्या अधिक है। उनमे जैन भक्ति-सम्बन्धी रचनाए भी है। भक्ति और धर्म का भावगत सम्बन्ध है, अत वे कृतियाँ धार्मिक हैं और साहित्यिक भी। मूल प्रवृत्तियो का भावोन्मेष ही साहित्य है, फिर भले ही उसका मुख्य स्वर धर्म या अन्य किसी विषय से सम्बन्धित हो।

प० रामचन्द्र शुक्ल के मत से वि० स० १०५० (सन् ९८३) से सवत् १३७५ (सन् १३१८) के काल को हिन्दी का आदिकाल कहना चाहिए। किन्तु इसके पूर्व ही देशभापा का जन्म हो चुका था। देश-भाषा का अर्थ है पुरानी

हिन्दी। धर्मशास्त्री नारद ने लिखा है कि "सस्कृतै प्राकृतैर्वाक्यैर्य शिष्यमनुरूपत । देपभाषाद्युपायैश्च वोधयेत् स गुरु स्मृत [1] ।।" डा० काशीप्रसाद जायसवाल का कथन है कि देशभाषा आचार्य देवसेन (वि० स० ९९०) के पहले ही प्रचलित हो चुकी थी।[2] आचार्य देवसेन ने अपने 'श्रावकाचार' मे जिन दोहो का उपयोग किया है, उनकी रचना देशभापा मे हुई है। इस श्रावकाचार की एक हस्तलिखित प्रति कारजा के सेनगण मन्दिर के पुस्तक भण्डार मे प्रस्तुत है। इसमे प्रयुक्त शब्दरूप, विभक्ति और धातुरूप प्राय सभी हिन्दी के है। कही-कही छन्द सिद्धि के लिए प्राकृत रूप रह गये हैं। हिन्दी काव्यो मे उनका प्रयोग आगे चलकर भी होता रहा। श्रावकाचार मे जिनेन्द्र और पचगुरु-भक्ति के अनेक उद्धरण है। एक स्थान पर लिखा है,

"जो जिण सासण भासियउ सो भइ कहियउ सार ।
जो पालेसइ भाउ करि सो तरि पावइ पारु ।।"

कुछ विद्वानो ने अपभ्रश और देशभापा को एक मान लिया, परिणामत उन्होने अपभ्रश कृतियो को भी हिन्दी मे ही परिगणित किया है। महा पण्डित राहुल साकृत्यायन की 'हिन्दी काव्यधारा' इसका निदर्शन है। यह सच है कि 'कथासरित्सागर' के आधार पर 'अपभ्रश' और 'देशी' समानार्थक शब्द थे,[3] किन्तु यह वैसा ही था जैसा कि पतञ्जलि के महाभाष्य मे प्राकृत और अपभ्रश को समानार्थक माना गया है।[4] भाषा-विज्ञान के अध्येता जानते हैं कि भाषाओ का स्वभाव विकसनशील है। मुखसौकर्य के लिए भाषाए निरन्तर समासप्रधानता से व्यासपरकता की ओर जाती रही हैं। प्राकृत से अपभ्रश और अपभ्रश से देशी-भाषा अधिकाधिक व्यासप्रधान होती गयी है। यह ही दोनो मे अन्तर है। अत दोनो को एक नही माना जा सकता। स्वयम्भू (९ वी शताव्दी वि० स०) का 'पउमचरिउ' नितान्त अपभ्रश ग्रन्थ है। उसमे कही देशी भापा का एक भी शब्द प्रयुक्त नही हुआ है। कवि पुष्पदन्त (वि०स० १०२९) ने 'णायकुमारचरिउ' मे अपनी सरस्वती को नि शेष देश भाषाओ का बोलने वाला भले ही कहा

---

१ वीर मित्रोदय से उद्धृत ।

२. डा० काशीप्रसाद जायसवाल का लेख 'पुरानी हिन्दी का जन्मकाल', नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग ८, पृ० २२० ।

३ कथासरित्सागर, १।६, पृ० १४८ ।

४ पातञ्जल महाभाष्य, १।१, पृ० १

हो,[1] किन्तु वह केवल विविध अपभ्रंश भाषाओं के बोलने मे ही निपुण है। पुष्पदन्त अपभ्रंश को ही देशभाषा कहते थे।

पुष्पदन्त के चालीस वर्ष उपरान्त हुए श्रीचन्द का 'कथाकोष' देशभाषा मे लिखा गया है। इस ग्रन्थ मे ५३ सन्धियां है। प्रत्येक सन्धि मे एक कथा कही गयी है। कथाएं भक्ति से सम्बन्धित है। ग्रन्थ की प्रशस्ति से स्पष्ट है कि श्रीचन्द के गुरु वीरचन्द थे, जो कुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा मे हुए हैं। एक उदाहरण इस प्रकार है,

"लहेवि सिद्धि च समाहिकारण
समत्थ ससार डुहोह वारण।
पहु जए ज सरस निरतर॥
सुह सयातप्फलज अणुत्तर
तेणाए माउ वढ्ढिउ पयाउ।
सम्मत्त णाण तव चरण थाण॥"

धनपाल धक्कड (१० वीं शती ईसवी) की 'भविसयत्त कहा'[2] मे यत्र-तत्र अनेक स्थानो पर देशभाषा का प्रयोग हुआ है। डा० विण्टरनित्स और प्रो० जैकोबी प्रभृति विद्वानो ने इस काव्यकथा के रचना-कौशल की प्रशसा की है। कथा का मूलस्वर व्रतरूप होते हुए भी जिनेन्द्र की भक्ति से सम्बन्धित है।

यद्यपि आचार्य हेमचन्द्र (सन् १०८८-११७९) ने देशी नाममाला[3] (कोश) का ही निर्माण किया था, किन्तु जहा तक भक्ति का सम्बन्ध है, उनका कोई स्तोत्र या काव्य देशभाषा मे लिखा हुआ उपलब्ध नही है। विनयचन्द सूरि (१३ वीं शती ईसवी) ने 'नेमिनाथ चउपई'[4] का निर्माण किया था। यह देश-

---

१ णायकुमारचरिउ, डा० हीरालाल जैन सम्पादित, कारजा, १९३३ ई० पहली सन्धि, पृ० ३।

२ इसका प्रकाशन सन् १९१८ मे प्रो० जैकोबी के सम्पादन मे म्यूनिक से हुआ था। बाद मे डा० पी डी गुणे ने इसका सम्पादन किया और सन् १९२३मे G O S XX मे इसे प्रकाशित किया। दोनो की भूमिकाएं विद्वत्तापूर्ण हैं।

३ 'देशी नाममाला' जर्मन विद्वान् पिशेल द्वारा सम्पादित होकर B S S XVII मे दो बार प्रकाशित हो चुकी है।

४ 'प्राचीन गुर्जरकाव्य सग्रह' मे इसका प्रकाशन सन् १९२० मे हुआ है।

भापा मे लिखी गई है। इसमे राजीमती के वियोग का वर्णन है। नेमिनाथ तीर्थङ्कर थे, अत उनसे किया गया प्रेम भगवद्विपयक ही कहलायेगा। जब नेमिनाथ ने पशुओ के करुणक्रन्दन से प्रभावित होकर तोरण-द्वार पर ही वैराग्य ले लिया, तो राजीमती विलाप कर उठी। इस काव्य मे उसके वियोग का चित्र खीचा गया है। कतिपय पक्तियाँ इस प्रकार है,

"भणइ सखी राजल मन रोइ,
नीठुरु नेमि न अप्पणु होई।
साँचउ सखि वरि गिरि भिज्जति,
किमइ न भिज्जइ सामलकति।।"

शालिभद्रसूरि (सन् ११८४) का 'वाहुवलिरास'[1] एक उत्तम कोटि का काव्य है। उसका सम्वन्ध महाराज वाहुवलि की वीरता और महत्ता से है। वाहुवलि प्रथम चक्रवर्त्ती थे। दोनो भाइयो मे साम्राज्य को लेकर युद्ध हुआ था। भरत को पराजित करने के उपरान्त वाहुवलि ने वैराग्य ले लिया। उन्ही की भक्ति मे इस काव्य की रचना हुई है। भाषा दुरूह अपभ्रश है, कही देशभाषा के दर्शन नही होते।

विक्रम की तेरहवी शताब्दी के अन्त मे श्री जिनदत्तसूरि (वि०स० १२७४) के रूप मे एक सामर्थ्यवान् व्यक्तित्व का जन्म हुआ। वे विद्वान थे और कवि भी। उन्होने 'चर्चरी', 'कालस्वरूपकुलकम्' और 'उपदेशरसायनरास' का निर्माण किया।[2] 'उपदेश रसायनरास' मे सतगुरु के स्वरूप का विशद वर्णन हुआ है। ये तीनो ही काव्य अपभ्रश भाषा मे लिखे गये है। गुरु के सम्वन्ध मे एक पद्य इस प्रकार है,

"सुगुरु सुवुच्चइ सच्चइ भासइ
पर पखायि – नियरु जसु नासइ।
सव्वि जीव जिव अप्पउ रक्खइ
मुक्ख-मग्गु पुच्छियउ जु अक्खइ।।"

---

१ श्री मुनि जिनविजय ने 'बाहुवलिरास' पर 'भारतीय विद्या', वर्ष २, अ क १ मे प्रकाश डाला है।

२ लालचन्द भगवानदास गान्धी ने इनका सम्पादन कर, शोधपूर्ण सस्कृत प्रस्तावना सहित G O S. XXXVII मे प्रकाशित किया है।

जिनपद्मसूरि (वि० स० १२५७) ने 'थूलिभद्दफाग' की रचना की थी। आचार्य स्थूलभद्र, भद्रबाहु स्वामी के समकालीन थे। उनका निर्वाण वी० नि० स० २१९ मे हुआ। उनका समाधिस्थल गुलजार वाग, पटना स्टेशन के सामने कमल-हृद् मे बना हुआ है। इस फाग की गणना उत्तम कोटि के काव्य मे की जाती है। इसमे स्थूलभद्र की भक्ति से सम्बन्धित अनेक सरस पद्यो की रचना हुई है। पावस वर्णन की कतिपय पक्तियाँ देखिए,

"सीयल कोमल सुरहि वाय जिस जिम वायते।
माण – मडफ्फर माणणिय तिम तिम नाचते॥
जिम जिम जलधर भरिय मेह गयणगणि मलिया।
तिम तिम कामीतरणा नयण नीरहि झल छलिया॥"

नेमिचन्द्र भण्डारी, खरतरगच्छीय जिनेश्वरसूरि के पिता थे। उन्होने वि० स० १२५६ के लगभग 'जिनवल्लभसूरि गुणवर्णन' के नाम से एक स्तुति लिखी थी, जो 'जैन ऐतिहासिक काव्य सग्रह' मे प्रकाशित हो चुकी है। यह स्तुति आचार्य भक्ति का निदर्शन है। इसमे ३५ पद्य हैं। एक पद्य इस भाँति है,

"पणमवि सामि वीर जिणु, गणहर गोयम सामि।
सुधरम सामिय तुलनि सरणु, जुग प्रधान सिवगामि॥"

महेन्द्रसूरि के शिष्य श्री धर्मसूरि (वि०स० १२६६) ने 'जम्बूस्वामी चरित्र' 'स्थूलभद्ररास' और 'सुभद्रासती चतुष्पदिका' का निर्माण किया था।[1] तीनो मे क्रमश ५२, ४७ और ४२ पद्य हैं। भगवान् महावीर के निर्वाण के उपरान्त केवल तीन केवली हुए, जिनमे जम्बूस्वामी अन्तिम थे। सुभद्रासती जिनेन्द्र की भक्त थी। तीनो ही रचनाएँ पुरानी हिन्दी मे लिखी गयी हैं। यद्यपि कुछ लेखक इन कृतियो की भाषा को गुजराती कहते है,[2] किन्तु वह हिन्दी के अधिक निकट है। तीनो का एक-एक पद्य निम्न प्रकार से है,

"जिण चउ वीसइ पथ नमेवि गुरु चरण नमेवि।
जम्बू सामिहिं तणउ चरिय भविउ निसुणेवि॥"

—जम्बू स्वामी चरित्र

---

१ तीनो की हस्तलिखित प्रतियाँ बीकानेर के वृहद् ज्ञान भण्डार मे मौजूद है।

२ लायब्रेरी मिसेलेनी, त्रैमासिक पत्रिका, बडौदा महाराज की सेण्ट्रल लायब्रेरी का प्रकाशन, अप्रैल १९१५ के अ क मे, श्री सी डी दलाल का, पाटण के सुप्रसिद्ध जैन पुस्तकालयो की खोज मे प्राप्त सस्कृत, प्राकृत, अपभ्र श और प्राचीन गुजराती के ग्रन्थो का विवरण।

"पणमवि सामरणदेवी अनइ वाएसरी ।
थूलिभद्र गुण गहण, मुणि मुणिव रहज्जु केसरी ॥"

—स्थूलभद्ररास

"ज फलु होइ गया गिरणारे, ज फलु दीन्हइ सोना भारे ।
ज फलु लखिव नवकारिहि, गुणिहि तं फल सुभद्रा चरितिहि सुणिहि ॥'

—सुभद्रासती चतुष्पदिका

शाहरयण, खरतरगच्छीय जिनपतिसूरि के शिष्य थे । उन्होने वि० स० १२७८ में 'जिनपतिसूरि धवलगीत'[1] का निर्माण किया था । यह कृति गुरु-भक्ति का दृष्टान्त है । इसमे बीस पद्य है । रचना सरस है । पहला पद्य देखिए,

"वीर जिणेसर नमइ सुरेसर तसपट्ट पणमिय पय कमले ।
युगवर जिनपति सूरि गुण गाइ सो भत्ति भर हरसि हिम निरमले ॥"

विजयसेनसूरि, नागेन्द्रगच्छीय हरिभद्रसूरि के शिष्य और मन्त्रिप्रवर वस्तुपाल के धर्माचार्य थे । उन्होने वि० स० १२८८ के लगभग 'रेवन्तगिरि रासो'[2] की रचना की थी । इसमे ७२ पद्य है । इसमे गिरिनार के जैन मन्दिरो का वर्णन है । इसकी भाषा प्राचीन गुजराती की अपेक्षा हिन्दी के अधिक निकट है । प्रारम्भ के दो पद्य इस भाँति है,

"परमेसर तित्थेसरह पय पकज पणमेवि,
भणिसु रासु रेवत गिरे, अ विक देवी सुमरेवी ।
गामागर–पुर–वण–गहण सरि-सरवरि-सुपएसु,
देवभूमि दिसि पच्छिमह मणहरु सोरठ देसु ॥"

विक्रम सवत् को १४ वी शताब्दी मे अनेक जैन कवि हुए । उनकी भाषा हिन्दी थी । उनको कविताओ का मूलस्वर भक्तिपूर्ण था । खरतरगच्छीय जिनपतिसूरि के शिष्य जिनेश्वरसूरि ने वि० स० १३३१ के लगभग अनेक भक्तिपूर्ण स्तुतियो की रचना की, जिनमे से एक का नाम है 'वावरो' ।[3] उसमे तीस पद्य है । आदि का एक पद्य देखिए,

---

१ 'ऐतिहासिक जैन काव्य सग्रह' मे प्रकाशित हो चुका है ।

२ 'प्राचीन गुर्जरकाव्य सग्रह' मे प्रकाशित हुआ है ।

३ श्री अगरचन्द नाहटा के निजी सग्रह मे मौजूद है ।

"भगति करवि वहु रिसह जिरण, वीरह चलरण नमेवि ।
हउ चालिउ मरिग भाव धरि, दुइरिग जिरणमरिग समरेवि ।।

इन्ही जिनेश्वरसूरि के शिष्य अभयतिलक ने वि० स० १३०७ वैसाख शुक्ला १० को 'महावीर रास' लिखा था । उसमे २१ पद्य है। इसे भगवान् महावीर की स्तुति ही कहना चाहिए । लक्ष्मीतिलकका 'शान्तिनाथ देवरास'[1] और सोम-मूर्त्ति का 'जिनेश्वरसूरि सयमश्री विवाहवर्णनरास',[2] भक्ति से सम्बन्धित प्रसिद्ध काव्य है ।

अम्बदेवसूरि, नागेन्द्रगच्छ के आचार्य पासडसूरि के शिष्य थे । उन्होने वि० स० १३७१ के लगभग सघपति 'समरारास'[3] का निर्माण किया था । ओसवाल शाह समरा सघपति ने वि० स० १३७१ मे शत्रुजय तीर्थक्षेत्र का उद्धार करवाया था । इस रचना मे उसी का वर्णन है । इसकी भापा मे राज-स्थानी के शब्द अधिक है । इससे अम्बदेव का जन्म राजस्थान मे कही हुआ था, ऐसा अनुमान होता है । इस रास की भापा का साहश्य गुजराती की अपेक्षा हिन्दी से अधिक है । जब समरा शाह ने पट्टन से सघ निकालकर शत्रुजय की ओर प्रयारण किया, उस समय का एक पद्य देखिए,

"वाजिय सख असख नादि काहल दुदु दुडिया,
घोडे चडइ सल्लारसार राउत सीगडिया ।
तउ देवालउ जोत्रि वेगि धाधरि रवु झमकइ,
सम विसम नवि गरगइ कोई नवि वारिउ थक्कइ ।।"

जिनप्रभसूरि (१४ वी शताब्दी वि० स०) खरतरगच्छीय जिनसिंहसूरि के शिष्य थे। उन्होने 'पद्मावतीदेवी चौपई' की रचना की थी। यह कृति अहमदाबाद से प्रकाशित 'भैरव पद्मावती कल्प' मे छप चुकी है। यह देवी पद्मावती की भक्ति से सम्बन्धित है । एक पद्य इस प्रकार है—

"श्रीजिन शासरगु अवधाकरि, क्षायहु सिरि पउमावइ देवि ।
भविय लोय आरगद वरि, दुल्हउ सावयजम्म लहेवि ।।"

---

१ महावीररास और शान्तिनाथ देवरास, श्री अगरचन्द नाहटा के निजी सग्रह मे मौजूद है ।

२ जैन ऐतिहासिक काव्य सग्रह मे छप चुका है ।

३ प्राचीन जैन गुर्जरकाव्य सग्रह मे सकलित है ।

चौदहवी शताब्दी के प्रसिद्ध कवि रल्हने 'जिणदत्त चौपई' की रचना वि० स० १३५७ मे की थी। इसकी एक हस्तलिखित प्रति जयपुर के पाटौदी के मदिर मे मौजूद है। इसमे पाच-सौ पचपन पद्य है। इसमे जिनदत्त से सम्बन्धित भक्ति-परक भाव प्रकट किये गये है। काव्यत्व की दृष्टि से भी कृति महत्वपूर्ण है। इसी शताब्दी के कवि घेल्हने 'चउवीसी गीत' की रचना वि०-स० १३७१ मे की। यह सरस रचना है। इसमे चौवीस तीर्थङ्करो की स्तुति की गयी है।

इस शताब्दी मे आनन्दतिलक ने 'महाणदिदेउ' नाम की रचना का निर्माण किया। इसकी एक हस्तलिखित प्रति आमेर-शास्त्र भण्डार जयपुर मे मौजूद है। अब तो उसका प्रकाशन नागरी प्रचारिणी पत्रिका मे हो चुका है। इसमें ४३ पद्य है। यह काव्य आध्यात्मिक भक्ति का निदर्शन है। गुरु महिमा के दो पद्य देखिए,

> "गुरु जिणवरु गुरु सिद्ध सिउ, गुरु रयणत्तय सारु।
> सो दरिसावइ अप्प परु आणदा भवजल पावइ पारु ॥३६॥
> सिक्ख सुणइ सद्गुरु भणइ परमाणद सहाउ।
> परम जोति तसु उल्हसई आणदा कीजइ णिम्मलु भाउ ॥२६॥"

जैन परिप्रेक्ष्य में मध्य युगीन हिन्दी काव्य

मध्यकालीन हिन्दी का आरम्भ सत काव्य से होता है। उस पर नाथ और सूफी सम्प्रदायो का प्रभाव माना जाता है, किन्तु इस युग का जैन सत-काव्य अपनी पूर्व परम्परा से अनुप्राणित है। जैन अपभ्रश मे वे सभी मूल बीज प्रस्तुत थे, जो हिन्दी के सत काव्य मे परिलक्षित होते है। यह आश्चर्य की बात है कि कबीर और जायसी के साहित्य की प्रवृत्तियाँ जैन अपभ्रश से मिलती हैं। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि नाथ-सम्प्रदाय मे उस समय प्रचलित १२ सम्प्रदाय अन्तर्भुक्त किये गये थे। उनमे 'नेमि' और 'पारस'-सम्प्रदाय भी थे। नवीन खोजो से सिद्ध है कि नेमि-सम्प्रदाय एक शक्ति सम्पन्न सम्प्रदाय था। यह सौराष्ट्र मे तो प्रचलित था ही, दक्षिणी और उत्तरी भारत तक मे भी विस्तृत था। यह २१ वे तीर्थङ्कर नेमीश्वर के नाम पर विख्यात हुआ था। नेमीश्वर कृष्ण के छोटे भाई थे।

पारस-सम्प्रदाय ईसा से ८०० वर्ष पूर्व प्रतिष्ठित सम्प्रदाय था। यह २३ वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ से सम्बद्ध था। भगवान् महावीर के माता-पिता इसी सम्प्रदाय के अनुयायी थे। आगम-साहित्य से सिद्ध है कि दीक्षा लेने के उपरान्त

वीतराग महावीर द्वीपालसा नाम के चैत्य मे ठहरे थे, जो तीर्थंकर पार्श्वनाथ के नाम पर पार्श्वचैत्य कहलाता था।[1]

इसके अतिरिक्त नाथ–सम्प्रदाय मे 'आई–पथ' भी समाविष्ट हुआ था। इस पथ के अनुयायियो का एक दल पीर–पारसनाथ की पूजा करता था। ये पीर पारसनाथ 'पार्श्वनाथ' ही है। मेरा दृढ विश्वास है कि नाथ–सम्प्रदाय' का नाम जैन तीर्थकरो के अन्तिम 'नाथ' शब्द के आधार पर ही रखा गया होगा। इससे प्रमाणित है कि जैन अपभ्रश और नाथ पथियो का सुदूरवर्त्ती मूल स्रोत एक ही है।

मूल स्रोत को एक मानने पर भी जैन और अजैन सत कवियो मे अन्तर है। अधिकाशतया अजैन सत निम्नवर्ग मे उत्पन्न हुए थे, किन्तु जैन सतो का जन्म और पालन-पोपरण उच्चकुल मे हुआ था। अत जैन सतो के द्वारा जाति-पाँति के खडन मे अधिक स्वाभाविकता थी। उन्होने जन्मत उच्च गोत्र पाकर भी, समता का उपदेश दिया। यह उस समय के उच्चकुलीन अह के प्रति एक प्रवल चुनौती थी। अजैन सत आजीविका के लिए कुछ-न-कुछ अवश्य करते थे, किन्तु जैन सतो मे सूरि, उपाध्याय और भट्टारको की प्रधानता थी। जैन-सत पढे-लिखे थे, उन्होने जैन साहित्य का विधिवत् अध्ययन किया था। निर्गुणवादी सतो की भाँति न तो उनकी वानी अटपटी थी और न भाषा विश्रृखल। उनका भाव पक्ष सवल था और बाह्यपक्ष भी पुष्ट।

कवीर निर्गुण ब्रह्म के उपासक थे और जैन सत भगवान् सिद्ध के। कवीर ने ब्रह्म को निर्गुण कहकर उसकी निराकारता और अव्यक्तता सिद्ध की है। वैसे वे भी निर्गुण ब्रह्म मे गुणो की प्रतिष्ठा स्वीकार करते हैं। किन्तु उन्होने ब्रह्म के गुणो का न तो सयुक्तिक विभाजन किया है और न वे एक अनुक्रम मे उनकी भावात्मक अभिव्यक्ति ही कर सके है। जैन हिन्दी–कवियो ने सिद्ध को निराकार और अव्यक्त मानते हुए भी, उनके पूर्व-निरूपित आठ गुणो का काव्यात्मक भावोन्मेप किया है। बनारसीदास और भैया भगवतीदास ने सिद्ध को ही ब्रह्म कहा है। 'भैया' का कथन है—

जेई गुण सिद्ध माहि तेई गुण ब्रह्म पाहि।
सिद्ध ब्रह्म फेर नाहि निश्चय निरधार कै॥

---

1. Dr. Hermann Jacobi, studies in Jainism, Jinvijai Muni Edited, Jaina Sahitya Samsodhaka Karyalaya, Ahmedabad 1946, P 5, F. 8.

सिद्ध के समान है विराजमान चिदानन्द ।
ताही को निहार निज रूप मान लीजिये ।।[1]

कवि बनारसीदास ने लिखा है—

परम पुरुष परमेसर परम ज्योति,
परब्रह्म पूरण परम परधान है ।
सरब दरसि, सरवस सिद्ध स्वामी शिव,
धनी नाथ ईश जगदीश भगवान् है ।।[2]

हिन्दी-कवियो का यह कथन विक्रम की सातवी शताब्दी मे होने वाले आचार्य योगीन्दु के परमात्म-प्रकाश के आधार पर प्रतिष्ठित है। उन्होंने भी सिद्ध को ब्रह्म सज्ञा से अभिहित किया है । उनकी दृष्टि मे शुद्ध आत्मा ही ब्रह्म है, और उसी को ब्रह्म कहते है ।[3] कबीर ने जिस आत्मा का निरूपण किया है, वह विश्वव्यापी ब्रह्म का एक अश-भर है । किन्तु जैन कवियो की आत्मा कर्म-मल को धोकर स्वय ब्रह्म बन जाती है, वह किसी अन्य का अश नही है । इस भाँति कबीर का ब्रह्म एक है, और जैनो के अनेक । किन्तु स्वरूपगत समानता होने से उनको भी एक ही कहा जा सकता है ।

कबीर ने जिस ब्रह्म की उपासना की है, उस पर केवल उपनिषदो के ब्रह्म का ही नही, अपितु सिद्धो, योगियो, सहजवादियो और इस्लामिक एकेश्वर-वादियो का भी प्रभाव पडा है । आचार्य क्षितिमोहन सेन की दृष्टि मे कबीरदास ने अपनी आध्यात्मिक क्षुधा के उपशम के लिए ही ऐसा किया ।[4] जैनो का ब्रह्म तो आध्यात्मिकता का साक्षात् प्रतीक है । उनका ब्रह्म अपनी पूर्व परम्परा से अनुप्राणित है । उस पर किसी का प्रभाव नही है ।

कबीर के ब्रह्म पर प्रभाव किसी का भी हो, किन्तु उसमे दार्शनिको की शुष्कता नही है । यदि ऐसा होता तो लाल की लाली देखनेवाली भी लाल कैसे

---

१ भैया भगवतीदास, सिद्धचतुर्दशी, पद्य २, ३, ब्रह्मविलास, जैनग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, द्वितीयावृत्ति, सन् १९२६ ई०, पृ० १४१ ।

२ कवि बनारसीदास, नाममाला, देखिए 'ईश' के पर्यायवाची नाम ।

३ योगीन्दु ने परमात्मप्रकाश मे अनेक स्थानो पर शुद्ध आत्मा को 'ब्रह्म' सज्ञा से अभिहित किया है । एतदर्थ १-२६ दोहा देखिए ।

४ आचार्य क्षितिमोहन सेन, कबीर का योग, कल्याण, योगाक, पृ० २९९ ।

हो जाती। कबीर के ब्रह्म मे रमणीयता है और सरसता भी। इसमे 'पीउ' का सौदर्य है, इसलिए कबीर की आत्मा ने स्वय 'वहुरिया' बनने मे चरम आनन्द का अनुभव किया है।[2] वह 'पिउ' जब उसके घर आया, तब उसके घर का आकाश मगल-गीतो से भर गया और चारो ओर प्रकाश छिटक उठा।[3] जायसी ने ब्रह्म को 'पीउ' के नही, अपितु 'प्रियतम' के रूप मे देखा। उसमे कबीर के ब्रह्म से मादकता अधिक है और जायसी के प्रियतम मे स्वतन्त्रता तथा सौन्दर्य। कबीर के लाल को देखने वाली ही लाल हो गई है, किन्तु जायसी के प्रियतम को देखने वाली स्वय लाल होती है और उसे समूचा विश्व भी लाल दिखाई देता है। 'नयन जो देखा कवल भा, निरमल नीर सरीर'[4] मे यही बात है। जैन कवि द्यानतराय ने भी ब्रह्म के दर्शन से चारो ओर फैला बसत देखा है। 'तुम ज्ञान विभव फूली बसत, यह मन मधुकर सुख सो रमत'[5] इसी का निदर्शन है। कवि बनारसीदास ने भी, "विषम विरप पूरो भयो हो, आयो सहज बसत"[6] के द्वारा इसी भाव को स्पष्ट किया है। कबीर मे व्यष्टिमूलकता और जायसी मे समष्टिगतता अधिक है, किन्तु जैन कवियो मे दोनो ही समान रूप से प्रतिष्ठित है।

हिन्दी के सत-काव्य का अधिकाश भाग बाह्य आडम्बरो के विरोध मे केन्द्रित है। मध्ययुग के जैनो मे भी बाह्य कर्म-कलाप इतने अधिक बढ गये थे कि उन्ही को जैन धर्म की सज्ञा दे दी गई, हालाँकि महावीर की क्राति उनके

---

२ 'हरि मेरा पीउ मैं हरि की बहुरिया'। कबीरदास, सबद, २१ वा पद्य, सतसुधासार, वियोगी हरि–सम्पादित, दिल्ली, पृ० ६६।

३ दुलिहिनी गावहु मगलचार
हम घर आये हो राजा राम भरतार।
× × ×
मन्दिर माहि भया उजियारा
ले सूती अपना पीव प्यारा।
—कबीर ग्रन्थावली, चतुर्थ सस्करण, काशी, पृ० ८७।

४ जायसी–ग्रन्थावली, द्वितीय सस्करण, काशी, मानसरोवर खड, ८वी चौपाई का दोहा, पृ० २५।

५ द्यानतराय, द्यानतपद–सग्रह, जिनवाणी–प्रचारक कार्यालय, कलकत्ता, ५८ वा पद, पृ० २४।

६ बनारसीदास, अध्यात्म फाग, बनारसी विलास, जयपुर, पृ० १५४।

विरोध मे आरम्भ हुई थी। दसवी-ग्यारहवी शताब्दी के जैन सतो ने अपभ्रंश भाषा के माध्यम से उन बाह्य आडम्बरो का निर्भीकता के साथ विरोध किया, किन्तु उनमे न तो कबीर जैसी अक्खडता थी और न मस्ती। तेजस्विता दोनो मे समान थी। हिन्दी के जैन कवियो ने कबीर के साथ-साथ तीर्थ-भ्रमण, चतुर्वर्णी व्यवस्था, सिर मुडाना, बाह्य शुद्धि, चौका आदि का विरोध किया, किन्तु दोनो मे अन्तर भी स्पष्ट था। कबीर, दादू और सुन्दरदास ने इन उपर्युक्त कर्म-कलापो को नितात हेय और अनुपयुक्त माना। किन्तु, महानन्दिदेव, उदयराज जती, महात्मा आनन्दघन आदि जैन कवियो ने उनको तभी व्यर्थ माना, जब उनमे भाव शुद्ध न हो। यदि भाव शुद्ध हो तो ये सब कर्म न तो हेय है और न अनुपयुक्त। हा, चतुर्वर्णी व्यवस्था के प्रति उनका स्वर तीखा था और पैना भी। उनका यह स्वर जीवमात्र की समान आत्मा की स्वीकृति पर निर्भर था।

सतकाव्य मे गोविन्द से भी अधिक सतगुरु की महत्ता है। मध्यकालीन सत काव्य-धारा के विशेषज्ञ आचार्य क्षितिमोहन सेन ने हिन्दी के सतगुरु पर जैन सतगुरु का प्रभाव स्वीकार किया है।[1] रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी लिखा है कि मध्य युग के साधु-सतो ने अपनी वाणियो के द्वारा ढाई सहस्त्र वर्ष पूर्व हुए भगवान् महावीर के वचनो को ही दुहराया है।[2] जैन परम्परा पचपरमेष्ठी को 'पचगुरु' भी कहती है और वे सम्यक्त्व के बिना गुरुपद के अधिकारी नही हो सकते, अत उन्हे सतगुरु कहते है। आचार्य कुन्दकुन्द ने अष्टपाहुड मे, मुनि देवसेन ने दर्शनसार और सावयधम्म दोहा मे, आचार्य जिनदत्त सूरी ने उपदेशरसायन-रास मे तथा आचार्य हेमचन्द्र ने योग-शास्त्र मे गुरु का विस्तृत वर्णन किया है। इन ग्रन्थो मे जैन गुरु केवल ज्ञानी-तपस्वी ही नही, अपितु भक्तो के श्रद्धा-भाजन भी हैं। सत-काव्य के सतगुरु की भक्ति पर जैन सतगुरु की भक्ति का प्रभाव है, ऐसा डॉक्टर रामसिंह 'तोमर' ने भी स्वीकार किया है।[3] हिन्दी के जैन और अजैन दोनो ही कवि सतगुरु के चरणो मे अपनी भक्ति के पुष्प बिखेरते रहे हैं। जहाँ तक श्रद्धा का सम्बन्ध है, दोनो मे समान थी, किन्तु गुरु-भक्ति मे जैसे सरस गीतो का निर्माण जैन कवियो ने किया, निर्गुणवादी सत न कर सके। उन्होने गुरु-महिमा की बात तो बहुत की, किन्तु उसकी भक्ति मे वैसी भाव-विभोरता न

---

१ आचार्य क्षितिमोहन सेन, Medieaval Mysticism of India, पृ० २।

२ देखिए वही, रविन्द्रनाथ ठाकुर का लिखा हुआ 'Forward'।

३. डा० रामसिंह 'तोमर' 'जैनसाहित्य की हिन्दी-साहित्य को देन', प्रेमी अभिनन्दन-ग्रन्थ, पृ० ४६७।

ला सके। कवि कुशललाभ ने अपने गुरु पूज्यवाहन के आगमन पर प्राकृतिक आल्हाद का चित्र खींचा है—

> "आव्यो मास असाढ झबूके दामिनी रे।
> जोवइ प्रीयडा वाट सुकोमल कामिनी रे।।
> चातक मधुरइ सादिकि पिऊ-पिऊ उचरइ रे।
> वरसइ घण वरसात सजल सरवर भरइ रे।।
> इण अवसरि श्री पूज्य महामोटा जतीरे।
> श्रावकना सुख हेत आया अम्बावती रे।।"[1]

श्री साधुकीर्ति का, गुरु भक्ति मे सम्बन्धित एक सरस गीत उपलब्ध है। उसमे एक शिष्य आने वाले गुरु को देखने के लिए वैसे ही बेचैन है, जैसे कोई प्रोषितपतिका अपने पति को देखने के लिए। उसका कथन है—"हे सखि! मेरे लिए तो वही अत्यधिक सुन्दर है, जो यह बतादे कि हमारे गुरु किस मार्ग से होकर पधारेंगे। श्री गुरु सभी को सुहावने लगते हैं। वे जिस पुर मे आजाते हैं, शोभा का धाम ही बन जाता है। उनको देखकर हर कोई जयजयकार किये बिना नही रहता। जो गुरु की आवाज को भी जानता है, वह मेरा साजन है। गुरु को देखकर ऐसी प्रसन्नता होती है, जैसे चन्द्र को देखकर चकोर को और सूर्य को देखकर कमल को। गुरु के दर्शन से हृदय सतुष्ट और मन प्रसन्न होता है।"[2]

गुरु-विरह की ऐसी व्याकुलता जैन हिन्दी रचनाओ के अतिरिक्त और कही देखने को नही मिलती। जायसी और कबीर ने ब्रह्म के विरह का वर्णन तो किया है, किन्तु उनकी रचनाओ मे कही भी गुरु-विरह का उल्लेख भी नही है।

गुरु के 'ज्ञानप्रदाता'—रूप की महिमा और शिष्य की अज्ञानता का सम्बन्ध है, उसे जैन और अजैन कवियो ने समान रूप से कहा है, किन्तु इस कथन मे भी जैसी सरसता जैन रचनाओ मे देखी जाती है, निर्गुण काव्य मे

---

१ कुशललाभ, पूज्यवाहणगीत, ऐतिहासासिक जैन काव्य–सग्रह, अगरचन्द नाहटा-सम्पादित, कलकत्ता, पृ० ११६–११७।

२ साधुकीर्ति—श्री जिनचन्दसूरि गीत, ऐतिहासिक जैन काव्य–सग्रह, कलकत्ता, पृ० ६१।

नही। एक स्थान पर पाडे रूपचन्दजी ने चेतन को सम्बोधित करते हुए लिखा है—"हे चेतन। मुझे आश्चर्य है कि सतगुरु अपने हितकारी अमृत-वचनो से चित्त देकर तुम्हे पढाता है और तुम भी ज्ञानी हो, फिर भी, न जाने क्यो चेतन तत्व-कहानी तुम्हारी समझ मे नही आती।"—

चेतन अचरज भारी, यह मेरे जिय आवै।
अमृत वचन हितकारी, सतगुरु तुमहि पढावै।

सतगुरु तुमहि पढावै चित दे, और तुमहुँ हो ज्ञानी।
तबहुँ तुमहि न क्यो हूँ आवै, चेतन तत्व कहानी॥[1]

इसीको कबीर ने इस प्रकार कहा है—

सतगुरु वपुरा क्या करे, जो सिषही माहे चूक।
भावै त्यू प्रमोधि ले, ज्यू वसि बजाई फूँकि॥[2]

इससे स्पष्ट है कि 'तबहूँ तुमहिं न क्यो हूँ आवै, चेतन तत्व कहानी' के प्रश्न वाचकत्व मे जो सौदर्य है, 'वसि बजाई फूकि मे नही है।

यदि आत्मा और परमात्मा के मिलन की भावात्मक अभिव्यक्ति ही रहस्यवाद है, तो वह उपनिषदो से भी पूर्व जैन-परम्परा मे उपलब्ध होती है। यजुर्वेद मे जैन तीर्थकर ऋषभदेव और अजितनाथ को गूढवादी कहा गया है।[3] महामना रानाडे ने अपनी पुस्तक 'Mysticism in Maharashtra, मे ऋषभदेव को गूढवादी कहा है।[4] डा० ए० एन० उपाध्ये ने भी 'परमात्मप्रकाशयोगसार' की भूमिका मे जैन तीर्थकरो को गूढवादी कहा है।[5] कर्मों के मल से विकृत हुई आत्मा को जीवात्मा कहते है। जीवात्मा चौदह गुण-स्थानो पर चढते-चढते शुद्ध रूप को प्राप्त कर लेती है। आत्मा और परमात्मा के मिलन की यही कहानी है। प्राकृत, सस्कृत और अपभ्रश के अनेकानेक जैन ग्रन्थो को रहस्यवादी

---

१ पाण्डे रूपचन्द, परमार्थ जकडी, परमार्थ जकडी—सग्रह, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, जनवरी, १९११ ई०, पहला पद्य, पृ० १।

२ कबीरदास, गुरुदेव कौ अग, २१ वी साखी, कबीर ग्रन्थावली पृ० ३।

३ यजुर्वेद, २०—२६।

४ R. D Ranade, 'Mysticism in Maharashtra', पृ० १।

५ परमात्मप्रकाश—योगसार की भूमिका, डॉ० ए० एन० उपाध्ये—लिखित, पृ० ३९।

कहा जाता है । उनमे रहस्यवादी प्रवृत्तियाँ विखरी पडी है । डॉ० हीरालाल जैन ने आचार्य कुन्दकुन्द के भावपाहुड का मुनि रामसिंह के दोहापाहुड पर स्पष्ट प्रभाव स्वीकार किया है ।[1] कवीर की भाति ही जैन हिन्दी कवियो मे भी अनुभूति, प्रेम, विरह, माया, मिलन और तादात्म्य के रूप मे रहस्यवाद के विशद दर्शन होते हैं । विरह और माया जन्य सरसता जैन कवियो मे अधिक है । कवीर के 'विरह भुजगम पेसि कर किया कलेजे घाव, साधू अग न मोडही ज्यो भावे त्यो खाय' से आनन्दघन के 'पिया विन सुध-बुध खू दी हो, विरह भुजग निशासमे, मेरी सेजडी खू दी हो' मे अधिक सवेदनात्मक अनुभूति है । इसी भाँति 'जैसे जल बिन मीन तलफै ऐसे हरि विन मेरा जिया कलपै' मे वनारसीदास के, 'मैं विरहिन पिय के अधीन, यो तलफो ज्यो जल विन मीन' मे अधिक सवलता है और दृश्य को उपस्थित करने की शक्ति । जैन हिन्दी-रचनाओ मे तन्त्रात्मक रहस्यवाद के उतने शब्द और प्रयोग नही पाये जाते, जितने जैन अपभ्रंश मे उपलब्ध होते हैं । जैन हिन्दी कृतियो मे भावात्मक अभिव्यक्ति अधिक है । जहाँ कही तन्त्रात्मक रहस्यवाद के दर्शन होते हैं, उसमे वज्रयानी सम्प्रदाय के गुह्य समाज की विकृति नही आ पाई है ।

कुछ विद्वानो ने लिखा है कि जैनो के भगवान् प्रेमास्पद नही होते, अत उनकी रचनाओ मे अनुरागात्मक भक्ति का अभाव है । किन्तु, विक्रम की पाँचवी शताब्दी मे होने वाले आचार्य पूज्यपाद ने 'अर्हदाचार्येपु वहुश्रुतेपु प्रवचने च भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागो भक्ति ' कहा है ।[2] वीतराग भगवान् मे अनुराग असम्भव नही है । आचार्य योगीन्दु का कथन है कि 'पर' मे किया गया राग पाप का कारण है । वीतराग परमात्मा 'पर' नही, अपितु 'स्व' आत्मा ही है । अत जिनेन्द्र मे किया गया राग 'स्व' का राग कहलायेगा ।[3] इसी कारण जिनेन्द्र का अनुराग मोक्ष देता है । आचार्य कुन्दकुन्द ने भावपाहुड, आचार्य समन्तभद्र ने स्वयभूस्तोत्र और शिवार्यकोटि ने भगवती आराधना मे इसका समर्थन किया है । इससे सिद्ध है कि जैन हिन्दी कवियो को भगवान् के प्रति प्रेम-भाव विरासत के रूप मे मिला है । हिन्दी के ख्यातिलब्ध कवि वनारसीदास ने 'आध्यात्मगीत' मे आत्मा को नायक और सुमति को पत्नी वनाया है । उन्होने एक स्थान पर

---

१ पाहुडदोहा की भूमिका, डॉ० हीरालाल जैन लिखित, पृ० १६ ।

२ आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि, काशी, ६–२४, पृ० ३३६ ।

३ योगीन्दुदेव (छठी शताब्दी ईसवी), परमात्मप्रकाश, वम्वई, १६३७ ई०, २६ वाँ दोहा, पृ० ३३ तथा १७४ वाँ दोहा, पृ० ३१७ ।

लिखा है–"पत्नी करतूति है और पिय कर्त्ता, पत्नी सुख-सीव है और पिय सुख-सागर, पत्नी सुख-सीव है और पिय सुख-सागर, पत्नी शिव-नीव है और पिय शिव-मन्दिर, पत्नी सरस्वती है और पिय ब्रह्मा, पत्नी कमला है और पिय माधव, पत्नी भवानी है और पति शकर, पत्नी जिनवाणी है और पति जिनेन्द्र ।"[1] बहुत दिन उपरान्त पति घर आ रहा है, तो सुमति ललक कर कहती है–"हे सखि ! देखो, आज चेतन घर आ रहा है । वह अनादिकाल तक दूसरो के वश मे होकर घूमता फिरा, अब उसने हमारी सुध ली है ।"[2] पति को देखते ही पत्नी के अन्दर से परायेपन का भाव दूर हो जाता है । द्वैध हट जाता हे और अद्वैत उत्पन्न होता है । सुमति चेतन से कहती है–"हे प्यारे चेतन ! तेरी ओर देखते ही परायेपन की गगरी फूट गई, दुविधा का अ चल हट गया और समूची लज्जा पलायन कर गई ।"[3] इसी प्रेम के अन्तर्गत आध्यामिक विवाह और आध्यात्मिक होलियाँ भी आती है । ये रचनाएँ जैन कवियो की मौलिक देन हैं । हिन्दी के किसी भी क्षेत्र मे इस प्रकार की रचनाओ का उल्लेख नही है । आचार्य जिनप्रभ सूरि का अ तरग–विवाह, अजयराज पाटणी का शिवरमणी-विवाह, कुमुदचन्द का ऋषभ–विवाहला, श्रावक ऋषभदास का आदीश्वर – विवाहला, विनयचन्द्र और साधुकीर्त्ति की 'चूनडी' ऐसी ही कृतियाँ है । कवि बनारसीदास, द्यानतराय और भूधरदास के आध्यात्मिक फाग अत्यधिक प्रसिद्ध हैं । जैन

---

१ पिय मो करता मैं करतूति
पिय ज्ञानी मैं ज्ञान विभूति ।
पिय सुखसागर मैं सुख सीव
पिय शिवमदिर मैं शिवनीव ।।
पिय ब्रह्मा मैं सरस्वति नाम
पिय माधव मो कमला नाम ।
पिय शकर मैं देवि भवानि
पिय जिनवर मैं केवलवानि ।।
—बनारसी विलास, जयपुर, १९५४ ई०, अध्यातमगीत, पृ० १६१ ।

२ देखो मेरी सखीये आज चेतन घर आवे,
काल अनादि फिर्यो परवश ही अब निज सुधहिं चितावै ।।१।।
—देखिए वही, परमार्थपद–पक्ति, १४ वा पद, पृ० ११४ ।

३ बालम तुहु तन चितवन गागरि गै फूटि ।
अ चरा गौ फहराय सरम गै छूटि ।। बालम० ।।१।।
—देखिए वही, अध्यातमपद पक्ति, पृ० २२८–२२९ ।

कवियो ने नेमिनाथ और राजुल के सम्बन्ध मे अनूठे पद्यो की रचना की है, नेमीश्वर मूक पशुओ के करुण क्रन्दन को सुनकर तोरण-द्वार से वापस लौट गये। उस समय की राजीमती की बेचैनी का सफल चित्र हेमविजय ने खीचा है—

कहि राजीमती सुमती सखियानकूं, एक खिनेक खरी रहुरे।
सखिरी सगिरी अ गुरी मुही बाहि करति बहुत इसे निहुरे॥
अबही तबही कबही जबही, यदुराय कूं जाय इसी कहुरे।
मुनि'हेम'के साहिब नेमि जी हो, अब तोरन ते तुम्ह क्यू बहुरे॥[1]

राजशेखरसूरि का नेमिनाथफागु, हर्षकीर्त्ति का नेमिनाथ राजुलगीत, विनोदीलाल का नेमिराजुल बारहमासा, नेमिब्याह, राजुलपच्चीसी, नेमजी रेखता और लक्ष्मीवल्लभ का नेमिराजुल बारहमासा प्रसिद्ध कृतियाँ हैं। बारहमासा विरह के सच्चे निदर्शन हैं। उनमे हिन्दी के बारहमासो की भाँति न तो परम्परानुसरण की जडता है, न अतिरजना की कृत्रिमता और न उबा देनेवाली भावभगिमा। विरहिणी के पवित्र भावो की व्याकुलतापरक अभिव्यक्ति ही जैन बारहमासो की प्रमुख विशेपता है।

अरहत के रूप मे जैन कवियो ने सगुण ब्रह्म की उपासना की है। अरहत समवशरण मे विराजकर, अपनी दिव्यध्वनि से विश्व के लोगो का उपकार करते है, अत जैन आचार्यो ने अपने प्रसिद्ध 'णमोकारमत्र' मे अरहत को सिद्ध से भी पहले स्थान दिया है।[2] अरहत की भक्ति मे सहस्रो स्तुति-स्तोत्रो की रचना हुई है। भद्रबाहुस्वामी का रचा हुआ 'उवसग्गहर स्तोत्त' अहमदाबाद से प्रकाशित हुआ है। भद्रबाहुस्वामी का समय वी० नि० स० १७७ माना जाता है। अभी तक हिन्दी के विद्वानो की धारणा थी कि अपभ्रश मे स्तुति-स्तोत्रो का निर्माण नही हुआ और इसी आधार पर उन्होने हिन्दी के सगुण साहित्य को अपभ्रश से यत्किचित् भी प्रभावित नही माना है। अब जैन भण्डारो की खोज के फलस्वरूप अपभ्रश के अनेक स्तोत्र-स्तवनो का पता चला है। इससे हिन्दी भक्ति-काव्य की पूर्व परम्परा के अनुसन्धित्सुओ को सोचने के लिए नई सामग्री उपलब्ध हुई है।

---

१ मिश्रबन्धु–विनोद, प्रथम भाग, लखनऊ, पृ० ३६८।

२ भगवत् पुष्पदत भूतबलि, पटखडागम, डॉ० हीरालाल जैन सम्पादित, अमरावती, वि० स० १९९६, पृ० ५३–५४।

यह सिद्ध है कि हिन्दी का जन मुक्तक-काव्य, अपभ्रंश के भक्तिपरक साहित्य से प्रभावित है।

अभी तक भगवद्विषयक वात्सल्य रस के निरूपण मे, हिन्दी के सूरदास एकमात्र कवि थे। अब जैन हिन्दो साहित्य के आलोडन से प्रमाणित हुआ है कि वात्सल्य रस से सम्बन्धित जैन हिन्दी-कवियो की रचनाएँ भी अनूठी हैं। यद्यपि यह सच है कि जैन कवि बाल-तीर्थङ्कर की विविध मनोदशाओ का वैसा निरूपण नही कर सके हैं, जैसा सूर ने वालकृष्ण का किया है। किन्तु, इसके साथ यह भी सत्य है कि बालक के गर्भ और जन्म-सम्वन्धी दृश्यो को जैन कवियो ने जैसा चित्रित किया है, सूरदास छू भी नहीं सके है। मै भूधरदास को इन चित्रो का सबसे वडा कलाकार मानता हूँ। उपमा, उत्प्रेक्षा और निरग रूपको की छटा से उनके चित्रो मे सजीवता आ गई है। इन्द्र की आज्ञा से धनपति ने महाराज अश्वसेन के घर मे साढे तीन करोड रत्नो की वर्षा की। आकाश से गिरती मणियो की चमक ऐसी मालूम होती थी, जैसे स्वर्गलोक की लक्ष्मी ही तीर्थङ्कर की मा की सेवा करने चली आई हो।[1] दुन्दुभियो से गम्भीर ध्वनि निकल रही थी, मानो महासागर ही गरज रहा हो।[2] सद्य प्रसूत बालक को लिये मा ऐसी प्रतीत होती थी, मानो बालक भानु-सहित सध्या ही हो।[3] तीर्थङ्कर की मा की सेवा करती हुई रुचिकवासिनी देवियो का व्यस्त जीवन, जन्मोत्सव मनाने के लिए इन्द्र-दम्पति का प्रयाण, पाडुकशिला पर स्नान, फिर तीर्थङ्कर के मा-बाप के घर मे नाटकादि के आयोजन का दृश्य, भूधरदास के पार्श्वपुराण मे ऐसा अ कित किया गया है कि पाठक भाव-विभोर हुए विना नहीं रह पाता। पाडे रूपचदजी ने भी इन्ही बातो का वर्णन गर्भ और जन्म-कल्याणको मे किया है। किन्तु, कल्पनागत सौन्दर्य भूधरदास मे अधिक है। कवि द्यानतराय, बनारसीदास, कुशललाभ और मेरुनन्दन उपाध्याय ने भी वात्सल्य रस का यत्र-तत्र वर्णन किया है।

---

१ नभसों आवै झलकती, मनिधारा इहि भाय।
सुरगलोक लच्छमी किधौं, सेवन उतरी माय॥
—पार्श्वपुराण, कलकत्ता, ५–५८, पृ० ४४।

२ प्रतिदिन देव दुदभी वजै,
किधौं महासागर यह गजैं।
—देखिए पार्श्वपुराण, कलकत्ता, पृ० ४४।

३ सुतराग रगी मुखसेज माझ,
ज्यो वालक भानु समेत साझ।
—देखिए वही, पृ० ५०।

सूरदास के काव्यो का मूल आधार श्रीमद्भागवत के होने से उनके वर्णन मे मधुरतापरक रूप की ही प्रधानता है। उनके समूचे साहित्य मे दो-एक स्थलो को छोडकर कही भी बालक के उदात्ततापरक रूप के दर्शन नही होते। सत्रहवी शताब्दी के प्रसिद्ध जैन कवि ब्रह्म रायमल्ल ने 'हनुवतचरित्र' का निर्माण किया था उसमे बालक हनुमान् का ओजस्वी वर्णन है। इसके अतिरिक्त सूरदास का जितना ध्यान बालक कृष्ण पर जमा, बालिका राधिका पर नही। बालिकाओ का मनोवैज्ञानिक वर्णन सीता और अ जना के रूप मे जैन भक्ति काव्यो मे उपलब्ध होता है। रायचन्द के 'सीता-चरित्र' मे बालिका सीता की विविध चेष्टाओ का सरस चित्र खीचा गया है। 'अ जनासुन्दरीरास' मे अ जना का बालवर्णन भी हृदयग्राही है।

गोस्वामी तुलसीदास की रचनाओ मे 'रामचरितमानस' और 'विनय-पत्रिका' अत्यधिक प्रसिद्ध है। यद्यपि प० राहुल साकृत्यायन ने जैन कवि स्वयम्भू के 'पउमचरिउ' का 'रामचरितमानस' पर प्रभाव स्वीकार किया है, तथापि अभी तक दोनो का पूर्ण रूप से तुलनात्मक विवेचन किसी ने नही उपस्थित किया है। यह सच है कि 'रामचरितमानस' की लोकप्रियता को 'पउमचरिउ' नही पा सका है। इसका बहुत बडा कारण 'पउमचरिउ' का जैन शास्त्रो पर आधृत होना ही है। वैसे प्रबन्ध-सौष्ठव और काव्यत्व की दृष्टि से 'पउमचरिउ' एक उत्तम काव्य है। इसमे उस भावुकता की भी कमी नही है, जो कल्पना के बल पर कथानक की प्रमुख घटनाओ को अनुभूत कराने मे सहायक होती है। इसके अतिरिक्त रायचन्द का सीताचरित्र, लब्धोदय का पद्मिनीचरित्र और भूधरदास का पार्श्व-पुराण प्रबध काव्य होते हुए भी रामचरितमानस की समता नही कर सकते। उनमे उस तन्मयता का अभाव है,जिसने मानस के रचयिता को अमर बना दिया है। फिर भी भाव, शैली, भाषा, अलकार,छद और रस-विवेचन की दृष्टि से जैन महाकाव्यो का अध्ययन करने पर, हिन्दी के भक्ति-काव्य मे अनेक नये अध्याय जोडने होगे। छोटे-छोटे भव-वर्णनो के समावेश से जैन महाकाव्यो का कथानक एक क्षण के लिए भी जडता को प्राप्त नही कर पाता। उसमे निरन्तर एक ऐसी गतिशीलता और नवीनता रहती है, जो रस-सिक्तता का मूल कारण है। इन पूर्व भव-वर्णनो को 'अवातरकथाओ' की सज्ञा दी जा सकती है। पडित रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार अवातर कथाएँ 'महाकाव्य' मे रस की पिचकारियो का काम करती है। इन कथाओ मे जितनी ही मूल कथाओ के साथ तादात्म्य होने की शक्ति होगी, उतनी ही उनमे रस उत्पन्न करने की ताकत आयेगी। जैन महा-काव्यो के रचयिता पूर्व भव-वर्णन-रूप अवातर कथा को मूल कथा के साथ

एकमेक करने मे अद्वितीय थे। उनमे तुलसी-जैसी भावुकता और तन्मयता भले ही न हो, किन्तु उनकी रचनाएँ महाकाव्य की कसौटी पर खरी ही उतरती है।

विनयपत्रिका मुक्तक-पदो मे लिखी गई है। तुलसीदास राग-रागनियो के विशेष जानकार कहे जाते है। किन्तु,अभी जयपुर आदि के जैन शास्त्र-भण्डारो की खोज से पता चला है कि जैन कवियो का रचा हुआ पद-साहित्य भी विपुल है। मध्यकालीन भारत मे जयपुर, ग्वालियर और आगरा सगीत के केन्द्र थे। अधिकाशतया जैन कवि इन्ही स्थानो पर उत्पन्न हुए अथवा यहाँ उन्होने अपना साहित्यिक जीवन व्यतीत किया। उनके पदो मे अनेक राग-रागनियो का समावेश हुआ है। उनके पद भाव, भाषा और सगीतात्मकता के कारण गमलो मे सजे गुलदस्तो की भाँति प्रतीत होते है। विनयपत्रिका के पदो मे वह सौदर्य नही है।

जैन पद-साहित्य की सब-से-बडी विशेषता यह है कि उसमे निर्गुण और सगुण दोनो ही प्रकार के भक्ति-भावो का समन्वय किया गया है। सिद्ध और अरहत को क्रमश निर्गुण और सगुण कहा जा सकता है। इन्ही को आचार्य योगीन्दु ने 'निष्कल' और 'सकल' सज्ञा से अभिहित किया है।[1] आत्मा और जिनेन्द्र के रूप को एक मानने के कारण ही यह समन्वय सभव हुआ है। यद्यपि विनयपत्रिका के अधिकाश पदो की शैली निर्गुण-काव्य-जैसी प्रतीत होती है, तथापि उनका मूल स्वर सगुण-भक्ति से ही सवद्ध है। ऐसा मालूम होता है, जैसे तुलसी निर्गुण ब्रह्म की ओर ललककर देखने का चाव बारम्बार रखते हैं, किन्तु किसी अनिवार्य विवशता के कारण वे पकडते है सगुण ब्रह्म को ही। दोनो के मध्य मे वे सफलतापूर्वक मध्यस्थता नही कर सके हैं। इस अन्तर के होते हुए भी जैन और तुलसी दोनो के ही पदो मे विनयवाली बात समान है। तुलसी की भाँति ही जैन कवियो ने भी अपने आराध्य देव से भव-भव मे भक्ति की याचना की है। १५ वी शताब्दी के उपाध्याय जयसागर ने 'चतुर्विंशति जिनस्तुति' मे लिखा है—

> करि पसाउ मुझ तिम किमई, महावीर जिणराय।
> इण भवि अहवा अन्न भवि, जिम सेवउ तु पाय॥

१, परमात्मप्रकाश, १-२५, पृ० ३२।

१६ वी शताब्दी के कवि जयलाल ने तीर्थङ्कर विमलनाथ से प्रार्थना की है—

> तुम दरसन मन हरषा, चदा जेम चकोरा जी।
> राजरिधि मागउ नही, भवि भवि दरसन तोरा जी ।।

भूधरदास ने जैसी दीनता दिखाकर भक्ति का वर माँगा है, अन्य कोई नही माँग सका—

> भर नयन निरखे नाथ तुमको और वाछा ना रही।
> मन ठठ मनोरथ भये पूरन रक मानो निधि लही ।।
> अब होउ भव भव भक्ति तुम्हरी, कृपा ऐसी कीजिये।
> कर जोरि भूधरदास विनवै यही वर मोहि दीजिये ।।

जन भक्त-कवियो का यह भी विश्वास ह कि भक्ति से मुक्ति मिलती है। कवि वनारसीदास ने लिखा हे कि जिनेन्द्र देवो के देव हे, उनके चरणो का स्पर्श करने से मुक्ति स्वयमेव मिल जाती हे। कवि द्यानतराय और भूधरदास का भी ऐसा ही कथन है' जैन कवियो ने ज्ञान को भी भगवत्कृपा से ही उपलब्ध होना स्वीकार किया है। इससे जैनो के मूल सिद्धात मे कोई वाधा नही आती, क्योकि जैन-भक्ति भगवान् मे सीधा कर्त्तृत्व स्वीकार नही करती, अपितु प्रेरणा-जन्य कर्त्तृत्व मानती है। भगवान् के सान्निध्य मात्र से ही शुद्ध भावो का उदय होता है और उससे चक्रवर्त्ती की विभूति तथा तीर्थङ्करत्व नाम-कर्म तक का बध होता है। जहाँ तुलसीदास ने केवल भगवत्कृपा से ज्ञान और मोक्ष को स्वीकार किया है, वहाँ जैन कवियो ने भगवत्कृपा के साथ-साथ स्व-प्रयास को भी यथोचित रूप मे मान लिया है।

मध्यकाल के सभी कवियो ने अपने-अपने आराध्य को अन्य देवो से वडा माना है। उनका ऐसा मानना राजसिकता का नही, अपितु अनन्यता का द्योतक है। अपने आराध्य मे ध्यान के केन्द्रित होने से ही उन्हे अन्य देव फीके जचते हैं। जैन कवियो ने भी जिनेन्द्र को सर्वोत्तम कहा है, किन्तु अन्य देवो के प्रति वे कटु नही हो सके है। सूरदास ने 'हय गयद उतरि कहा गर्दभ चढि धाऊँ' कहकर अन्य देवो को 'गधा' तक बना दिया है। भूधरदास ने केवल इतना कहा-'कैसे करि केतकी कनेर एक कही जाय, आक दूध गाय दूध अन्तर घनेर है।' इसी भाँति भगवान् को उपालम्भ देने मे भी जैन कवियो ने उदारता का परिचय दिया है। सूरदास

की फटकार यद्यपि मधुरता से ओत-प्रोत है, किन्तु कही-कही उन्होंने भक्ति की मर्यादा का अतिक्रमण किया है। एक उदाहरण देखिए—

> पतित पावन हरि, विरद तुम्हारो, कौनै नाम धर्‌यौ।
> हौ तो दीन, दुखित, अति दुरबल, द्वारे रटत पर्‌यौ ।।

किन्तु, द्यानतराय के उपालम्भ मे कैसी शालीनता है—

> तुम प्रभु कहियत दीनदयाल।
> आपन जाय मुकति मे बैठे, हम जु रुलत जग जाल ।।
> तुमरो नाम जपै हम नीके, मन वच तीनो काल।
> तुम तो हमको कछू देत नहिं, हमरो कौन हवाल ।।

तुलसी और जैन कवि दोनो ने ही भगवान् के लोकरजनकारी रूप की महत्ता स्वीकार की है। रूप लोकरजनकारी तभी हो सकता है, जब सौंदर्य के साथ-साथ शक्ति और शील का भी समन्वय हो। जिनेन्द्र मे राम के समान ही सौन्दर्य और शील की स्थापना हुई है, किन्तु शक्ति-सम्पन्नता मे अन्तर है। राम का शक्ति-सौन्दर्य असुर तथा राक्षसो के सहार मे परिलक्षित हुआ है,किन्तु जिनेन्द्र का अष्टकर्मो के विदलन मे। दुष्टो को दोनो ने जीता है, एक ने बाहुबल से और दूसरे ने अध्यात्मशक्ति से। एक ने असत् के प्रतीक मानव को समाप्त किया है और दूसरे ने उसे सत् मे बदला है।

जैन कवियो के मध्यकालीन काव्य मे शात-भाव प्रधान है। जैन आचार्यों ने नौ रसो मे शृगार के स्थान पर 'शात' को रसराज कहा है। उनका कथन है कि अनिर्वचनीय आनन्द की सच्ची अनुभूति राग-द्वेप नामक मनोविकार के उपशम हो जाने पर ही होती है। राग-द्वेष से सम्बद्ध अन्य आठ रसो के स्थायी भावो से उत्पन्न आनन्द मे वह गहरापन नही होता, जो 'शात' मे पाया जाता है। स्थायी आनन्द की दृष्टि से शात ही एकमात्र रस है। कवि बनारसीदास ने 'नाटक समयसार' मे 'नवमो सान्त रसनि कौ नायक' माना है। उन्होने तो आठ रसो का अन्तर्भाव भी शात रस मे किया है। डॉक्टर भगवानदास ने भी अपने 'रस-मीमासा' नाम के निबध मे, अनेकानेक सस्कृत उदाहरणो के साथ शात को 'रसराज' सिद्ध किया है। भक्ति के क्षेत्र मे तो अजैन आचार्यों ने भी शात को ही प्रधानता दी है। उन्होने अपनी भक्ति-परक रचनाओ मे प्रेम और सौन्दर्य का भी प्रयोग किया है, किन्तु प्रधानता शात को ही दी है। कवि वनारसीदास ने शात

रस के स्वाद को कामधेनु, चित्रावेलि और पचामृत के समान आनन्ददायक माना है ।[1] भैया भगवतीदास, भूधरदास, द्यानतराय, विनयविजय आदि की शात भाव को द्योतित करने वाली मनमोहक रचनाएं उपलब्ध है ।

भापा की दृष्टि से मध्ययुग के जैन हिन्दी-कवियो की रचनाएं दो भागो मे विभक्त की जा सकती हैं—पहला भाग वि० स० १४००-१६०० और दूसरा १६००-१८०० । पहला भाग 'अपभ्रश' के निकट है और उसमे हिन्दी का क्रमश विकास सन्निहित है । उस पर गुजराती और राजस्थानी का प्रभाव भी स्पष्ट है । दूसरे भाग मे हिन्दी का पूर्ण विकास देखा जाता है । इस युग के जैन हिन्दी-कवियो की विशेषता यह है कि वे सस्कृत और फारसी दोनो के जानकार थे । उस समय फारसी राज-भापा थी । व्यापार तथा काम-काज की दृष्टि से उसका जानना आवश्यक था । इसके साथ जैन शास्त्रो का अध्ययन करने के लिए सस्कृत का ज्ञान भी अनिवार्य था । जैन हिन्दी-कवियो ने अपनी रचनाओ मे उर्दू-फारसी के केवल शब्दो का ही नही, अपितु वाक्यो का भी सफल प्रयोग किया है । भैया भगवतीदास फारसी के विशिष्ट जानकार थे । उनके कवित्तो मे यदि एक ओर सस्कृत के तत्सम शब्दो की बहुलता है, तो दूसरी ओर फारसी के शब्दो के प्रयोग से अनेक कवित्तो का 'टोन' ही फारसीमय हो गया है । 'मान यार मेरा कहा दिल की चशम खोल, साहिव नजदीक है तिसको पहिचानिये', जैसे अनेक कवित्त उपर्युक्त कथन के दृष्टान्त रूप मे प्रस्तुत किये जा सकते हैं । डॉ० हीरालाल जैन ने वनारसीदास की भापा पर उर्दू-फारसी का प्रभाव स्वीकार किया है ।[2]

जैन कवि विविध छदो के प्रयोग मे भी निपुण थे । उन्होने अनेक नये छदो का प्रयोग किया है । उनमे वस्तु, आभानक, रोडक, करिखा, वेसरी, पद्मावती, नरेन्द्र और व्योमवती प्रमुख हैं । कवि बनारसीदास ने 'पद्मावती' मे वलाघात के द्वारा लयात्मकता उत्पन्न की है और भूधरदास ने नरेन्द्र तथा व्योमवती का सगीत

---

१ अनुभौ की केलि यहै कामधेनु चित्रावलि ।
अनुभौ को स्वादु पच अमृत को कौर है ॥
—बनारसीदास, नाटक समयसार, वम्बई, उत्थानिका,
१६ वा पद्य, पृ० १७-१८ ।

२ अर्धकथानक, सशोधित सस्करण, बम्बई, १९५७ ई०, भूमिका, अर्धकथानक की भापा, डॉ० हीरालाल-लिखित, पृ० १९ ।

की लय के साथ, प्रयोग किया है। जैन कवि मानो पदो के राजा थे। उनके पदो मे यदि एक ओर भावुकता है, भक्ति है, कवित्व है, तो दूसरी ओर सगीतात्मकता भी है।

अलकारो के क्षेत्र मे जैन कवियो को 'चित्र-बध' से विशेष प्रेम था। उन्होने इतने कठिन अलकारो का प्रयोग आसान और स्वाभाविक ढग से ही किया है। उन्हे यह परम्परा सस्कृत काव्यो से मिली थी। इसके अतिरिक्त वे यमक, रूपक, उत्प्रेक्षा और विरोधाभास के प्रयोग मे तो असाधारण रूप से सफल हुए है। उनके अलकारो मे स्वाभाविकता, कुशलता और कवि-प्रतिभा तीनो का ही समन्वय है।

जैन कवियो की मुक्तक और प्रबध–दोनो प्रकार की रचनाओ मे प्राकृतिक दृश्यो का सरस चित्रण देखने को मिलता है। जैन कवि, जो मुनि या साधु थे, प्रकृति के सन्निधान मे ही रहते थे, अत उन्हे प्रकृति-गत सूक्ष्म जानकारी भी थी और प्रकृति से प्रेम भी था। उनके प्रकृति-वर्णन मे जो सौंदर्य आ सका है, इस युग की अन्य रचनाओ मे नही देखा जाता।

कवि वनारसीदास की भक्ति–साधना

वनारसीदास सत्तरहवी शताब्दी के एक सामर्थ्यवान कवि थे। उन्हे कवि-प्रतिभा जन्म से ही प्राप्त हुई थी। उन्होने १५ वर्ष की आयु मे 'नवरस रचना' नाम के ग्रन्थ का प्रणयन किया था। आज वह रचना उपलब्ध नही है। वनारसीदास ने उसे स्वय गोमती के खर प्रवाह मे वहा दिया था। जव उन्होने ऐसा किया, मित्रगण हा-हा करते रह गये।[1] उसमे 'विसेस आसिखी का वरनन' था।[2] और अव वनारसीदास ने भानुचन्द्र नाम के साधु से शिक्षा लेना आरम्भ किया था, जिसके परिणामस्वरूप उनका रूप वदल चुका था। वे उस 'नवरस रचना' को अपने ऊपर एक कलक मान रहे थे, फिर तो जल-मग्नता के रूप मे उसकी परिणति होनी ही थी। इस कृति मे एक हजार दोहा–चौपाई थे। कोई मामूली रचना न थी। इससे सिद्ध है कि प्रणेता भले ही किशोर वालक हो, किन्तु वह महान् कवित्त्व शक्ति का धनी था।

---

१ अर्धकथानक, नाथूराम प्रेमी सम्पादित, सशोधित सस्करण, पद्य २६७-६८, पृष्ठ ३०–३१।

२ 'तामैं नवरस-रचना लिखी। पै विसेस वरनन आसिखी' वही, पद्य १७९ वाँ।

उनका दूसरा ग्रन्थ 'वनारसी विलास' है।[1] इसमे वनारसीदास की ५० रचनाओ का सकलन है। सभी मुक्तक है। उनमे 'कर्मप्रकृतिविधान' नाम की अन्तिम कृति भी है, जो फागुन सुदी ७, वि० स० १७०० को समाप्त हुई थी। 'सूक्त मुक्तावली' सस्कृत के सिन्दूर प्रकरण का पद्यानुवाद है। इसमे कुछ पद्य वनारसीदास के मित्र कुअँरपाल के रचे हुए है। 'ज्ञान वावनी' पीताम्बर नाम के किसी कवि की रचना है। उसमे वनारसी का गुण-कीर्त्तन किया गया है। अवशिष्ट पूर्ण रूप से वनारसीदास की रचनाएँ है। इस ग्रथ का सकलन आगरे के दीवान जगजीवन ने वि० स० १७०१ मे किया था। समस्त भारतवर्ष के जैन सरस्वती भण्डारो मे 'वनारसी विलास' की हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध होती है। ऐसा लोकप्रिय था यह ग्रन्थ। आज भी उसकी ख्याति अक्षुण्ण है।

'नाटक समयसार' वनारसीदास की एक समर्थ रचना है।[2] यद्यपि यह आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार (प्राकृत) और उस पर रचे गये अमृतचन्द्राचार्य के सस्कृत कलशो को आधार वनाकर लिखा गया है, किन्तु उसकी मौलिकता भी सन्देह से परे है। मै इस विषय पर अपने निवन्ध[3] 'नाटक समयसार' मे पर्याप्त रूप से लिख चुका हूँ। इसका अन्त अनुपम था तो वाह्य भी कम सुन्दर न था। दोनो गुलाव की सुगन्धि और पखुडियो से एक-दूसरे के पूरक है। वनारसीदास की लेखनी मे शक्ति थी। 'नाटक समयसार' उसका सच्चा निदर्शन है। उन्होने 'नाममाला', 'मोह-विवेक-युद्ध', 'माझा' आदि अन्य कृतियो का भी निर्माण किया। इधर उनके रचे कुछ नये पद्य भी भडारो मे उपलब्ध हो रहे है। 'मोह-विवेक-युद्ध' वनारसीदास की रचना है या नही, एक विवाद-ग्रस्त प्रश्न है। अभी तक वह वनारसीदास की कृति ही मानी जाती है। मेरी दृष्टि मे वह वनारसीदास की कृति नही है। पृथक निवन्ध का विषय है, फिर लिखूँगा।

उस समय आगरे मे एक अध्यात्मियो की सैली (गोष्ठी) थी, जिसमे सदैव अध्यात्म-चर्चा हुआ करती थी। वनारसीदास उसके सदस्य वने। उनके ५ साथी

---

१ हिन्दी ग्रथ रत्नाकर कार्यालय, वम्वई और नानूलाल स्मारक ग्रथमाला, जयपुर से प्रकाशित हो चुका है।

२ प० नाथूराम प्रेमी के सम्पादन के साथ वम्बई से और स्व० प० जयचन्द्रजी की भाषा-टीका के साथ, सस्ती ग्रन्थमाला, देहली से प्रकाशित हुआ है।

३ सम्मेलन पत्रिका, वर्ष ४६, भाग ३–४, पृष्ठ ५८–७१।

थे—प० रूपचन्द, चतुर्भुज, भगवतीदास, कुँअरपाल, और धर्मदास।[1] आचार्य कुन्दकुन्द के 'समयसार' की राजमल जी कृत बाल-बोध टीका पढकर उन्हे अध्यात्म-चर्चा मे रुचि उत्पन्न हुई थी, वह वि० स० १६६२ मे पाण्डे रूपचन्द जी से गोम्मटसार पढने के उपरान्त परिष्कृत हुई। परिणाम-स्वरूप वे अध्यात्म मत के पक्के समर्थक बन सके। किन्तु उन्होने 'आत्मा' पर केवल चिन्तन और मनन नही किया, अपितु उसे अपनी अनुभूति का विषय बनाया। उनकी दृष्टि मे आत्मा अनुभव थी और उसका रस पचामृत-जैसा स्वादिष्ट। वे मूलत साहित्यिक थे। उन्होने 'अध्यात्मवाद' को भावोन्मेष के साचे मे ढाला। अत वे ज्ञान-क्षेत्र के आध्यात्मवादियो से पृथक् रहे। उन्हे आत्मा का रस प्राप्त करने के लिए अपना मन किसी ब्रह्मरन्ध्र पर केन्द्रित नही करना पडा। वे न योगी थे, न तपी और न ध्यानी। उनमे अनुभूति प्रमुख थी। उसकी अन्तश्चेतना ने अध्यात्म और भक्ति को सन्निकट ला दिया था। यदि यह कहे कि बनारसीदास आध्यात्मिक भक्ति के प्रणेता थे, तो अनुपयुक्त न होगा।

आध्यात्मिक भक्ति का अर्थ है, आत्मा को आधार मानकर की गई भक्ति। जैनदर्शन मे आत्मा ज्ञान को कहते है। उसका तात्पर्य निकला कि बनारसीदास ज्ञानमूला भक्ति मानते थे। ज्ञान-भक्ति का जैसा समन्वय जैन काव्यो मे निभ सका, अन्य किसी मे नही। इसका कारण है कि निराकार, अदृश्य और अरूपी आत्मा तथा साकार और रूपी तीर्थंकर या केवलज्ञानी मुनि मे, जैन आचार्य कोई तात्त्विक भेद नही मानते। यहाँ जो ब्रह्म ज्ञान-क्षेत्र का विषय है, वह ही भाव-क्षेत्र का भी। दोनो के रूपो मे कोई अन्तर नही है। दूसरी बात है कि जैन दार्शनिक 'सुश्रद्धा' के समर्थक रहे है। 'सुश्रद्धा' उसी को कहते है, जो परीक्षा-पूर्वक की जाती है। आचार्य समन्तभद्र ने जिनेन्द्रदेव की भली भाँति परीक्षा की थी, तब उन्होने जिस श्रद्धा के फूल चढाये, वह सुश्रद्धा ही थी। यहाँ सिद्ध है

---

१ रूपचन्द पण्डित प्रथम, दुतिय चतुर्भुज नाम।
तृतीय भगौतीदास नर, कौरपाल गुन धाम॥
धर्मदास ये पच जन, मिलि बैठे इक ठौर।
परमारथ चरचा करें, इनके कथा न और॥
—नाटक समयसार, बम्बई, अन्तिम प्रशस्ति, दोहा २६-२७।

२ अनुभौ की केलि यहै कामधेनु चित्रावेलि,
अनुभौ को स्वाद पच अमृत को कौर है।
—वही, पृ० १७।

कि 'सु' शब्द ज्ञान का द्योतक है। और श्रद्धा का घनारूप ही भक्ति कहलाता है। अत 'सुश्रद्धा' मे यदि एक ओर ज्ञान समाता है तो दूसरी ओर भक्ति। ज्ञान और भक्ति का समन्वित रूप ही हिन्दी भक्ति-काव्य की अन्तश्चेतना का मुख्य स्वर है। बनारसीदास तो उसके निदर्शन ही है।

जिस आत्मा की बात ऊपर कही गई है, वह परमात्म रूप धारण कर चुकी है। जैन शास्त्रो मे आत्मा के तीन रूप माने गये है--बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। इनमे बहिरात्मा नितात मिथ्यात्व से ओत-प्रोत रहती है। उसमे परमात्मा को भी देखने की शक्ति नही होती। अन्तरात्मा शुद्ध होती है।[१] उसे 'परमात्मपद' के सन्निकट ही समझिये। परमात्मा आत्मा का विशुद्धतम रूप है। उसको ब्रह्म भी कहते है। योगीन्दु ने उसको 'निष्कलब्रह्म' की सज्ञा से अभिहित किया है। 'जैन हिन्दी भक्ति-काव्य' मे वही ब्रह्म आराध्य है और साधारण आत्मा भक्त। अर्थात् एक ही आत्मन् के दो रूपो मे एक सेवक है तो दूसरा सेव्य, एक भक्त है तो दूसरा भगवान्, एक पुजारी है तो दूसरा पूज्य। यहाँ उपनिषदो की भाँति आत्मा परमात्मा का खण्ड अ श नही है, अपितु वह स्वय विशुद्ध होकर परमात्मा बन जाता है। फिर भी उसके रूपो मे तो भेद है ही। इसी कारण उनमे भक्त और भगवान् वाली सघटना बन पडती है। बनारसीदास ने 'अध्यात्मपद पक्ति'[२] मे आत्मा और परमात्मा को इसी रूप मे प्रस्तुत किया है।

भक्ति-प्रेम और श्रद्धा का समन्वित रूप है। बनारसीदास ने भक्ति के श्रद्धा वाले पहलू को ही नही, किन्तु प्रेम को भी समरूप से ही अपनाया। उन्होने आत्मा को पत्नी और परमात्मा को पति बनाकर दाम्पत्यरति का रूपक घटित किया है। जब दो मे प्रेम होता है तो एक-दूसरे का वियोग असह्य हो जाता है। वियोग के दिन तडफते-तडफते ही बीतते हैं। बनारसीदास के 'अध्यात्मगीत' मे इस तडफन का एक चित्र ही उपस्थित किया गया है। आत्मा रूपी पत्नी परमात्मा रूपी पति के वियोग मे इस भाँति तडफ रही है, जैसे जल के बिना मछली।[३] उसके हृदय मे पति से मिलने का चाव निरन्तर बढ रहा है। वह

---

१ परमात्मप्रकाश, योगीन्दु, डा० ए० एन० उपाध्ये सम्पादित, रायचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, १।११।१५, पृ० २०-२४।

२ देखिये बनारसीविलास, जयपुर, पृ० २२२।

३ मैं बिरहिन पिय के आधीन।
यो तलफो ज्यो जल बिन मीन॥
—अध्यात्मगीत, तीसरा पद्य, बनारसीविलास, जयपुर, पृ० १५६।

अपनी 'समता' नाम की सखी से कहती है कि पति के दर्शन पाकर मैं उसमे इस तरह लीन हो जाऊँगी, जैसे बूद दरिया मे समा जाती है। मै अपनपा खोकर पियसू मिलूंगी, जैसे ओला गलकर पानी हो जाता है।[1] अन्त मे पति तो उसे घर मे ही मिल गया और वह उससे मिलकर इस प्रकार एकमेक हो गई कि द्विविधा तो रही ही नही। उसके एकत्व को कवि ने अनेक सुन्दर दृष्टान्तो से पुष्ट किया है। वह करतूति है और पिय कर्त्ता, वह सुख-सीव है और पिय सुख-सागर, वह शिवनीव है और पिय शिव-मन्दिर, वह सरस्वती है और पिय ब्रह्मा, वह कमला है और पिय माधव, वह भवानी है और पिय शकर, वह जिनवाणी है और पति जिनेन्द्र।

पिय मोरे घट मै पिय माहि। जल तरग ज्यो दुविधा नाहि ।।
पिय मो करता मै करतूति। पिय ज्ञानी मै ज्ञान विभूति ।।
पिय सुख-सागर मैं सुख-सीव। पिय सुख-मन्दिर मै शिव-नीव ।।
पिय ब्रह्मा मैं सरस्वति नाम। पिय माधव मो कमला नाम ।।
पिय शकर मै देवि भवानि। पिय जिनवर मै केवल वानि ।।[2]

एक दूसरे स्थान पर बनारसीदास ने 'सुमति' को पत्नी और 'चेतन' को पति बनाया है। दोनो मे प्रेम है—अटूट, एकनिष्ठ। एक बार चेतन कही गया तो भटक कर रह गया। बहुत दिनो तक घर न लौटा। समय की सीमाएं टूट गई। पथ निहारते-निहारते लोचन क्षीण हो गये। विरह की असह्य दशा कैसे सही जाय? अन्त मे पत्नी चल पडी पिय की खोज मे। वह किसी मार्ग-दर्शक के अभाव मे रुकी नही। जो पति को ढूंढने के लिए राजसी वस्त्र उतार कर कथा धारण कर सकती है,[3] उसे रास्ता दिखाने वाले की क्या आवश्यता। यदि उसके

---

१ होहु मगन मैं दरसन पाय, ज्यो दरिया मे बूद समाय।
पिय को मिलो अपनपो खोय, ओला गल पाणी ज्यो होय ।।
वही, ९ वाँ पद्य, पृ० १६०।

२ देखिये वही, पृ० १६१।

३ फारि पटोरहि, पहिरो कथा। जो मोहि कोउ दिखावै पथा ।।
वह पथ पलकन्ह जाइ बोहारौं। सीस चरन कै तहाँ सिधारौं ।।
जो गुरु अगुवा होइ, सखि मोहि लावै पथ माँहा।
तन मन धन बलि बलि करौं, जो रे मिलावै नाहा ।।
जायसी ग्रन्थावली, प० रामचन्द्र शुक्ल सम्पादित, पद्मावत, पद्मावती-नागमती विलाप खण्ड, चौथी चौपाई, पृ० २६५।

अभाव मे रुक सकती है, तो एक बहाना-मात्र है। जब साधक की लौ ब्रह्म की ओर मुड गई तो फिर किसी गुरु या सद्गुरु की जरूरत नही। वह स्वय वहाँ तक पहुँच जायेगा, भले ही विपत्तियो के अम्बार टूट पडे। उसे विश्वास होता है वहाँ पहुँचने का। यदि ऐसा न हो तो कहाँ टिके उसकी साधना। बनारसी की नायिका भी ऐसी ही प्रतीति वाली है। उसने खोजा तो खोज लिया। पिय मिला भयावह कान्तार मे। उसे देखते ही परायेपन की गागर फूट गई, दुविधा का आचल हट गया और समूची लज्जा पलायन कर गई। पत्नी का यह तादात्म्य का भाव शील-सना है, तो सुन्दर भी कम नही है। उसके विना तो 'देखना' सार्थक ही नही हो सकता। यदि साधक ब्रह्म को केवल देखकर रह जाय, उसमे लीन होने का भाव न जागे, तो 'द्वैध' कैसे हटे। देखने के साथ तादात्म्य होने की भावना तीव्रगति से वढती है। बनारसी की नायिका का स्पन्दन इस दिशा मे हुआ।

"बालम तुहुँ तन चितवन गागरि फूटि,
अ चरा गौ फहराय सरम गै छूटि, बालम ॥ १ ॥
पिउ सुधि पावत बन मे पैसिउ पेलि,
छाडत राज डगरिया भयउ अकेलि, बालम ॥२॥
काय नगरिया भीतर चेतन भूप,
करम लेप लिपटा बल ज्योति स्वरूप, बालम ॥३॥
चेतन बूझि विचार धरहु सतोप,
राग दोप दुइ वन्धन छूटत मोष, बालम ॥४॥[1]

कभी-कभी ऐसा हुआ कि सुमति खोजने नही गई–न जा सकी। किन्तु इसका अर्थ यह नही था कि उसकी विरह-वेदना अल्प थी अथवा उसका प्रेम-सान्द्र नही था। इसके विपरीत विरह ने उसे मार–मार कर लुन्ज बना दिया था। वह चलने मे भी समर्थ नही थी। वेचैनी और आकुलता वढ गई थी। विरह मे प्रेम और भी पुष्ट हो गया था। यदि प्रेम सच्चा है तो उसके आकर्षण मे असीम शक्ति होती है। सुमति का प्रेम भी ऐसा ही था। भटका हुआ पति स्वय लौटा, या उसे स्वय लौटना पडा। यदि न लौटता तो आकर्षण की चुम्वकीय शक्ति सन्देहास्पद वन जाती। भगवान् को भी भक्त के पास जाना पडता है। भक्त की अनुरक्ति उनको खीचे बिना नही रहती। भगवान् आते है तो समाँ ही

---

१ अध्यातमपद पक्ति, १० वाँ राग-विरवा, वनारसी विलास, पृ० २२८।

दूसरा हो जाता है। भक्त का दिल तो खुश होता ही है, चारो ओर की हवा भी खुशी का पैगाम ले दौड उठती है। कबीर की बहुरिया के घर, उसके पति राजा राम स्वय आये, तो उसके पुलक का ठिकाना न रहा। प्रकृति महक उठी, मगल गीतो की ध्वनियाँ निनादित होने लगी।[1] सुमति के प्रिय भी आये। वे निरजन-नाथ कहे जाते है—कामदेव-से सुन्दर और सुधारस-से मधुर है। उनके आते ही सुमति आल्हादित हो उठी। खञ्जन-जैसे उसके चपल नयन स्थिर हो निरखने लगे रूप के समुद्र को। ऐसा लगा जैसे कि प्रकृति मधुर गीतो से भर गई है। भय और पाप रूपी मल, जिसकी दुर्गन्धि अन्तः से बाहर तक विस्तृत होकर अपवित्रता का सचार करती ही रहती थी, न जाने कहा विलीन होगया।

"म्हारे प्रगटे देव निरजन।
अटको कहा सर भटकत कहा कहूँ जन रजन ॥ १ ॥
खजन दृग-दृग नयनन गाऊँ चाऊँ चितवत रजन
सजन घट अन्तर परमात्मा सकल दुरित भय खजन ॥ २ ॥
वो ही कामदेव होय कामघट वो ही सुधारस मजन।
और उपाय न मिले बनारसी सकल करमषय खजन ॥ ३ ॥"[2]

जायसी का रतनसेन भी जब लौटा तो जो पवन नागमती के शरीर को भूने डाल रहा था, शीतल होकर बहने लगा। सब ससार हरा-भरा हो गया, नदी और तालाब जल से आपूर भर गये, स्थान-स्थान पर जमी हुई दूब देखकर ऐसा लगा, जैसे पृथ्वी हर्ष-मग्न हो लहक रही हो। दादुर, मोर और कोकिल सब बोल उठे।[3] अभी तक न जाने कहा अलोप हो गये थे। जब 'मानसर' को उसका पिय पद्मावती के रूप मे मिल गया तो "देखि मानसर रूप सुहावा हिय हुलास पुरइन होइ छावा। अन्धियार रैनि मसि छूटी, भा भिनिसार किनर रवि फूटी॥"[4] उस शशि रेखा को देखकर कुमुद विकसित हो गये। उसने जहाँ देखा चमक फैल गई, "नयन जो देखा कँवल भा निरमल नीर सरीर। हँसत जो देखा हस भा, दसन-जोति नग हीर"॥[5] अर्थात् उस तालाब का अग-अग

१ कबीर ग्रन्थावली, डा० श्यामसुन्दरदास सम्पादित, का० ना० प्र० सभा वाराणसी, चतुर्थ सस्करण पद भाग, पहला पद्य, पृ० ८७।

२ बनारसी विलास, जयपुर, पृ० २४० क।

३ पद्मावत, चित्तौड-आगमन खण्ड, तीसरी चौपाई, पृ० १८७।

४ वही, सात समुद्र खण्ड, दसवी चौपाई, २-३ पक्ति, पृ० ६७।

५ वही, मानसरोदक खण्ड, ८ वी चौपाई का दोहा, पृ० २५।

ग्रानन्द-विमोहित हो उठा। जैन कवि द्यानतराय की ग्रात्मारूपी दुलहिन ने ज्यो ही ब्रह्म के दर्शन किये कि चारो ग्रोर फूला हुग्रा वसन्त देखा, जिसमे उसका मन-मधुकर सुखपूर्वक रमने लगा।[1] पिय के साथ ही वसन्त के ग्राने ग्रौर चतुर्दिक् मे सुगध के विकीर्ण होने की वात वनारसीदास ने 'ग्रध्यात्मफागु' मे भी लिखी है।

"विषम विरप पूरो भयो हो, ग्रायो सहज वसन्त।
प्रगटी सुरुचि सुगन्धिता हो, मन मधुकर मयमन्त ॥"[2]

वनारसीदास का प्रेम भाव 'ग्राध्यात्मिक विवाह' के रूप मे भी प्रस्फुटित हुग्रा है। ये विवाह दो तरह के होते हैं–एक तो जव किसी ग्राचार्य का दीक्षाग्रहण के समय दीक्षाकुमारी या सयमश्री के साथ सम्पन्न होता है ग्रौर दूसरा वह जव ग्रात्मारूपी नायक के साथ उसी के किसी गुण रूपी कुमारी की गाँठे जुडती हैं। प्रथम प्रकार के विवाहो का वर्णन करने वाले कई रास 'ऐतिहासिक काव्य सग्रह'[3] मे सकलित है। दूसरे प्रकार के विवाहो मे सबसे प्राचीन जिनप्रभसूरि का 'ग्रन्तरग विवाह' प्रकाशित हो चुका है। इसी के ग्रन्तर्गत वह दृश्य भी ग्राता है जवकि ग्रात्मा रूपी नायक 'शिवरमणी' के साथ विवाह करने जाता हे। ग्रजयराज पाटणी का 'शिवरमणी विवाह' १७ पदो का एक सुन्दर रूपक काव्य है।[4] कवि वनारसीदास ने भी तीर्थङ्कर शान्तिनाथ का शिवरमणी से विवाह दिखाया है। शान्तिनाथ 'विवाह मण्डप' मे ग्राने वाले हैं। होने वाली वधू की उत्सुकता दवाये नही दवती। वह ग्रभी से उनको ग्रपना पति मान उठी है। वह ग्रपनी सखी से कहती है, "हे सखी! ग्राज का दिन ग्रत्यधिक मनोहर है, किन्तु मेरा मन-भाया ग्रभी तक नही ग्राया। वह मेरा पति सुख-कन्द है, ग्रौर चन्द्र के समान देह को धारण करने वाला है, तभी तो मेरा मन-उदधि ग्रानन्द से ग्रान्दोलित हो उठा है। ग्रौर इसी कारण मेरे नेत्र-चकोर सुख का ग्रनुभव कर रहे हैं। उसकी सुहावनी ज्योति की कीर्ति ससार मे फैली हुई है। वह दु ख-रूपी ग्रन्धकार के समूह को नष्ट करने वाली है। उनकी वाणी से ग्रमृत झरता है। मेरा सौभाग्य है जो मुझे ऐसे पति प्राप्त हुए।"

---

१ तुम ज्ञान विभव फूली वसन्त, यह मन मधुकर सुख सो रमन्त।
—द्यानत पद सग्रह, जिनवाणी प्रचारक कार्यालय, कलकत्ता, ५८ वाँ पद, पृ० २४।

२ ग्राध्यात्मफाग, दूसरा पद्य, वनारसी विलास, जयपुर, पृ० १५४।

३ 'जैन ऐतिहासिक काव्य सग्रह' श्री ग्रगरचन्द नाहटा द्वारा सम्पादित होकर कलकत्ता से वि० स० १९९४ मे प्रकाशित हुग्रा था।

४ इसकी हस्तलिखित प्रति, जयपुर के श्री वधीचन्द जी के जैन मन्दिर के गुटका न० १५८, वेस्टन न० १२७५ मे निवद्ध है।

"सही ए री ! दिन आज सुहाया मुझ भाया आया नही घरे।
सहि ए री ! मन उदधि अनन्दा सुख-कन्दा चन्दा देह धरे॥
चन्द जिवा मेरा वल्लभ सोहै, नैन चकोरहिं सुक्ख करै।
जग ज्योति सुहाई कीरति छाई, बहु दुख तिमिर-वितान हरै॥
सहु काल विनानी अमृतवानी, अरु मृग-लाछन कहिए।
श्री शान्ति जिनेश नरोत्तम को प्रभु, आज मिला मेरी सहीए॥"[1]

जगराम, देवाब्रह्म, कुमुदचन्द्र, द्यानतराय और रूपचन्द आदि के पद-साहित्य मे ऐसे 'विवाहला' बिखरे हुए हैं। उनका सकलन मैंने किया है। गुजराती और राजस्थानी के जैन साहित्य मे भी इस प्रकार के अनेक विवाह-काव्य रचे गये। गुजराती के प्रसिद्ध लेखक मोहनलाल दुलीचन्द देशाई के 'जैन गुर्जर कविओ' मे ऐसे अनेक 'विवाहलो' की चर्चा की गई है। इस विवेचन से, प० परशुराम चतुर्वेदी की यह मान्यता कि भारतीय मधुरोपासना मे उपासक और उपास्य केवल प्रेमिका और प्रेमपात्र वाले रूप तक ही सीमित थे, उसमे वैध विवाह आवश्यक नही माना जाता था,[2] निराधार प्रमाणित हो जाती है। यहाँ तो सुमति का चेतन से विवाह ही नही हुआ, अपितु उसने एक पतिव्रता-सा जीवन भी विताया। दोनो मे भावात्मक पहलू पर अधिक वल दिया गया है, किन्तु इससे पति-पत्नी वाले सम्वन्ध का निराकरण नही हो जाता।

वनारसीदास ने जिस प्रेम की प्रतिष्ठा की, वह नितान्त अहैतुक था। 'अहैतुक' का अर्थ है–विला शर्त का समर्पण। ऐसा किये विना परमात्मा मिलता नही। एक वार वसन्त ने एक साधु से पूछा—महात्मन्! यदि भगवान् का सब जगह सचरण है तो हमे उसकी पद-ध्वनि क्यो सुनने को नही मिलती? साधु ने उत्तर दिया कि वह चीटी के पैर से भी अधिक धीमी होती है। और, तुम मे कही कोयल कूकती है, कही भ्रमर गूजते है, कही हस किलोले करते है तथा कही कलियाँ चटखती है, इस शोर-गुल मे तुम भगवान् को कैसे सुन सकते हो। इस सवको वन्द करो। भगवान् की पद चापे, तुम्हारे कानो मे आने लगेगी। वसन्त ने कहा–साधो! इस आयोजन की समाप्ति तो मेरा अन्त है। इनसे मिलकर ही तो जन्मा हूँ। इनके विना मै क्या हूँ–क्या रहूँगा? तो साधु ने मुसुकुरा कर कहा–जब तुम

1, श्री शान्ति जिन स्तुति, प्रथम पद्य, वनारसी विलास, जयपुर, पृ० १८६।
2 देखिये, 'रहस्यवाद', प० परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ८५, विहार राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना–४।

कुछ न रहोगे, अर्थात् जब तुम्हारा अह मिट जायेगा, तभी तो भगवान् को पा सकोगे। तात्पर्य है कि बिना शर्त के पूरा समर्पण हो तभी परमात्मा मिल सकता है, अन्यथा नही। कबीर ने भी ब्रह्म को प्राप्त करने के लिये मन को 'बिसमिल' करने और सिर देने की बात स्वीकार की थी। उन्होने सिर दिया और नाना प्रकार से दिया। कभी कहा "सीस उतारै भुइ धरै, तब पैठै घर माहिं", तो कभी बताया कि प्रभु का प्रेमरस रसायन की भाँति रसीला होता है, किन्तु, "कबीर पीवरग दुर्लभ है, मागै सीस कलाल।" कलाल की भट्टी जल रही है, उस पर प्रभु-भक्ति रूपी मदिरा तैयार हो रही है, बहुत जन आकर बैठ गये है पर, "सिर सौपे सोई पिवै, नही तो पिया नही जाय।"[1] सिर सौंपने का अर्थ है कि दिव्य वस्तु पाने के लिये निशेष हो जाना, फिर 'शर्त्त' तो स्वत ही रह गई। उसके लिये स्थान ही नहीं बचा।

बनारसीदास की आत्मा भी अपनपा खोकर ही पियसो मिली। ऐसे मिली जैसे ओला गलकर पानी मे मिल जाता है। ऐसे मिली जैसे बूद दरिया मे समा जाती है। ओला ने अपना अस्तित्व खोया और बूद ने भी। ऐसा किये बिना वे उसमे न समा पाते। उनमे समाने की चाहना ही मुख्य थी। वहाँ बदले की भावना कभी न आ पाई। उन्होंने यह कभी न कहा कि हम अपना कुछ अश तुम्हे देते है उसके बदले मे हे शिव! तुम हमे सासारिक सुख दे दो। सासारिक सुख तो जहाँ-तहाँ रहा, उन्होने तो मुक्ति भी न माँगी। भव-भव मे भक्ति की ही याचना की, अर्थात् भव-भव मे अपना पूर्ण समर्पण ही उन्होने करना चाहा। यह बात केवल बनारसीदास ने ही नही, अपितु हिन्दी के अन्य जैन कवियो ने भी कही। उपाध्याय जयसागर (१५ वी शती) ने 'चतुर्विशति जिन स्तुति' मे भगवान् महावीर से प्रार्थना की है, "करि पसाउ मुझ तिम किमई, महावीर जिरगराय। इरिग भवि अहवा अन्न भवि, जिम सेवउतु पाय[2] ॥'- कवि जयलाल (१६ वी शती) ने तीर्थंकर विमलनाथ की स्तुति मे लिखा है, "तुम दरसन मन हरषा, चदा जेम चकोरा जी। राजरिधि मागउ नहीं, भवि-भवि दरसन तोरा जी[3] ॥" भूधरदास भगवान् को देखकर ऐसे मुग्ध हुए कि भव-भव मे भक्ति की

---

१ कबीर ग्रन्थावली, डा० श्यामसुन्दरदास सम्पादित, का० ना० प्र० सभा, वाराणसी, १३।६, ४५।१९, ६।२, ६।३।

२ जैन गुर्जर कविओ, तीजो भाग, पृष्ठ १४७९।

३ मुनि जयलाल, विमलनाथ स्तवन, १३ वाँ पद्य, श्री कामता प्रसाद जैन के सग्रह की हस्तलिखित प्रति।

ही याचना की, "अब होउ भव-भव भक्ति तुम्हरी, कृपा ऐसी कीजिये। कर जोरि भूधरदास विनवै, यही वर मोहि दीजिये[1] ।।" तुलसी की विनय पत्रिका और सूरदास के सूरसागर का मूल स्वर भी यह ही है ।

जैन काव्य मे अहैतुक आत्म-समर्पण का अवसर अधिक था। यहाँ जीवात्मा को समर्पण करने कही अन्यत्र नही जाना पडा। उसमे जव यह भाव प्रादुर्भूत हुआ, तभी वह परमात्म रूप मे परिणत हो गई। जैसे सूर्य के प्रतापवान होने पर घन-समूह को विदीर्ण होना ही पडता है और सूर्य निरावाध ज्योतिवन्त हो उठता है, जैसे द्वितीया के चन्द्र के आगमन की इच्छा होते ही अमा की निशा को मार्ग देना ही पडता है और उसकी शीतल किरणे चतुर्दिक् मे विकीर्ण हो जाती है, जैसे नदी की धार मे मरोड आते ही पत्थरो को चूर्ण-चूर्ण होना ही पडता है और वह एक स्वस्थ प्रवाह लिये वह उठती है, वैसे ही आत्मा मे 'समर्पण' के भाव के उगते ही परमात्म-प्रकाश उदित हो उठता है। ऐसा नही है कि अपना समर्पण करने के लिये उसे किसी अन्य व्रह्म के पास जाना पडा हो। जव समर्पण के सहारे आत्मा स्वय व्रह्म वन सकती है तो उसे अपना समर्पण सहैतुक बनाने की क्या आवश्यकता। सहैतुक तो वहाँ हो जहाँ द्वित्व हो, भेद हो, पृथक्करण हो। यहाँ तो एक ही चीज है। 'स्व' के प्रति 'स्व' का यह समर्पण जितना 'अहैतुक' हो सकता है, अन्य नही। यदि यह कहा जाय कि 'परमात्मा' जीवात्मा से किसी न किसी रूप मे तो भिन्न है ही, अत 'स्व' का 'स्व' के प्रति 'अहैतुक समर्पण' कैसा ? तो आप जिनेन्द्र को जीवात्मा से पृथक् मानिये, फिर भी 'अहैतुक समर्पण' मे कोई वाधा उत्पन्न नही होती। जिनेन्द्र वीतरागी हैं, वे किसी से राग नही करते, अर्थात् न किसी को पुत्र देते हैं, न धन और न मोक्ष। ऐसे भगवान् से जो प्रेम करेगा, वह यह सोचकर ही करेगा कि प्रेम के उपलक्ष्य मे भगवान् से लौकिक अथवा पारलौकिक किसी भी प्रकार की उपलब्धि न हो सकेगी। यहाँ 'दोनो ओर प्रेम पलता है' वाली बात नही निभ पाती। प्रेमी प्रेमास्पद की वीतरागता पर रीझ कर ही प्रेम करेगा।[2] उसे वदले मे कुछ न चाहिये। न कोई शर्त्त होगी, न कोई स्वार्थ। तो जैन परम्परा के मूल मे ही कुछ ऐसा दर्शन सन्निहित है, जहाँ सहैतुक प्रेम को स्थान ही नही है। यहाँ प्रेमी का प्रेम एकान्तिक है-एकनिष्ठ है। किन्तु प्रश्न तो यह है कि जब आलम्वन

---

१ भूधरदास, दर्शन स्तुति, चौथा पद्य, वृहज्जिनवाणी सग्रह, प० पन्नालाल वाकलीवाल सम्पादित, सम्राट सस्करण, मदनगज, किशनगढ, सन् १९५६ ई०, पृष्ठ ४० ।

२. देखिये 'जैन भक्ति काव्य की पृष्ठ भूमि', प्रथम अध्याय, पृष्ठ १७ ।

निष्क्रिय है तो प्रेम मे उद्दीपन कैसे हो ? उसमे वह गुण तो है, जिस पर प्रेमी का प्रेम टिका है अर्थात् वीतरागता । वह प्रकाश-पुञ्ज के अलातचक्र की भाति प्रेम को उमगित बनाये रखेगा ।

परमात्मा रूपी पति के आने से आत्मा रूपी पत्नी को प्रसन्नता होती है । प्रसन्नता होना तो स्वाभाविक ही है, किन्तु ज्ञातव्य तो यह है कि पति-आगमन के लिये पत्नी अपने घर को निर्मल बनाती है या जैसा है वैसा ही पडा रहने देती है ? कुछ ने कहा कि जब तक अपने घट रूपी घर को शुद्ध न करोगे परमात्मा नही आयेगा । बिहारी का विचार है, "तौ लगु या मन सदन में हरि आवैं किहिं बाट । विकट जटे जौ लगु निपट खुलै न कपट-कपाट ।।" किन्तु कबीर की कुछ दूसरी ही मान्यता प्रतीत होती है । उन्हे यह शर्त रुचिकर न थी । वे शर्त के घेरे मे बधने वाले जीव नही थे । उन्हे दृढ विश्वास था कि राम के आते ही मलीमस स्वत ही हट जायगा ।[1] कबीर से बहुत-बहुत पहले आचार्य योगीन्दु ने लिखा था कि जो मन शास्त्र-पुराण और तपश्चरण से शुद्ध नही हुआ, वह परमात्मा के आने से निर्मल हो दमक उठा ।[2] परमात्मा के आने से मैल स्वत हट जाता है, यदि न हटे तो वह परमात्मा ही क्या ? मुनि रामसिंह के निरञ्जन देव भी ऐसे ही है, उनके धारण करने से चित्त के भीतरी भाग मे जमी मैल की परते विलीन हो जाती है ।[3] बनारसीदास पर अपभ्रंश की इसी परम्परा का प्रभाव है । जब साजन आया तो सजनी का भय-पाप रूप मलीमस हट गया ।[4] अद्रा नक्षत्र के लगते ही शुष्क वृक्ष स्वत पलुहा उठते हैं । मूर्छित लतायें लहलहा उठती हैं । जायसी की नागमती तो इसी आश्वासन पर जीवित

---

१ "निरगुन ब्रह्म कथौ रे भाई । जा सुमरि सुधि बुधि मति पाई ।।" कबीर ग्रन्थावली, काशी, पद ३७५ ।

२ अप्पाणिय मणि णिम्मलउ णियमे वसइ ण जासु ।
सत्थ पुराणइ तव चरणु मुक्खु वि करहि कि तासु ।।
परमात्म प्रकाश, १।९८, पृष्ठ १०२ ।

३ अब्भितर चित्ति वि मइलियइ बाहरि काइ तवेण ।
चित्ति णिरजणु को वि धरि मुच्चइ जेम मलेण ।।
पाहुड दोहा, ६१ वाँ दोहा, पृष्ठ १८ ।

४ "सजन घट अन्तर परमातमा सकल दुरित भयभजन ।" बनारसीविलास, जयपुर, पृष्ठ २४० क ।

रही ।[1] उसे विश्वास था कि रतनसेन के आते ही मेरा वियोग-जन्य कलुष मिट जायगा । बनारसीदास को इस परम्परा का स्तम्भ कहना चाहिये ।

बनारसीदास ने केवल प्रेम की ही नही श्रद्धा की भी बात कही । उन्होने जिस श्रद्धा को सजोया वह अंध नही थी । अर्थात् उसमे देखने वाली आँख थी । आचार्य समन्तभद्र ने उसे सुश्रद्धा कहा है । इसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। बनारसीदास की सुश्रद्धा सद्बुद्धि की पर्यायवाची थी । उन्होने लिखा कि जिन-वाणी को बुद्ध देख सकता है, दुरबुद्ध नही—"बुद्ध लखै न लखै दुरबुद्ध । सदा जग माँहि जगै जिनवानी ।।"[2] 'बुद्ध' का अर्थ है 'बुद्धि सहित' । बुद्धि अच्छे और बुरे दोनो ही प्रकार के तन्तुओ से बुनी जा सकती है, किन्तु यहाँ 'बुद्ध' मे सन्नि-हित बुद्धि से ध्वनित होता है कि उसका निर्माण सुश्रद्धा से हुआ है । जिनवाणी विश्व-व्यापी है और सदैव जगमगाती रहती है, किन्तु उसे देखने के लिए 'एक आँख' चाहिए, वह जिसके पास नही है, वह नही देख सकता । यह आँख सुश्रद्धा की बनी होती है । सुश्रद्धा को श्रेष्ठ लगन भी कहते हैं, उसका स्वभाव है कि जिसके प्रति होती है, उससे आश्लिष्ट और घनाश्लिष्ट होती जाती है । ऐसा करने से उसे दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है । यह ही वह आँख है जो जिनवाणी को देखती है । देखकर ही नही रह जाती, तन्मय हुए बिना उसे चैन नही मिलता । अनुखन माधव-माधव सुमरते राधा, माधव के दर्शन-मात्र से ही तृप्त नहीं हुई, अपितु माधव हो गई ।[3] श्रद्धा की भावभूमि पर, साधक और साध्य तथा प्रेमी और प्रेमास्पद एक होते रहे हैं–होते रहेगे, उन्हे कोई शक्ति रोक नहीं सकती ।

---

१ जिनि अस जीव करसि तू बारी ।
यह तरिवर पुनि उठहिं सँवारी ।।
दिन दस बिनु जल सूखि बिधसा ।
पुनि सोइ सरवर, सोइ हसा ।।
मिलहिं जो बिछुरे साजन, अकम भेंटि गहता ।
तपनि मृगसिरा जे सहै, ते अद्रा पलुहत ।।
पद्मावत, नागमती-वियोग खण्ड, तीसरी चौपाई, अन्तिम पंक्तियाँ, पृष्ठ १५२ ।

२ नाटक समयसार, जीव द्वार, तीसरा पद्य ।

३ "अनुखन माधव-माधव सुमरइत सुन्दरि भेलि मधाई ।"
'विद्यापति का अमर काव्य', गुणानन्द जुयाल सम्पादित, कानपुर,
७० वाँ पद, पृष्ठ ४५ ।

सुश्रद्धा ही दिव्य दृष्टि है। जिन्हे वह प्राप्त नही, वे ब्रह्म को पाने मे भी समर्थ नही। दिव्य दृष्टि की भूमिका मे ज्ञान महत्वपूर्ण पार्ट अदा करता है, किन्तु वह भी सुश्रद्धा से समन्वित होता ही है, ऐसा हुए बिना ज्ञान 'सम्यक्' पद का अधिकारी नही हो पाता। 'सम्यक्' ही 'दिव्य' है, यदि वह है तो वह है, वह नही तो वह भी नही। दोनो एक है। जैन दर्शन के प्रसिद्ध सूत्र 'सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग' मे 'सम्यग्दर्शन' पहले है, 'सम्यक्ज्ञान' बाद मे। दर्शन के बिना ज्ञान नही होता और दर्शन का अर्थ है श्रद्धान्। अत श्रद्धा के बिना ज्ञान नही होता और सुश्रद्धा के बिना सुज्ञान नही। सुज्ञान ही दिव्य दृष्टि है। ऐसे ज्ञान की बात महात्मा तुलसीदास ने भी स्वीकार की थी। उन्होंने गीतावली मे लिखा है कि रावण के साथ युद्ध मे घायल जटायु को गोद मे रख कर राम विलाप कर उठे। राम चाहते थे कि पितृ-तुल्य जटायु जीवित रहे। वे उसे अधिक जीवन-दान देने को तैयार थे। किन्तु जटायु ने कहा, "जिस भगवान् को, बडे-बडे वेदाध्यीती–ज्ञानी मुनि, योगी और शत-शत वर्षों से तप मे निरत तपी अपने ध्यान मे एक क्षण को भी नही देख पाते, उसे मरते समय प्राप्त करना मुझ-जैसे जन के लिये दुर्लभ ही है, अत· मुझे मृत्यु श्रेयस्कर है।"[1] और वह जटायु भगवान् के अश्रु-जल से अभिषिक्त होता स्वर्ग की राह लगा। इससे स्पष्ट है कि एक हीन जाति का जीव भगवान् को पाने मे समर्थ हो सका, जबकि उच्च वर्ण के मुनि उसे एक पल के लिये ध्यान मे भी न ला सके। इसका तात्पर्य है कि जो पावन श्रद्धा जटायु मे थी वह ज्ञानी-ध्यानी मुनियो मे नही थी, इसी कारण वे ज्ञान की गरिमा और तप की ऊष्मा के बल पर भी आराध्य को उपलब्ध न कर सके। सुश्रद्धा के अभाव मे उनका ज्ञान कोरा प्रमाणित हुआ। उसकी निरर्थकता स्पष्ट ही है। यहाँ पर भी बनारसी का "बुद्ध लखै न लखै दुरबुद्ध" जैसे मुखर हो उठा है। कबीर का "पाथी पढि-पढि जग मुआ पण्डित भया न कोइ" मे 'पण्डित' बनारसी के 'बुद्ध' का पर्यायवाची है। पोथियाँ पढकर कोई पण्डित नही हो सकता। पण्डित बनने के लिये 'राम' के दो आखर दिल मे लाने होगे। इस प्रकार कबीर ने भी सुश्रद्धा की ही बात की है।

बनारसीदास ने 'सद्बुद्धि' को 'राधिका' कहा है। राधा कृष्ण की प्रेमिका थी। वह उनके साथ रासलीला रचाती थी, गौये चराने वन मे जाती थी, मुरली-वादन मे शामिल होती थी। जब कृष्ण मथुरा चले गये तो विरह-प्रपीडिता राधा दिन-रात कृष्ण-कृष्ण की सुध मे बे-सुध रहने लगी। विरह ने उसके प्रेम

---

१ देखिये तुलसीकृत गीतावली।

को और भी पुष्ट किया। राधा रस की प्रतीक ही थी। उसके नाम पर न-जाने कितने रस-पथो और ग्रन्थो की रचना हुई। चैतन्यचरितामृत, गीतगोविन्द, विद्यापति की पदावली और सूरसागर राधा के जयगीत है। रीतिकाल के अनेक कवियो ने अपनी शृङ्गारपरक रचनाओं का प्रारम्भ राधा की चरण-वन्दना से ही किया। विहारी के "मेरी भव-बाधा हरौ राधानागरि सोइ" से सव परिचित हैं। राधा को सन्त कवियो ने 'आध्यात्मिक सुषमा' के रूप मे स्वीकार किया है। उनकी सुन्दरी राधा, उनके हृदय मे स्थित राम के साथ रमण करती है। वे दोनो एक है। अत राधा 'निरवानी' है, अर्थात् निर्वाण की अलौकिकता का चिह्न है। जब तक राधा अवोध है, रीझी नही, तब तक उसे राधा नही कहा जाता। अर्थात् राधा तभी राधा है, जब वह राम पर रीझ कर तन्मयता की धुनि मे मूच्छित हो-हो उठे। तद्रूप हुए विना उसे चैन न मिले। गोकुल मे, ऊधौ ने ऐसी ही वेचैन राधा के दर्शन किये थे। उसी को सन्त कवियो ने 'सुमति' की सज्ञा से अभिहित किया है। 'सुमति' और 'सद्बुद्धि' पर्यायवाची है। इसका अर्थ हुआ कि राधा की भाँति सद्बुद्धि उसी को कहा जायेगा, जिसकी शक्ति राम-मय होने मे तल्लीन रहती हो। यदि ऐसा नही है तो वह बुद्धि तो कहला सकती है, किन्तु उसका सद्विश्लेपण निरर्थक ही रह जायेगा। आराध्य के चरणो मे चढने से ही उसकी कृतार्थता है। बनारसीदास इसी मत के समर्थक थे उनकी राधा की एक झलक देखिये—

"धाम की खवरदार राम की रमन हार,
राधा रस पथनि मे ग्रन्थनि मे गाई है।
सन्तन की मानी निरवानी रूप की निसानी,
यातै सद्बुद्धि रानी राधिका कहाई है॥"[1]

'भैया भगवतीदास' ने भी सद्बुद्धि को मस्तिष्क का विलास नही, अपितु भक्ति-रस का प्रतीक माना है। बनारसीदास की सद्बुद्धि की भाँति वह भी मोह और काम को विडार कर राम की रट लगाया करती है। वह कर्म रूपी घटाओं को फाडकर चन्द्ररूपी राम से सुधामयी हो गई है। उसने सतत श्रद्धा-प्रसून समर्पित कर जिनेश की प्रतीति प्राप्त कर ली है और स्वय भी चिदानन्द वन गई है।[2] पण्डित दौलतराम ने 'आध्यात्म बारहखडी' मे इसी सद्बुद्धि को 'राधा'

---

१ नाटक समयसार, सर्वविशुद्धिद्वार, १४ वाँ पद।

२ 'प्राचीन हिन्दी जैन कवि', प० मूलचन्द्र वत्सल, दमोह, पृष्ठ १४२।

कहा है। वह भगवान् के चरणो मे लौ लगाये रहती है। लौ लगाने से उसे तृप्ति मिलती है। और इस प्रकार वह अपने जीवन को सार्थक समझती है।[1] कवि जगराम के अनेक पद सुमति रूपी राधा की जिनेन्द्र-निष्ठा को प्रगट करते है। उनकी राधा जिनेन्द्र के साथ रमरण करती है, इसी कारण उन्हे 'राधा-रौन कहा जाता है।[2] राधा-रौन की बात कवि बनारसीदास ने भी की है। उन्होने 'अब अन्तरगति भई हमारी, परचे राधा-रौन सौ'[3] लिखकर 'राधा-रौन' से परिचित होना स्वीकार किया है। इससे सिद्ध है कि बनारसीदास के आराध्य 'राधारमरण' थे। केवल राधा का नाम उन्हे अभीष्ट नही था। उन्होने राधा की सार्थकता इसी मे समझी कि वह कृष्ण के साथ रमरण करे। रमरण का अर्थ है—द्वित्त्व मेट कर एकत्त्व स्थापित करे। यह तभी सम्भव है, जब वह एकमेक होने की भावना भाये। इसी को भक्ति कहते है। भक्ति का प्रतीक बने विना 'सुमति' की सुष्ठु मति भी निरर्थक ही है। अत सद्बुद्धि वह ही है जो भक्ति की धार पर सध सके।

बनारसीदास ने सुमति को राधा ही नही, सीता, भवानी और गगा भी कहा। "यहै राम रमरणी सहजरूप सीता सती[4]" के द्वारा उन्होने सीधे-सीधे ही सती सीता की सार्थकता राम के साथ रमरण करने मे स्वीकार की। उनकी एक पक्ति, "यहै भवभेदिनी भवानी शम्भु घरनी"[5] मे भवानी का शम्भु की घर-वाली होना ही प्रमुख है। "यहै गगा त्रिविध तीरथ की धरनी"[6] से स्पष्ट प्रगट है कि गगा की महिमा त्रिविध तीर्थ धारण करने मे ही है। इसे 'जिन महिमा'[7] कहकर बनारसीदास ने माना कि 'सुमति' का सौन्दर्य तभी है, जब जिनेन्द्र उसे अपनी महिमा के रूप मे अगीकार कर सके। जिन-शासन मे वह इसी रूप मे विख्यात है। 'जिनेन्द्र की महिमा' कहलाने का गौरव उसे जिनेन्द्र की कृपा के विना न मिला होगा, यह सुनिश्चित है। और भगवान् की कृपा भक्ति के विना

---

१ प० दौलतराम आध्यात्म बारहखडी, दि० जैन पचायती मन्दिर, बडौत की पाण्डु-लिपि, पृष्ठ २५३, १७ वाँ पद्य।

२ पद सग्रह, दि० जैन पचायती मन्दिर, बडौत की पाण्डुलिपि, पृष्ठ १७,८ वा पद।

३ आध्यात्मपद पक्ति, १४ वाँ पद, बनारसी विलास, पृष्ठ २३२।

४ नव दुर्गा विधान, ७ वाँ पद्य, बनारसी विलास, जयपुर, पृष्ठ १६९।

५ वही, आठवाँ पद्य, पृष्ठ १७०।

६ वही, आठवाँ पद्य, पृष्ठ १७०।

७ वही, ९ वाँ पद्य, पृष्ठ १७०।

कहाँ मिलती है ? इसीलिये सुमति 'जिन महिमा' तभी कहलाई जब पहले जिन-भक्ति बन सकी। जिन-भक्ति ही 'जिन महिमा' है।

सुमति ने भक्ति बनकर जिस आराध्य को साधा वह निराकार था और साकार भी, एक था और अनेक भी, निर्गुण था और सगुण भी। इसी कारण जैन कवियो ने सूरदास की भाँति 'सगुण' का समर्थन करने के लिये 'निर्गुण' का खण्डन नही किया और निर्गुण की अराधना के लिये सगुण राम पर रावण की हत्या का आरोप नही लगाया। वे निर्द्वन्द्व हो दोनो के गीत गा सके। कवि बनारसीदास ने "निराकार चेतना कहावै दरसन गुण, साकार चेतना शुद्ध ज्ञान गुण-सागर है। चेतना अद्वैत दोउ चेतन दरब माहि, सामान्य-विशेष सत्ता ही कौ गुणसार है"।[1] कहकर एक ही चेतन को दर्शन गुण से युक्त होने के कारण निराकार और ज्ञान गुण-सागर होने से साकार माना। उन्होने दूसरे स्थान पर "नाना रूप भेष धरे भेष को न लेस धरे, चेतन प्रदेस धरे चेतना को खध है।"[2] लिखते हुए भी वह ही बात कही। उन्होने ब्रह्म के 'एकानेक' वाले पहलू को तो अनेक दृष्टान्तो से पुष्ट किया है। उन्होने लिखा कि जैसे महि मण्डल मे नदी का प्रवाह तो एक ही है, किन्तु नीर की ढरनि अनेक भाँति की होती है, जैसे अग्नि तो एक ही है, किन्तु तृन, काठ, वास, आरने और अन्य ईधन डालने से वह नाना आकृति धारण करती है, जैसे नट एक ही है, किन्तु नाना भेप धारण करने से वह नानारूप दिखाई देता है, ठीक वैसे ही एक 'आत्म ब्रह्म' पुद्गल के सयोग से अनेक रूप धारण करता है।[3] इसी भाँति उन्होने एक ही ब्रह्म को "निर्गुण रूप निरञ्जन देवा सगुण स्वरूप करे विधि सेवा।"[4] लिख कर निर्गुण कहा और सगुण भी। इन्ही को आचार्य योगीन्दु ने 'निष्कल' और 'सकल' की सज्ञा से अभिहित किया था। निष्कल वह है जो 'पञ्चविध शरीर रहित'[5] हो, सकल वह है जो कुछ समय के लिये ही सही, शरीर सहित हो। भगवान् सिद्ध 'निष्कल' है और अर्हन्त 'सकल' ब्रह्म। ब्रह्मत्व की दृष्टि से दोनो

---

१. नाटक समयसार, मोक्ष द्वार, दसवाँ पद्य, पृष्ठ ८२।

२ वही ववद्वार, ५४ वाँ पद्य, पृष्ठ ७८।

३ वही, वन्ध द्वार। ३५, जीव द्वार। ८ और मोक्षद्वार। १४।

४ शिव पच्चीसी, ७ वाँ पद्य, वनारसी विलास, जयपुर, पृष्ठ १५०।

५ 'पचविध शरीर रहित निष्कल,' ब्रह्म देव की टीका, योगीन्दु कृत परमात्मप्रकाश, १।२५, पृष्ठ ३२।

मे अन्तर नही है, किन्तु अघातिया कर्मो के क्षय होने तक 'अर्हन्त' को ससार मे सशरीर रुकना पडता है। उनका परम औदारिक शरीर होता है अर्थात् अन्तिम स्थूल शरीर, इसके उपरान्त उन्हे फिर कोई शरीर धारण नही करना पडता। 'अर्हन्त' ही अघातिया कर्मों के क्षय होने पर 'सिद्ध' अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं। एक ही जीव अपनी साधना से पहले 'सगुण ब्रह्म' बनता है, फिर निर्गुण दशा को प्राप्त कर लेता है। जो एक बार 'निर्गुण' बन गया, वह फिर कभी किसी रूप मे अवतार नही लेता—लीला और माया के कारण भी नही। अनेक जीव 'सगुण' बनकर 'निर्गुण' बनते रहते है। जैन सिद्धान्त अनेक ब्रह्म मे विश्वास करता है। स्वरूप-मूलरूप की दृष्टि से वे एक ही है, वैसे अनेक हें। सूर और तुलसी ने जिस सगुण ब्रह्म की आराधना की, वह 'निर्गुण' से एकदम निराला था, बनारसीदास तो ऐसी कल्पना भी नही कर सकते थे। उन्होने 'निर्गुण' की भक्ति की और 'सगुण' की भी। दोनो मे कोई अन्तर न माना। बनारसीदास से पूर्व अन्य जैन कवि भी ऐसा ही करते थे। मैंने अपने ग्रन्थ 'हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि' मे उनके अनेक दृष्टान्त दिये हैं। यहाँ हम केवल विवेचन के लिये, पहले बनारसीदास की 'सिद्ध भक्ति' को और फिर 'अर्हन्त-भक्ति' को लेगे।

बनारसीदास ने जिस 'सिद्ध' की अराधना की, वह केवल अविनाशी और अविकार ही नही है, अपितु परमरस का भी धाम है। रस और आनन्द पर्याय-वाची होते हैं, अत उसे 'परमानन्द' कहना उपयुक्त ही होगा। वह सर्वाङ्ग-सुन्दर है और सौन्दर्य भी ऐसा-वैसा नही-प्राकृतिक, सहज और स्वाभाविक। उस पर योगीजन ध्यान केन्द्रित करते है। वह मनमोहन है और उसके द्वारा योगियो के मन मोहे जाते रहे हैं, जाते रहेगे। तभी तो वे उस पर दिन-रात अपने ध्यान को लगाये रखने मे समर्थ हो पाते हैं। वह भगवान् अनादि है और अनन्त है। अनादि का अर्थ है कि उसका आदि नही और अनन्त का तात्पर्य है कि उसका अन्त नही। वह आदि और अन्त से, अर्थात् जन्म और मरण से परे है-ऊपर है। वह शुद्ध बुद्ध तो है ही, अविरूद्ध भी है। यह ही बडी विशेषता है। अविरुद्ध का अर्थ है कि वह विरोधो से रहित है-उसमे किसी प्रकार का विरोध समाहित ही नही हो पाता। वह देव क्या जिसका अन्य देवो से विरोध हो, वह धर्म क्या जिसका अन्य धर्मों से पृथक्करण हो और वह सत्य क्या जो अन्य सत्यो से मिल न पाता हो। सत्य वही है जो सब जगह सत्य हो, यदि दूसरे सत्यो से उसका विरोध है, तो वह सत्य नही, असत्य है। बनारसीदास ने ऐसे भगवान् की भक्ति की जो इस कसौटी पर खरा उतरता हो, इसी कारण उन्होने 'अविरुद्ध' का प्रयोग किया।

उनका भगवान् ऐसा है, इसलिए जगत-शिरोमणि है, समूचा जगत उसकी 'जै' के गीत गाता है—

> "अविनासी अविकार परम रस धाम है
> समाधान सरवग सहज अभिराम है।
> शुद्ध वुद्ध अविरुद्ध अनादि अनन्त है
> जगत शिरोमणि सिद्ध सदा जयवन्त है ॥"[1]

वनारसीदास की एक प्रसिद्ध कृति है 'शिव पच्चीसी'।[2] इसमे पच्चीस पद्य है। उस समय पच्चीसी, छत्तीसी और वहत्तरी आदि रचे जाने की प्रथा थी। बनारसीदास की यह रचना भी उसी परम्परा मे गिनी जायेगी। इसमे उन्होने सागरूपक प्रस्तुत किया है, अर्थात् सिद्ध को शिव वनाया है और शिव के समूचे गुण सिद्ध मे घटित किये है। शिव को सिद्ध कहने की प्रथा प्राचीन है। सस्कृत के अनेक जैन कवियो ने सिद्ध को शिव सज्ञा से अभिहित किया है। योगीन्दु से भी पूर्व आचार्य मानतु ग ने (तीसरी शती) 'भक्तामरस्तोत्र' मे "त्व शकरोऽसि भुवनत्रयशकरत्वात्"[3] और आचार्य अकलक ने 'अकलक-स्तोत्र' मे "सर्ववित्तनुभृता क्षेमकर शकर"[4] लिखकर जिनेन्द्र को स्पष्ट रूप से ही शकर कहा है। वनारसीदास के जिनेन्द्र की करुण-रस-वाणी ही सुर-सरिता, सुमति गौरी, त्रिगुणभेद नयन-विशेप, विमल भाव समकित-शशि लेखा, सुगुरु-सीख शृ गी, नयव्यवहार वाघम्वर, विवेक-वैल, शक्ति-विभूति अ गच्छवि, तीन

---

१ नाटक समयसार सस्ती ग्रन्थमाला, दरियागज, देहली, प्रारम्भिक स्तुतियाँ, चौथी स्तुति, पृष्ठ २।

२ शिव पच्चीसी, वनारसी विलास, जयपुर, पृष्ठ १४९ पर सकलित है।

३ "वुद्धस्त्वमेव विवुधार्चित वुद्धिवोधात्
त्व शकरोऽसि भुवनत्रयशकरत्वात्।
धातासि धीर! शिव मार्ग विधेर्विधानाद्
व्यक्त त्वमेव भगवन् पुरुषोत्तमोऽसि ॥"

४ "दग्ध येन पुरत्रय शरभुवा तीव्रार्चिषा वह्निना।
यो वा नृत्यति मत्तवत्पितृवने यस्यात्मजोवाग्रह ॥
सोऽय किं मम शकरो भयतृषारोपार्त्ति मोहक्षय।
कृत्वा य: स तु सर्ववित्तनुभृता क्षेमकर शकर ॥२॥"

गुप्ति त्रिशूल, कठ विभाव, विषम-विप और सजम ही जटाये है। जिनेन्द्र शकर की भाँति ही सहज सुख का भोग करने वाले हैं। जिस भाँति शकर दिगम्बर योगी कहलाते है, वैसे ही जिनेन्द्र भी है। उनका ब्रह्मसमाधि-ध्यान ही शकर का घर है। वहाँ निरन्तर अनाहत नाद होता है, वही मानो डमरू बजता रहता है।[१] ऐसे जिनेन्द्र रूपी शिव की भक्त पूजा करता है। उसका समरसी भाव ही अभिषेक करने का जल है, उपशम ही घिस-घिस कर लगाने का चन्दन रस है। सहजआनन्द पुष्प है, जिनसे गुथी जयमाला भगवान् के चरणो मे सदैव समर्पित की जाती है। ज्ञान ही दीप-शिखा है, स्याद्वाद घन्टा की झनकार है, क्षायक भाव धूप है, निश्चय दान अर्घ्यविधि है, सहजशीलगुण अक्षत है, भगवान् के रस मे पगना ही नेवजो का चढाना है और विमल भाव फल है।[२] इस सामग्री के साथ जो ध्यान-मग्न होकर, अपने को तल्लीन कर, शिव की पूजा करता है, वह प्रवीण साधक इस जग मे शिव-स्वरूप हो जाता है, अर्थात् स्वय शिव बन जाता है। जिस प्रकार विद्यापति की राधा तादात्म्य की दशा मे कृष्ण बन गई, वैसे ही भक्त भी तल्लीनता के कारण स्वय शिव बन जाता है।

"जो ऐसी पूजा करै, ध्यान मग्न शिव लीन।
शिव स्वरूप जग मे रहे, सो साधक परवीन॥"[३]

एक दूसरे स्थान पर भी उन्होने शिव रूप जिनेन्द्र की वन्दना की है। वह 'सिवथान' पर रहता है अर्थात् उसने शिवत्व प्राप्तकर लिया है और वह अपने प्रकाश से प्रकाशवन्त है। उसका अपना प्रकाश आत्म-ज्योति है, जिसे दिव्य प्रकाश भी कहते हैं। इसके कारण वह सब पदार्थों मे मुख्य माना जाता है। कलक तो उसका स्पर्श भी नही कर पाता। निष्कलक होकर ही वह शिव-लोक का वास प्राप्त कर सका है। उसे परम सुख उपलब्ध है। कलक दु ख का कारण है, जब वह ही न रहा तो दु ख भी कैसे रह पाता। दु ख का नितान्त अभाव ही सुख है। सुख और शिव पर्यायवाची हैं। वह अन्तर्यामी भी है, अर्थात् विश्वव्यापी है। जीव और अजीव सबके घट-घट की जानता है। ऐसे शिव की वन्दना करने के लिये पात्रता की आवश्यकता है। अर्थात् भक्त को शिवगामी होना चाहिए। इसके लिए एक विशेष परिभाषिक शब्द है—भव्य। वही जीव भव्य होता

---

१ शिवपच्चीसी, पद्य १२–१६, बनारसीविलास, जयपुर, पृष्ठ १५०–५१।

२ वही, पद्य ८–१०, बनारसीविलास, जयपुर, पृष्ठ १५०।

३ वही, ११ वाँ दोहा, पृष्ठ १५०।

है जो सन्निकट भविष्य मे मोक्ष प्राप्त करे। उसे मोक्षगामी भी कहते हैं। ऐसा जो होगा वह 'शिव रूप' को देखकर अवश्य ही नमेगा, नमे विना रहेगा नही, झुक-झुक जायेगा। इसका तात्पर्य यह भी हुआ कि 'शिव रूप' को देखकर 'सिवगामी' ही झुक सकता है, दूसरा नही। बनारसीदास का यह पद्य है—

"जो अपनी दुति आप विराजत
हे परधान पदारथ नामी।
चेतन अक सदा निकलक
महासुखसागर कौ विसरामी।।
जीव – अजीव जिते जग मैं
तिनकौ गुन–ज्ञायक अन्तरजामी।
सो सिव रूप बसै सिव–थान
ताहि विलोकि नमै सिवगामी।।"[1]

यहा 'शिव-रूप' को देखकर 'सिवगामी' झुकता है, यह तो ठीक है, किन्तु वह देखने मे समर्थ कैसे हो पाता है, प्रश्न यह है। ऐसी सामर्थ्य के लिए किसी विशेष प्रयास की आवश्यकता नही है। केवल शिव-महिमा हृदय मे वसी हो। 'शिव रूप' के दर्शन हो ही जायेगे। दर्शन ही नही वह स्वय भी शिवरूप हो जायेगा। बनारसीदास ने लिखा है 'शिव-महिमा जाके घट बासी, सो शिवरूप हुआ अविनासी।"[2] पहले भक्त आराध्य की महिमा से आकर्पित भर होता है, फिर उसका आकर्षण घनीभूत ब्रह्म मे बदल जाता है और महिमा उसके चित्त मे दृढ आसन जमा लेती है। तुलसी ने विनयपत्रिका के अनेक - पदो मे राम-महिमा के ही गीत गाये है। उनकी दृष्टि मे राम से अधिक राम-महिमा है। उसके सहारे ही राम प्राप्त होते हैं, तो वह अधिक क्यो न होगी। गोपियो ने कृष्ण-महिमा को समझा था। उनके हृदय से कृष्ण क्षण भर को भी इधर-से-उधर नही गये, यदि जाते तो ऊधो क्षणमात्र के लिए ही सही, निर्गुण ब्रह्म को वसा अवश्य देते। यदि गोपियो ने कृष्ण-महिमा को न समझा होता तो उनका ऐसा विश्व-व्यापी विरह सही-सही न उतर पाता। सभी जानते हैं कि कृष्ण-महिमा के बद्धमूल हो

---

१ जीव द्वार। २, नाटक समयसार, पृ० ११।

२ "शिव स्वरूप भगवान् अवाची। शिव-महिमा अनुभव मति साची।।
शिव-महिमा जाके घट भासी। सो शिवरूप हुआ अविनासी।।"
—शिव पच्चीसी, तीसरा पद्य, बनारसी विलास, जयपुर, पृ० १४६।

जाने से ही राधा कृष्ठा बन गई थी, फिर उसके विरह ने दुतरफा मार की हो, इसकी उसने चिन्ता भी न की ।[1] बनारसीदास ने आराध्य की महिमा के अचूक प्रभाव को जाना था, इसी कारण उनका उपर्युक्त वाक्य समूचे 'बनारसी विलास' मे एक 'जय गीत' की भाँति जडा है ।

शिव-महिमा को सतत बनाये रखना आसान नही है । यह ससार मधु-मक्खियो के छत्ते की भाँति है, जो इसको भोगने की चाह करता है, मधुमक्खियाँ उडकर उससे चिपट जाती हैं और वह एक असह्य वेदना से कराह उठता है । शिव-महिमा एक ओर पडी रह जाती है । हाँ, शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति, जिसके लिए एक जैन पारिभाषिक शब्द है—सम्यक्त्वी, इस उपाधि—मधुमक्खियो के आक्रमण को समाधिष्ठ की भाँति झेल लेता है । सहज का कवच पहने और मन मे उमग भरे वह इस विपत्ति के मध्य भी सुख की राह बनाता निकल जाता है और उसकी दशा किंचिन्मात्र भी उद्वेगजनक नही होती । कहने का तात्पर्य यह है कि जीव के आत्मन् मे उत्पन्न हुई शिव–सत्ता तभी बनी रह सकती है, जब जीव ने सम्यक्त्व रूपी शक्ति उपात्त करली हो । मेरी दृष्टि मे सम्यक्त्व एक पवित्र झुकाव है-जिनेन्द्र की ओर या आत्म ब्रह्म की ओर । यह एक ऐसा झुकाव है, जो एक बार जिधर झुक गया फिर उधर से मुडता नही । इस झुकाव को तानने के लिए अनेक विकृत उपाय कारगर हो सकते हैं, और कुछ समय के लिए ऐसा प्रतीत हो सकता है कि वह झुकाव अब हट गया, किन्तु वास्तव मे ऐसा होता नही । दुनियाबी कार्यों मे सलग्न रहते हुए भी वह जीव उनसे नितान्त असपृक्त रहता है । उसकी लगन आत्म-ब्रह्म की ओर होती है । जैसे कुछ ग्राम-बधुएँ कुएँ से जल भर कर घर को चली, सिर पर तीन-तीन भरे घट धरे है, आपस मे हँस-खेल और इठला रही है, किन्तु उनका ध्यान सतत घडो मे लगा रहता है। जैसे गौ वन मे घास चरने जाती है, नदी मे पानी पीती है, इधर-उधर घूमती-फिरती है, किन्तु उसका मन अपने

---

१ "राधासयँ जब पुनतहि माधव माधव सय जब राधा ।
दारुन प्रेम तबहि नहि टूटत बाढत बिरहक बाधा ।।
दुहुँ दिसि दारु–दहन जैसे दगधई आकुल कीट परान ।
ऐसन बल्लभ हेरि सुधामुखि कवि विद्यापति भान ।।"

—'विद्यापति का अमर काव्य', गुणानन्द जुयाल सम्पादित, कानपुर प्रकाशन, ७० वाँ पद, अन्तिम पक्तियाँ, पृ० ४५ ।

वछडे मे रखा रहता है,[1] ठीक ऐसे ही यह जीव ससार के नाना कृत्यो मे उलझ कर भी अपने चित्त का स्वर ब्रह्म की ओर रख सकता है। जो उधर को मुड गया है, वह हटता नही। इसी मोड मे शक्ति है और इस मोडवाला ही शक्ति-सम्पन्न कहलाता है। 'जिनेन्द्र की ओर मोड' को जिनेन्द्र-भक्ति कहते है। वनारसीदास ने उसका श्रेष्ठ ढँग से प्रतिपादन किया है—

"जैसे काहु देस को वसैया वलवन्त नर,
जगल मे जाइ मधु-छत्ता को गहतु है।
वाका लपटाय चहूँ ओर मधुमक्षिका पै,
कम्बली की ओट सो अडकित रहतु है॥
तैसे समकिती शिव-सत्ता को सरूप साधे,
उदै की उपाधिको समाधि-सी कहतु है।
पहिरे सहज को सनाह मन मे उछाह,
ठाने सुखराह उद्वेग न लहतु है॥"[2]

जैन शास्त्रो मे आतम-ब्रह्म को चेतन, चिदानन्द या चिन्मूर्त्ति भी कहते हैं। यहाँ चेतन का तात्पर्य शुद्ध चेतन से है, ऐसा हुए विना तो उसमे ब्रह्म सज्ञा घटित ही नही होती। यह चेतन स्वानुभूति से दमकता रहता है, अर्थात् अपने को अपने से प्रकाशित करता रहता है। प्रकाश के दो अर्थ हैं–ज्ञान और आनन्द। ज्ञान को प्रकाश और अज्ञान को अधकार अजैन आचार्यों ने भी कहा है। तुलसीदास ने 'विनय पत्रिका' मे एकाधिक स्थानो पर ज्ञान को प्रकाश लिखा है। स्वानुभूति ही ज्ञान रूप होती है। इसका अर्थ निकला कि ज्ञान स्वत अपनी शक्ति से ही दीप्तिवन्त होता है। स्वानुभूति का प्रकाश ही आनन्द भी है। ज्ञान और आनन्द मे अन्तर नही है। पूर्ण ज्ञान ही चरम आनन्द है। अमृतचन्द्राचार्य का 'नम समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते' मे 'स्वानुभूति' ज्ञान की द्योतक है और 'चकासते'

---

१ "सात पाच सहेलियाँ रे हिल-मिल पाणीडे जायँ।
ताली दिये खल हँसै, वाकी सुरत गगरुआ मायँ॥
उदर भरण के कारणे रे गउवा वन मे जायँ।
चारो चरै चहुँ दिसि फिरैं, वाकी सुरत वछरुआ मायँ॥"
—आनन्दघन पद सग्रह, श्रीमद् वुद्धिसागर कृत गुजराती भावार्थ सहित, अध्यात्म ज्ञान प्रसारक मण्डल, वम्बई, वि० स० १९६९, पद ९५, पृ० ४१३–१५।

२ निर्जराद्वार। ३४, नाटक समयसार, पृ० ५४–५५।

प्रकाश का। इसका अर्थ हुआ कि ज्ञान ज्ञान से प्रकाशित होता है। तात्पर्य निकला कि ज्ञान से परम आनन्द मिलता है। तो वह चेतन ज्ञान और आनन्द दोनो रूप हैं। 'दोनो रूप' का अर्थ है--'प्रकाश रूप' है। चेतन प्रकाश हे। वनारसीदास के "पन्ना के पकाये जैसे कचन विमल होत, तैसे शुद्ध चेतन प्रकाशरूप भयौ है"[१] मे भी चेतन के इसी 'प्रकाश रूप' की वात है। अत उसकी अनुभूति मे ज्ञान है और परम आनन्द भी। आनन्द और रस पर्यायवाची हैं। वनारसीदास का मत है, "चेतन कौ अनुभौ अराधै जग तेई जीव, जिन्हकौ अखण्ड रस चाखिवे की क्षुधा हे।"[२] यहाँ 'अखण्ड-रस' मे परमानन्द की ही वात है। 'परमात्मप्रकाश' के टीकाकार ब्रह्मदेव ने चिदानन्दैकरूप, परमात्मप्रकाश और सिद्धात्मा को एक ही माना। उनकी वन्दना करते हुए लिखा, "चिदानन्दैक रूपाय जिनाय परमात्मने। परमात्मप्रकाशाय नित्य सिद्धात्मने नम ॥" यह चेतन घट रूपी मन्दिर मे रहता है। वनारसीदास ने उसकी वन्दना की हे, "सोहै घट-मदिर मे चेतन प्रगट रूप, ऐसो जिनराज ताहि वदत वनरसी।"[३] उन्होने चेतन के माहात्म्य की वात अनेक वार कही। कभी तो "चिद्‌रूप स्वयम्भू चिन्मूरति धरमवत, प्रानवत, प्रानि जन्तुभूत भवभोगी है"[४] कहा और कभी "निरावाध चेतन अलख, जामै सहज सुकीव। अचल अनादि, अनन्त नित, प्रगट जगत मे जीव ॥"[५] लिखा। तुलसी ने भी विनय पत्रिका मे 'चिदानन्द' के सुधारस का पान करने के लिए मन को प्रेरित किया है। उनकी दृष्टि मे ससार रविकर-जल के समान है, उसकी ओर दौडने से कुछ प्राप्त नही हो सकता, अत मन को 'चिदानन्द' की ओर मोडने से ही लाभ है। जैन कवि भैया भगवतीदास भी 'चिदानन्द' के ही आराधक थे। उन्होने वार-वार कहा कि 'चिदानन्द' की भक्ति करने से ही ससार के माया-जाल से मुक्ति मिल सकती है, अन्यथा नही।

जैन ब्रह्म निरञ्जन भी है। 'भी' यह प्रमाणित करने को लिखा कि निरञ्जन शव्द केवल अजैन पारिभाषिक शब्द नही है, वह जैन पदावली मे समाहित होता है। आचार्य अकलक ने 'अकलक-स्तोत्र' मे लिखा है, "सोऽस्मा-

---

१ जीव द्वार। ३४, नाटक समयमार, पृ० २०।

२ अजीव द्वार। ११, नाटक समयमार, पृ० २३।

३ जीव द्वार। २६, वही, पृ० १६।

४ नाटक समयसार, प्रारम्भिक स्तुतियाँ, २३ वाँ पद्य, पृ० ८।

५ अजीव द्वार। १०, नाटक समयसार, पृ० २३।

न्पातु निरञ्जनो जिनपति सर्वत्र सूक्ष्म शिव ।"[1] आचार्य योगिन्दु ने 'परात्म प्रकाश' और 'योगसार' दोनो ही ग्रन्थों मे 'निरञ्जन' का एकाधिक बार प्रयोग किया। उन्होने निरजन की परिभाषा लिखी, "जासु ण वण्णु ण गन्धु न रसु जासु ण सद्गुण फासु । जासु न जम्मणु ण वि णाउ निरजणु तासु ।"[2] अर्थात् जिसके न वर्ण होता है, न गन्ध, न रस, न शब्द, न स्पर्श, न जन्म और न मरण, वह निरञ्जन कहलाता है । इससे मिलती-जुलती बात मुनि रामसिंह ने 'पाहुडदोहा' मे कही है, वैण्णविहूणउ णाणमउ जो भावइ सब्भाउ। सत निरजणु सो जि सिउ तहि किज्जइ अणुराउ ।[3] इसका तात्पर्य है कि जो वर्ण-विहीन है, ज्ञानमय है, सद्भाव को भाता है, वह सत और निरजन है, वही शिव कहलाता है, उसी मे अनुराग करना चाहिए । यहाँ मुनि जी ने शिव और 'निरजन' को एक ही माना है । मूल स्वरूप की दृष्टि से दोनो मे कोई भेद है भी नही । जैसे 'शिव' का ध्यान लगाने से चित्त का मैल दूर हो जाता है, वैसे ही "चित्ति णिरजणु को वि धरि मुञ्चहि जेम मलेण ।"[4] निरजन शब्द का अर्थ ही 'मलरहित' है । 'कल्प सुबोधिका' मे लिखा है, "रजन रागाद्युपरञ्जन तेन शून्यत्वात् निरञ्जन ।" स्थानाग सूत्र मे भी "रजन रागाद्युपरञ्जन तस्मान्निर्गत" को निरजन कहा है ।[5] अञ्जन का अर्थ है मैल । राग भी मैल ही है, अत उससे छुटकारा पाने वाला निरजन है । मुनि कनकामर ने भी 'करण्डुचरिउ मे जिन दो तीन स्थानो पर 'निरजन' शब्द का प्रयोग किया है, वह भी इसी अर्थ मे है । इस सबसे स्पष्ट है कि उस भगवान् को निरजन कहो, सिद्ध, शिव या निर्गुण एक ही बात है । अपभ्रश-साहित्य मे जिस शब्द का सबसे अधिक प्रयोग हुआ, वह निरजन है ।

बनारसीदास इसी परम्परा से प्रभावित थे । उन्होने भी निरजन को सिद्ध के रूप मे ही स्वीकार किया है । यह बात उनके द्वारा निरूपित सिद्ध के स्वरूप से प्रमाणित है । उन्होने "अलख अमूरति अरूपी अविनासी अज, निराधार,

---

१ अकलक स्तोत्र, १० वाँ श्लोक ।

२ परमात्मप्रकाश, १।१६, पृ० २७ ।

३ मुनि रामसिंह, पहुडदोहा, डॉ० हीरालाल जैन सम्पादित, कारजा (बरार), वि० स० १९९०, ३८ वाँ दोहा, पृ० १२ ।

४ अब्भितरचिति वि मइलियइ बाहिरि काइ तवेण ।
चित्ति णिरजणु कोवि धरि मुञ्चहि जेम मलेण ।।
—देखिये वही, ६१ वा दोहा, पृ० १८ ।

५ अभिधान राजेन्द्र कोश, चतुर्थ भाग, पृ० २१०८ ।

निगम निरजन निरध है ।[1]" कह कर सिद्ध का ही प्रतिपादन किया है । उनकी दृष्टि मे यह निरजन चिदाकार, निराकार, निरधार, निर्वाचक, निर्मम, निरजोग और चरित्रधाम है ।[2] यहाँ निर्मम का अर्थ क्रूर नही है, अहिंसा के प्रतीक जिनेन्द्र मे उसकी सम्भावना नही हो सकती । निर्मम का 'मम' ममता का द्योतक है और ममता मोह को कहते है, अर्थ हुआ कि निरजन मोह-रहित है । जैन सिद्धान्त के आठ कर्मों मे 'मोहनीय' एक 'प्रबलतम' कर्म माना जाता है । उसका घात करना कठिन है । साधक को समूची साधना खपानी होती है । मोह के क्षीण हुए विना ज्ञान का प्रकाश प्रदीप्त नही हो सकता । तो निरजन निर्मम हे, इसका अर्थ इतना ही है कि वह ज्ञान के अनिर्वचनीय रस से सयुक्त है । बनारसी-दास ने 'शिव पच्चीसी' मे 'निर्गुण रूप निरजन देवा' लिखकर 'निरजन' को निर्गुण माना और साथ ही 'सगुण स्वरूप करै विधि सेवा' के द्वारा उसे सगुण भी कहा ।[3] निर्गुण ही मुख्य है, सगुण तो उसके भावलिंग की मूर्ति है, जो अव्यापक दोप से दूपित तो रहेगी ही । सगुण के महान् उपासक तुलसी भी 'ब्रह्म' का मूल रूप 'निर्गुण' ही स्वीकार करते है । यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो उनकी 'विनय पत्रिका' का मूलस्वर निर्गुण-परक है । बनारसीदास ने निरजन को 'परमगुरु', 'परमपुरुप' और 'भगवान्' भी कहा । भगवान् भय-भञ्जन होता है और उनका 'निरजन' भी ऐसा ही है । 'परमसमाधिगत' उस निरजन की बनारसी ने श्रद्धापूर्वक वन्दना की है ।[4] उनका मत है कि सतोष को साधे बिना निरञ्जन की आराधना नही हो सकती ।[5] सतोप को साधने का अर्थ है—

---

१ बध द्वार ५४, नाटक समय सार, पृष्ठ ७८ ।

२. चरित्रधाम चित् चमत्कार । चरनातम रूपी चिदाकार ।
निर्वाचक निर्मम निराधार । निरजोग निरञ्जन निराकार ।।
—सहस्रनाम, २३ वाँ पद्य, बनारसीविलास, पृ० ५ ।

३ भाव लिंग सो मूरति थापी । जो उपाधि सो सदा अव्यापी ।
निर्गुण रूप निरजन देवा । सगुण स्वरूप करै विधि सेवा ।।
—शिव पच्चीसी, ७ वाँ पद्य, बनारसीविलास, पृ० १५० ।

४ परमनिरञ्जन परमगुरु, परमपुरुप परधान ।
वन्दहुँ परम समाधिगत, भय-भजन भगवान् ।।
कर्म छत्तीसी, पद्य १, बनारसीविलास, पृ० १३६ ।

५ 'साधि सन्तोष अराधि निरजन,
देइ सुसीख न लेइ अदन्ता ।'
निर्जरा द्वार । १०, नाटक समयसार, पृ० ४८ ।

तृष्णाओ पर विजय प्राप्त करना। अर्थात् तृष्णाओ पर विजय पाना अनिवार्य है। उसके विना कोई 'निरञ्जन' की भक्ति चाहकर भी नही कर सकता। ससारी जीव के राग-द्वेष का मुख्य कारण है—मन की दुविधा। यदि 'दुविधा' हट जाय तो मन को निरञ्जननाथ पर केन्द्रित किया जा सकता है। जब भक्त अपने मन को भगवान् पर टिकाने के लिए वेचैन हो उठे, तो समझ लो कि उसकी मन की दुविधा चली ही जायगी। वनारसीदास की "दुविधा कव जैहे या मन की। कव निजनाथ निरञ्जन सुमिरो तज सेवा जन–जन की।" 'अध्यात्मपद पक्ति' से यह स्पष्ट ही है।[1]

जैन परम्परा के अनुसार जिनेन्द्र और निष्कलक आत्मा मे कोई अन्तर नही है। आत्मा के कलक-रहित होने पर यदि कोई अपने आपको जिनेन्द्र कहने लगे तो असत्य न होगा। वनारसीदास ने 'परमार्थ हिण्डोलना' मे 'स्व' को 'निरञ्जननाथ' माना और उसे 'अवन्ध' 'अदीन' तथा 'अशरण' कहा। यहाँ अशरण से उनका तात्पर्य 'अशरण शरण' है। जो अनाथो को शरण देता है, उसका स्मरण और जाप सभी करते है, वनारसी ने भी किया।[2] वनारसीदास की आत्मा और निरञ्जननाथ पर्यायवाची है। दोनो के स्वरूप मे साम्य है और दोनो की भक्ति मे कोई भेद नही है।

चाहे जैन अपभ्रश साहित्य हो या हिन्दी काव्य, किसी मे भी वौद्धो के सिद्ध साहित्य और निरजनियाँ सम्प्रदाय की भाँति निरञ्जन के विकृत रूप के दर्शन नही होते। डॉ० द्विवेदी ने 'कवीरदास' मे लिखा है कि आगे चलकर निरञ्जन एक पुरुष भर रह गया, जिसके चारो ओर जादू-टोना और धार्मिक आवरण मे व्यभिचार मजवूत कदमो से शान के साथ चलने लगा। यह हुआ तभी जव 'निरञ्जन' अपने निर्गुण ब्रह्म के पद से नीचे गिर गया और विकृत सिद्धियो के केन्द्र के रूप मे पूजा जाने लगा। पहले जो सात्विकता का प्रतीक था, अव राजसिकता का प्रतीक हो गया। अव उसके सहाय्य से साधारण मानव की लैगिक और आर्थिक आकाक्षाये सन्तुष्ट हो उठी। अव उसकी आराधना सहस्र-सहस्र कण्ठो और सहस्र विधियो से सम्पन्न होने लगी। किन्तु जैन साहित्य का कोना-कोना झाकने के बाद भी निरञ्जन का यह रूप कही उपलब्ध नही हुआ।

---

१ आध्यात्मपद पक्ति, पद १३ वाँ, वनारसीविलास, पृष्ठ २३१।

२ कवहूँ अवध अदीन अशरन, लखत आपहि आप।
कवहुँ निरञ्जन नाथ मानत, करत सुमरन जाप॥
परमार्थ हिण्डोलना, ६ठा पद्य, वनारसीविलास, पृ० २३८।

वह निष्कल ब्रह्म ही बना रहा और इसी रूप मे उसकी साधना चलती रही। जैन साहित्य मे भी मन्त्र और जादू दोनो की बातें हुई। मन्त्र बने, उनकी क्रियाये रची गई और तत्सम्बन्धी पुस्तको का निर्माण हुआ। इन मन्त्रो के आराध्य देव और देवियो का विवेचन मैंने 'जैन भक्ति काव्य की पृष्ठभूमि' मे किया है।[1] किन्तु वहाँ निरञ्जननाथ का नाम भी नही है। अन्य देव-देवियाँ है, सभी शालीन और उच्च भावभूमि पर प्रतिष्ठित। वहाँ व्यभिचार-जैसी बात तो पनप ही नही सकी।

यद्यपि बनारसीदास के काव्य मे अध्यात्म-मूला भक्ति ही प्रमुख है, किन्तु अर्हन्त-भक्ति के रूप मे सगुण-भक्ति के दृष्टान्त भी अल्प नही है। बनारसी ने 'नाटक समयसार' मे 'नवधा-भक्ति' का उल्लेख किया है। उन्होने लिखा है, "श्रवन कीरतन चितवन सेवन वन्दन ध्यान। लघुता समता एकता नौधा भक्ति प्रवान॥"[2] इसमे लघुता मुख्य है। जब तक भक्त अपने को लघुतम और आराध्य को महत्तम न मानेगा, उसमे भक्ति का निर्वाह सम्भव नही है। 'तुलसी की भक्ति' मे प० रामचन्द्र शुक्ल ने ऐसी मान्यता को भक्ति का प्रथम और अनिवार्य सोपान कहा है। बनारसी के काव्य मे लघुता का रूप ही मुख्य है। अपनी लघुता और आराध्य की महत्ता अविनाभावी है। एक-दूसरे के बिना नही चल सकती। प्रभु की महिमा का बखान करते हुए बनारसी ने लिखा, "प्रभु का स्वरूप अत्यधिक अगम्य और अथाह है, हमसे उसका वर्णन नही हो सकता, जैसे दिन मे अन्धा हो जाने वाला उलूक-पोन रवि-किरन के उद्योत का वर्णन नही कर सकता।[3]" एक दूसरे स्थान पर बनारसी का कथन है—"जैसे बालक अपनी भुजा फैलाकर भी सागर को पार करने मे असमर्थ है, वैसे ही मैं मतिहीन होने के कारण प्रभु के असख्य निर्मल गुणो का वर्णन कैसे करूँ ?"[4] तीसरी जगह

---

१ 'जैन भक्ति काव्य की पृष्ठभूमि', भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, १९६३ ई०, पृ० १४१-१९६।

२ नाटक समयसार, हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, बम्बई, पृ० २७७।

३ प्रभुस्वरूप अति अगम अथाह। क्यो हमसे यह होइ निवाह।
ज्यो दिन-अन्ध उलोको पोत। कहि न सकै रवि-किरन उदोत॥
कल्याण मन्दिर स्तोत्र भाषा, ४था पद्य, बनारसीविलास, पृ० १२४।

४ तुम असख्य निर्मल गुणखानि। मै मतिहीन कहौ निजवानि॥
ज्यो, बालक निज बाह पसार। सागर परिमित कहै विचार॥
—वही, ६ ठा पद्य, बनारसी विलास, पृ० १२४।

वनारसी का भक्त असमजस मे पडा हुआ है कि "प्रभु के भारी गुणो की भक्ति का वोझ हलके-से दिल पर कैसे धारण किया जाये, किन्तु प्रभु की महिमा अपरम्पार है, जिसके कारण यह जीव लघु होकर ही ससार को पार कर सकता है।[1]" इस भाँति भक्त की लघुता और प्रभु की महिमा के अनेकानेक उदाहरण वनारसी-काव्य मे छिटके पडे हैं।

वनारसी के अराध्य की सवसे वडी विशेपता है, उसकी उदारता। उदारता भी ऐसी-वैसी नही—परले सिरे की। एक वार स्मरण करने मात्र से पापी-से-पापी के सव दु ख दूर हो जाते है। दुखो मे मुख्य है भय। पापात्मा भयभीत हो काँपता रहता है। उसकी तडफन, जो अभिव्यक्त नही हो पाती, उसे कोचती ही रहती है। जिसके स्मरण से भय निर्मूल हो जाय, वह भगवान् वहुत वडा है और उतनी ही वडी है उसकी उदारता। ऐसे प्रभु के सहारे टिक पाता है भक्त का अटूट विश्वास और आशा की श्वासो मे वह जीवित रहता है। वनारसीदास प्रारम्भ से ही भगवान् पार्श्वनाथ के भक्त थे। वे जैन परम्परा मे २३ वें तीर्थकर माने जाते है। उनका जन्म ईसा से ८०० वर्ष पूर्व वनारस मे हुआ था। उनका शरीर सजल जलद की भाँति था। उनके सिर पर सात फँण वाले सर्प का मुकुट सुशोभित रहता था। उन्होने कमठ के मान का दलन किया था। वे मदन के विजेता और धर्म के हितैषी थे। वनारसीदास के समूचे भय, उनका नही, उनकी भक्ति का स्मरण करने से ही दूर हो गये—

"मदन-कदन - जित परम धरम हित,
सुमिरति भगति भगति सव डरसी।
सजल - जलद - तन मुकुट सपत फन,
कमठ - दलन जिन नमत वनरसी ॥"[2]

जो प्रभु भक्त को अभय न दे सका, वह भले ही शील-सना हो और भले ही सौन्दर्य का अधिष्ठान हो, एकनिष्ठ श्रद्धा का अधिकारी नही हो पाता। भक्त किसी-भी कोटि का हो, भगवान् की शक्ति-सम्पन्नता पर ही रीझता है। जिनेन्द्र मे शील-सौन्दर्य ही नही, शक्ति भी होती है। उन्हे 'अनन्त वीरज' का धनी भी

---

१ तुम अनन्त गरुवा गुण लिये। क्योकर भक्ति धरूँ निज हिये ॥
ह्वै लघुरूप तिरहि ससार। यह प्रभु महिमा अकथ अपार ॥
—वही, १३ वाँ पद्य, बनारसी विलास, पृ० १२५।

२ पार्श्वनाथ स्तुति, नाटक समयसार, दिल्ली, पृ० १।

कहा जाता है। तभी तो वे वादल के समान पाप रूपी धूल को हरने मे समर्थ होते है। उनके भक्त को ससार के आवागमन का भय नही रहता। वे यम को दल डालते है और नरक-पद को तो समाप्त ही कर देते है। उनका भक्त अगम्य और अतट भव-जल को तैर कर पार कर जाता है। उन्होने स्वय मदन-रूपी-वन को शाकरीय अग्नि के ताप से भस्म कर दिया है। ऐसे प्रभु के जै-जै के गीतो से सब दिशाये ध्वनित हो उठती है। वनारसी ने भी उनकी चरण-वन्दना करते हुए लिखा है—

"पर अघ रजहर जलद,
सकल जन--नत भव-भय – हर।
जम–दलन नरकपद–क्षय--करन,
अगम अतट भव--जल--तरन ।।
वर सबल–मदन--वन--हरदहन,
जय--जय परम अभय करन ।।"[1]

वनारसी का आराध्यदेव देव ही नही है, अपितु देवो का देव है। इन्द्रादिक उनके चरणो का स्पर्श कर धन्यभाग्य वनते हैं। ऐसा करने से मुक्ति स्वय प्राप्त हो जाती है।[2] प्रयास नही करना पडता, तप नही तपना पडता, साधना नही साधनी पडती। वह मुक्ति जो चरणो का स्पर्श करते ही सध जाय, सच्ची मुक्ति है। उसमे ज्ञान की ऊष्मा नही, भाव-भीनी शीतलता होती है। यह ही मुक्ति भक्त कवियो की अनुभूति का विषय है। 'मुक्ति,' जिसे कवीर ने 'ब्रह्मलोक' कहा, सदैव दिव्य ज्योति से प्रकाशवन्त रहती है। वनारसी का देव भी सूर्य के समान प्रभा-मडल से व्याप्त है। उसके प्रभाव से मिथ्यात्व-रूपी अन्धकार जड-मूल से नष्ट हो जाता है और प्रकाश सतत छिटका रहता है।[3] मुक्ति उसी का प्रकाश पा दैदीप्यमान वनती है। ऐसा देव दीनदयालु होता ही है। उसके इसी गुण के सहारे भक्त दु ख

---

१ वही, दूसरी स्तुति, नाटक समयसार, पृ० १–२।

२ जगत मे सो देवन को देव।
जासु चरन परसैं इन्द्रादिक होय मुकति स्वयमेव ।।
—अध्यात्मपदपंक्ति, १५ वाँ पद्य, बनारसी विलास, पृ० २३२।

३ सूर समान उदोत है, जग तेज प्रताप घनेरा।
देखत मूरत भावसौं, मिट जात मिथ्यात अँधेरा ।।
—वही, २१ वाँ पद्य, विलास, पृ० २३६।

और सकट से छुटकारा प्राप्त करने मे समर्थ हो पाता है । बनारसी का कथन है—

> "दीनदयालु निवारिये, दुख सकट जोनि वसेरा ।
> मोहि अभय पद दीजिये, फिर होय नही भव-फेरा ।।"[1]

ऐसे 'भगवन्त' की 'भगति' बनारसीदास के हृदय मे बसी है। भक्ति कृत्रिम नही है, उसमे सहज भाव है । सरल हृदय मे कृत्रिमता नही होती । वह दिखावे से दूर रहता है । बनारसी की भक्ति भी स्वाभाविक ही थी । यह बात और भी पुष्ट हो गई जब यह विदित हुआ कि 'कुमति' कही चुपचाप विलीन हो गई और 'सुमति' न-जाने कव आ विराजी है । वह हृदय, जो तमसाच्छन्न रहता था, अव विमल ज्योति से जगमगा उठा है । जो हृदय क्रूरता की उष्ण उसासो से तप्तायमान था, अब 'दया' की मन्द-सुगन्ध पवन से शीतलता का अनुभव कर रहा है । लालसा अव भी जन्म लेती है, किन्तु वह भगवान् के दर्शन के अतिरिक्त और किसी की नही होती । यदि भक्त हृदय भगवान् के सम्मुख जा आरती करने को ललकता है, तो उसमे सन्निहित लालसा भगवद्परक होने के कारण दिव्य ही ठहरायी जायगी । उद्दाम भक्ति-भीने भाव हृदय मे समाते नही, तो उमगित हो, तटो को तोड वाहर फूट पडते हैं । उनका यह बलात् विस्फोट भक्ति का पावन चित्र है । सूरदास का 'शोभा-सिन्धु न अन्त लही री' इसका निदर्शन है और वनारसी का "कवहों सुभारती ह्वै बाहिर बगति है" मे भी वह ही वात है ।[2]

---

1 आध्यात्म पद पक्ति, २१ वाँ पद्य, बनारसीविलास, पृ० २३६ ।

2 कवहो सुमति ह्वै कुमति को विनाश करै,
कवहो विमल ज्योति अन्तर जगति है ।
कवहो दया ह्वै चित्त करत दयाल रूप,
कवहो सुलालसा ह्वै लोचन लगति है ।।
कवहो आरती ह्वै के प्रभु सनमुख आवे,
कवहो सुभारतौ ह्वै वाहरि वगति है ।
धरै दसा जैसी तव करै रीति तैसी ऐसी,
हिरदै हमारे भगवन्त की भगति है ।।
नाटक समयसार, १।१४, पृष्ठ ५ ।

वनारसी का आराध्य 'सुख-सागर' था। अर्थात् उसका सुख ऐसा था, जिसमे जन्म-मरण, लाभ-हानि और लीन-विलीन का अस्थैर्य नही था, वह सहज था। अर्थ है, स्वाभाविक था, दिव्य था, एकतान था। उसमे ज्ञान का उजाला था, वह भी सहज ही था, प्रयत्नपूर्वक कही से लाया नही गया था। अर्थात् वह आत्मा का स्वाभवरूप स्वत ही खिल उठा था। जब अज्ञान की परते हट जाती है तो ज्ञान 'रात्र्यँधकार' के उपरान्त जगमगाती ऊपा की भाँति स्वत दमक उठता है। जिसमे उसका यह सहज शुभागमन हो चुका है, वह सहज सुख-सागर है। वनारसी ने 'नाटक समयसार' मे उसे "ज्ञान को उजागर सहज सुख-सागर" कहा है। किन्तु यह सहज सुख तभी उत्पन्न हुआ, जवकि वह देव पहले से ही श्रेष्ठ गुण रूपी रत्नो का आगर था। श्रेष्ठ गुण के दो मोड होते है—एक ससार की ओर मुडता है और दूसरा दिव्य लोक की ओर। विना श्रेष्ठ गुणो के सासारिक वैभव उपलब्ध नही होते, यहाँ श्रेष्ठ गुणो का तात्पर्य ऐसे गुणो से है, जिनके सहारे यह जीव धनोपार्जन करता है और अन्य सासारिक व्यवहारो मे प्रतिष्ठित माना जाता है। दूसरा परमसुख से सम्वन्धित है। यहाँ 'श्रेष्ठ गुण' का अर्थ 'आध्यात्मिक गुण' से है। उनके विना वडे-से-वडा भक्त भव-सागर नही तैर सकता और न 'ब्रह्मलोक' पाने मे समर्थ हो पाता है। इस प्रकार श्रेष्ठगुण दो अर्थों से समन्वित हे, अर्थात् श्लेपवाची है। इस श्लेप-जन्य द्वैध को मिटाने के लिए वनारसीदास ने लिखा कि वह 'सगुन-रतनागर' तो हे, किन्तु 'विराग-रस-भरयौ' है। विराग-रस से भरा श्रेष्ठ गुण ससार से विरक्ति दिलाने वाला ही होगा। इसका तात्पर्य निकला कि उसमे चक्रवर्ती का पद और वैभव दिलाने की क्षमता होगी, किन्तु विराग-रस से सलग्न होने के कारण, वैभव-सम्पन्न, वैभवो को त्यागता हुआ वन की राह लेगा। धन और धन के प्रति उदासीनता, ससार और ससार के प्रति वैराग्य, दोनो साथ-साथ चलते हैं। दोनो का यह गठवन्धन जितना पावन है, उतना ही आकर्षक। वनारसी का "सगुण-रतनागर विराग रस भर्यौ है"[२] इसी का निदर्शन है।

इसी सदर्भ मे वीतरागी भगवान् से 'वैभव-याचना' का अर्थ समझा जा सकता है। अपने-अपने आराध्य से भौतिक कामनाओ के पूर्ण होने की प्रार्थना वैष्णव और जैन दोनो ने की। दोनो को सफलता प्राप्त हुई, यह तथ्याशो के

---

१ वही, १।५, प्रथम पक्ति, पृष्ठ २।

२ नाटक समयसार, १।५, द्वितीय पक्ति, पृष्ठ २।

रूप मे उपलब्ध है। फिर भी दोनो मे अन्तर था। एक की वैभव-याचना के मूल मे वीतरागता का स्नेह सन्निहित था, दूसरे की विशुद्ध भौतिकता मे सम्बन्धित थी। एक अपने आराध्य मे सासारिक वैभव मागता, किन्तु उनमे विरक्त होने का भाव, साथ मे स्वभावत चिपका होता, तो दूसरे की वैभव-याचना जीवन-पर्यन्त उपभोग के लिए होती। वीतरागी परम्परा मे जिन पुण्य प्रकृतियो से चक्रवर्ती की विभूति मिलती, उन्ही से उसे त्यागने का भाव भी उपलब्ध होता। सम्राट् भरत, जिन्होने कैलाश के शिखर पर समूचे विश्व का जयघोष किया था, एक दिन वन की राह लेने को मचल उठे। अकस्मात् 'उपयोग' जागृत होता है, और चक्रवर्ती सम्राट् को भी साम्राज्यो की लक्ष्मी प्रात की वेश्या-इव फीकी और अनाकर्षक प्रतीत हो उठती है। उसे वैभव की चकाचौंध अटका नही पाती। वह सबके मध्य नग्न होकर तप साधने चल पडता है। खवास खडे रह जाते है, धन-धान्य पडे-के-पडे ही रहते है और पुत्र-पौत्रादिक अडे ही रहते है, किन्तु वह चला जाता है, रुकता नही। अन्त की अदम्य प्रेरणा उसे रुकने नही देती। ऐसी होती है जैन भक्त की वैभव-याचना। भौतिकता की पृष्ठभूमि मे निलीन आध्यात्मिकता की यह गौरवपूर्ण सुषमा विश्व-साहित्य के किस पृष्ठ पर अकित मिलेगी? इससे जैन भक्ति-परम्परा का एक महत्वपूर्ण तथ्य भी सामने आ जात है कि राग ही विराग है, यदि उसके साथ 'विरक्ति' का भाव सन्निहित है। परिग्रह ही अपरिग्रह ह, यदि उसके पीछे विरक्ति का आरकेस्ट्रा वजता ही रहता है। जीव ही ब्रह्म है, यदि उसका मूल स्वर विरक्ति के साचे मे ढला होता है। जैन भक्ति का यह एक विशिष्ट पहलू है जो स्पष्ट होते हुए भी अभी तक अनभिव्यक्त की भाँति पडा रहा है।

वनारसीदास ने अपने आराध्य के नाम की महिमा सूर-तुलसी की भाँति ही समझी थी। उनको विश्वास था कि जिनेन्द्र के नामोच्चारण मे अमित वल है। जिस भाँति पारस के स्पर्श से कुधातु स्वर्ण वन जाती है, ठीक वैसे ही जिनेन्द्र का नाम लेने से पापीजन भी पावन हो जाते है। विश्व मे सुयश से भरा नाम दोनो का है-एक तो भगवान् का और दूसरे किसी वडे आदमी का। भगवान् के नाम से भव-सिन्धु तैरा जा सकता है, क्योकि वह स्वय अनादि अनन्त है, उनके साथ मरने-जीने की व्याधि सलग्न नही है। किसी वडे आदमी का सुयश विस्तृत अवश्य हुआ है, किन्तु वह अस्थिर है और असत्य। जो मृत्यु और जीवन के फेरो से उवर नही सका, वह क्या सत्य होगा और क्या स्थिर। भक्त को पूरा विश्वास है कि भगवान् के नाम की महिमा अगम और अपार है। एक वह

ही समूचे त्रिभुवन का आधार बनने की सामर्थ्य रखता है।[1] वह नाम किसी सरोवर के कमलो का स्पर्शकर मद सुगन्ध शीतल पवन की भाँति ग्रीष्म की भयकर जलन का निवारण करता है।[2] विश्व के सघर्ष ही ग्रीष्म की तपन है। भगवान् के नाम से यह जीव उनमे विजय प्राप्त कर शाति और शीतलता का अनुभव कर पाता है। नाम-मात्र से सघर्षो की यह जीत कितनी शानदार और शालीन है। तुलसी की विनयपत्रिका और सूरदास का सूरसागर 'नाम-महिमा' के ही निदर्शन हैं। वहाँ शत-शत पद केवल नाम की महत्ता मुखर हो-होकर घोषित करते है। इसका अर्थ यह नही है कि बनारसीदास इन वैष्णव कवियो की नाम-मूला भक्ति से प्रभावित थे। उनके पीछे अपनी ही एक समृद्धतर परम्परा थी। आचार्य समन्तभद्र (दूसरी शती वि० स०) ने लिखा कि तीर्थकर अजितनाथ का नाम लेने से घट मे विराजे 'आतमराम' अर्थात् 'ब्रह्म' के तुरन्त दर्शन हो जाते है।[3] आचार्य 'मेरुतु ग' (वि० स० सातवी शती) का विश्वास है कि भगवान् का नाम एक ऐसा मन्त्र है, जिसमे असीम बल होता है। उसके उच्चारण से 'आपादकण्ठमुरुश्रृ खलवेष्टिताग' अर्थात् पैर से कण्ठ तक श्रृ ख-लाओ से जकडे और 'गाढ बृहन्निगडकोटिनिधृष्टजघा' अर्थात् मोटी-मोटी लोहे की जजीरो से घिस गई हैं जघाये जिनकी, ऐसे मनुष्य शीघ्र ही बधनमुक्त होजाते हैं।[4] आचार्य सिद्धसेन (वि०स० ५ वी शती) ने भी भगवन् के नाम की अचिन्त्य महिमा

---

१ "अनादि अनत भगवन्त को सुजस नाम,
भव-सिन्धु तारण-तरण तहकीक है।
अवतरै मरै भी धरै जे फिर-फिर देह,
तिनको सुजस नाम अथिर अलीक है।"
'नाम निर्णय विधान', तीसरा कवित्त, बनारसीविलास, पृष्ठ १२५।

२ तुम जस महिमा अगम अपार। नाम एक त्रिभुवन आधार।।
अवै पवन पदमसर होय। ग्रीपम तपन निवारै सोय।।
कल्याणमन्दिर स्तोत्र भाषा, ८ वाँ पद्य, बनारसीविलास, पृष्ठ १२५।

३ देखिये स्वयम्भूस्तोत्र, दूसरा श्लोक, वीर-सेवा मन्दिर, दिल्ली.

४ आपादकण्ठमुरुश्रखलवेष्टिताागा, गाढबृहन्निगडकोटिनिघृष्टजघा।
त्वन्नाममन्त्रमनिश मनुजा स्मरत, सद्या स्वय विगतबन्धभया भवन्ति।
भक्तामरस्तोत्र, मानतुंगाचार्य, ४६ वाँ श्लोक।

को स्वीकार किया है।[1] जैन, प्राकृत, सस्कृत और अपभ्रंश के विपुल साहित्य, जैन पुरातत्व और इतिहास मे जिनेन्द्र की नाम-महिमा के शतश उल्लेख अ कित है। इसी महिमा को लेकर अनेक सहस्रनामो की रचना हुई। उनमे भगवज्जिनसेनाचार्य (वि० स० ९वी शती), आचार्य हेमचन्द्र (वि० स० १२-१३ वी शती) और प० आशाधर (१३ वी शती वि० स०) के सहस्रनाम ख्याति प्राप्त है। ऐसी कुछ अन्य कृतिया अभी पाण्डुलिपियो तक ही सीमित है। मैने उनका 'जैन भक्ति काव्य की पृष्ठभूमि' मे विवेचन किया है। इसी परम्परा मे अनुप्राणित होकर बनारसीदास ने हिन्दी मे एक सहस्रनाम लिखा था। वह ललित गुण-सम्पन्न रचना है। बनारसीविलास मे उसका सकलन है।[2] तो इस लम्बी और दूर तक फैली परम्परा का बनारसी पर प्रभाव था। जैसा, कुछ विद्वान, वैष्णव-भक्ति पर बौद्धो की महायानी भक्ति का प्रभाव जताने की चेष्टा करते है, वैसी बात तो मै नहीं करना चाहता, किन्तु जैन और वैष्णव भक्ति-काव्यो का तुलनात्मक अध्ययन अवश्य होना चाहिए, उससे अनेक मौलिक तथ्यो के उद्‌भावन की सम्भावना है।

कवि बनारसीदास ने 'शृ गार' के स्थान पर 'शान्त' को रसो का नायक कहा है।[3] काव्य-शास्त्र के मर्मज्ञ इसे विवाद-ग्रस्त मान सकते है, किन्तु भक्ति के क्षेत्र मे उसकी सत्ता का महत्व असदिग्ध है। जैन और अजैन दोनो ही प्रकार के काव्यो मे 'भक्ति' और 'शान्ति' पर्यायवाची है। किन्तु जहाँ भक्ति की पृष्ठभूमि हिंसात्मक हो, वहाँ शान्ति का पर्यायवाचित्व विचारणीय हो सकता है। मध्यकालीन भक्ति का एक पहलू हिंसा-मूलक था—बलि ही उसका जीवन था। प्रभास-पट्टन के प्रसिद्ध मन्दिर से सलग्न 'शक्ति' के अधिष्ठान की बात प्राचीन ग्रन्थो मे उपलब्ध है। वहाँ भाद्रपद की अमावस की रात को ११९ कुँआरी, सुन्दरी

---

१ आस्तामचिन्त्य महिमा जिनसस्तवस्ते
नामापि पाति भवतो भवतो जयन्ति।
—कल्याण मन्दिर स्तोत्र, ७ वाँ श्लोक, काव्यमाला, सप्तम गुच्छक, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, पृ० ११।

२ देखिए बनारसी विलास, जयपुर, पृ० ३–१६।

३ प्रथम सिंगार वीर दूजौ रस, तीजो रस करुना सुखदायक।
हास्य चतुर्थ रुद्र रस पचम, छट्ठम रस बीभच्छ विभायक।।
सप्तम भय अष्टम रस अद्‌भुत, नवमो सात रसनिकौ नायक।
ए नव रस एई नव नाटक, जो जह मगन सोइ तिहि लायक।।
—नाटक समयसार, हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, बम्बई, १०।१३३, पृ० ३९१।

कन्याओ की बलि ही उत्तम श्रद्धाजलि थी। बज्रयानी तान्त्रिक सम्प्रदाय का भक्त श्मशान मे मुर्दे की पीठ पर आसीन होकर, मदिरा के नशे मे ध्वस्त, कपाल-पात्र मे सद्य जात नर-रुधिर का पान करता हुआ जिन मन्त्रो का उच्चारण करता है, वे भक्ति के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण थे। किन्तु इस सबके पीछे भी परब्रह्म का दर्शन ही मुख्य था, जो चिर शान्ति का प्रतीक है। अर्थात् भक्त इन हिंसात्मक साधनाओ के परिपेक्ष्य मे भी शान्ति चाहता था। उसे अपने प्रयास के ढँग की चिन्ता नही थी, भले ही वह उपहासास्पद रहा हो। उसे शान्ति प्राप्त न हो सकी, क्योकि उसके प्रयत्न गलत थे। अशान्त साधनो से शान्ति की खोज मृग-मरीचिका है। यह वैसा ही है, जैसा रुधिर से धोकर किसी वस्त्र को धवल रूप मे प्राप्त करने की अभिलाषा और कीचड से मलकर किसी वर्तन की निर्मलता मे विश्वास करना। बनारसीदास का जन्म विशुद्ध अहिंसक परम्परा मे हुआ था। वे हिंसा की बात सोच भी नही सकते थे। वैसे मध्यकालीन जैन, सस्कृत-प्राकृत साहित्य मन्त्र-तन्त्र से प्रभावित हुआ। उनकी देवियाँ मन्त्राधिष्ठात्री वनी, शक्ति का अवतार मानी गई। वे भी दुर्जनो के लिए कराला और साधुओ के लिए उदारमना थी।[1] किन्तु उनमे हिंसात्मक प्रवृत्ति नही पनप सकी, कैसे, यह एक लम्बा विषय है। जहाँ तक जैन हिन्दी कवियो का सम्बन्ध है, उन्होने उस देवी की अधिक आराधना की, जो मन्त्र-तन्त्र से नितान्त अस्पर्श्य थी। वह थी देवी सरस्वती। जैन हिन्दी के अधिकाश काव्यो का प्रारम्भ सरस्वती-वन्दना से हुआ। महाकाव्यो और खण्ड काव्यो के मध्य 'सरस्वती' को प्रतिष्ठित स्थान मिला। मुक्तक रूप मे भी उसकी स्तुतियो की रचना की गई। उन्होने प्राचीन जैन पुरातत्व और सस्कृत-प्राकृत के स्तोत्रो की ही भाँति सरस्वती को शुक्लवर्णा, हसवाहना, चर्तुभुजा, वरद कमलान्वितदक्षिणकरा और पुस्तकाक्षमालान्वितवामकरा के गीत गाये। बनारसीदास का 'शारदाष्टक' उसका प्रतीक है।[2] उसमे १० पद्य हैं। आगे की समूची सरस्वती-वन्दनाओ पर उसका प्रभाव है। उससे भूधरदास भी अछूते नही बच सके हैं। यद्यपि आज तक भारत के प्रत्येक जैन मन्दिर मे भूधरदास की 'सरस्वती-वन्दना' का अधिक उच्चारण होता है, किन्तु इसका कारण उसका अधिक प्रचार और प्रकाशन ही कहा जा सकता है। जहाँ तक सगीतात्मक लय का सम्बन्ध है, वह बनारसी मे ही अधिक है। एक उदाहरण देखिये—

"अकोपा अमाना अदम्भा अलोभा
श्रुतज्ञान-रूपी मतिज्ञान शोभा।

---

१ देखिए मेरा ग्रन्थ, 'जैन भक्तिकाव्य की पृष्ठभूमि', पृ० १४१–१८२।

२ बनारसी विलास, जयपुर, पृ० १६५–६७।

महापावनी भावना भव्यमानी,
नमो देवि वागीश्वरी जैनवानी ।।
अशोका मुदेका विवेका विधानी,
जगज्जन्तुमित्रा, विचित्रावसानी ।
समस्तावलोका निरस्तानिदानी,
नमो देवि वागीश्वरी जैनवानी ।।"[1]

वनारसीदास ने आचार्य कुन्दकुन्द और उनकी टीकाओ का तलस्पर्शी अध्ययन किया था । अत उनमे अध्यात्म रस की प्रधानता हो गई थी । 'नाटक-समयसार' उनकी आत्मानुभूति का ही दीपस्तभ है । आत्मा भले ही ज्ञान रूप हो, किन्तु उनकी अनुभूति भाव का विषय है, और उसका भावोन्मेप साहित्य का प्राण है । इसी कारण 'समयसार' दर्शन का ग्रन्थ था और 'नाटक समयसार' साहित्य का उत्तम निदर्शन माना गया है । वनारसी का पाठक यह स्वीकार करेगा ही कि उनमे भाव-तन्तु प्रधान थे और इसी कारण वे एक सफल व्यापारी नही बन सके । उन्होने ज्ञान को भी भाव की 'टार्च' से देखा । उनका ऐसा देखना उमास्वाति के 'सम्यक्-दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग,' के अनुकूल ही था । दर्शन का प्रथम सन्निवेश भाव की प्राथमिकता को बताता है । इसके साथ ही यह भी सत्य है कि भाव ने ज्ञान को देखा निरन्तर । ज्ञान के बिना भाव चैतन्य-हीन होकर बालुका के कण-जैसा निस्पन्द रह जाता । ज्ञान के सतत प्रकाश ने भाव को जागृत रखा । दोनो एक-दूसरे के होकर जिये । इसी कारण बनारसी का काव्य ज्ञान-मूला भाव और भाव-मूला ज्ञान का प्रतीक है । अत उनकी भक्ति कोरी भाव-मूला नही अपितु ज्ञान समन्विता भी थी । उसे लोग भले ही ज्ञान-मूला भक्ति कहे । भाव-मार्गी उसे भक्ति मूलक ज्ञान भी कह सकते हैं । तात्पर्य है कि उनकी भक्ति मे आत्म-ज्ञान का पुट मिला रहा । इसी कारण वह पुष्ट हुई, यह बात बनारसीदास के काव्य से स्पष्ट ही है । यदि भक्ति शाति की पर्यायवाची है तो आत्मज्ञान उसका सहचर है । दोनो का अविनाभावी सबध है । इस सम्बन्ध से बनारसी की भक्ति मे जैसा आकर्षण उत्पन्न हुआ, मध्यकालीन अन्य किसी हिन्दी कवि मे नही । और इसी कारण उन्हे हिन्दी के भक्ति-साहित्य का मान स्तभ कहना चाहिए ।

---

[1] शारदाष्टक, ६ठा और ९वाँ पद्य, बनारसीविलास, पृ० १६६-६७।

मध्यकालीन जैन हिन्दी कवियों की शिक्षा–दीक्षा

कवि सधारु (वि० स० १४११) ने अपने प्रद्युम्नचरित्र मे लिखा है, "मैंने एरछ नगर मे बस कर यह चरित्र सुना और मैं इस पुराण की रचना मे समर्थ हो सका। जो कोई मनुष्य इसे पढेगा वह स्वर्ग मे देव होगा और वहाँ से चयकर मुक्ति रूपी स्त्री वरेगा। जो सुनेगे उनके भी अशुभ कर्म दूर हो जायेंगे।" इससे स्पष्ट है कि उस समय जैन शिक्षा के प्रमुख केन्द्र जैन मन्दिरो मे होने वाले शास्त्र-प्रवचन थे। इन प्रवचनो मे ऐसे श्रोता भी आते थे जो न पढना जानते थे और न लिखना, केवल श्रवण-मात्र से ही वे जैन सिद्धात मे नैपुण्य प्राप्त कर लेते थे। जो श्रोता पढे-लिखे होते थे, वे पण्डित ही बनते थे। पद्य-मय पुराणादि के सुनने से उनमे कवित्व शक्ति का भी उन्मेष होता था। सधारु ने भी ऐसे ही किसी शास्त्र–प्रवचन मे प्रद्युम्न चरित्र सुना था।

श्वेताम्बर आचार्य होनहार बालको को कम उम्र मे ही दीक्षा देकर साधु बना लेते थे। साधु बालक की शिक्षा सघ मे ही आरम्भ होती थी। वहाँ वह विद्वान् भी बनता था और सयम का आचरण भी करता था। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि मेरुनन्दन उपाध्याय ने कम उम्र मे ही, अपने गुरु जिनोदय सूरि से दीक्षा ली थी। जिनोदय सूरि भी केवल ८ वर्ष की उम्र मे, जबकि वे समरा कहलाते थे, श्री जिनकुशल सूरि के पास दीक्षित हुए थे। सोमसुन्दर सूरि ने ७ वर्ष की ही वय मे जयानन्द सूरि के पास दीक्षा धारण की थी। अपने-अपने गुरुओ के सघ मे इन नव दीक्षित बाल साधुओ का अध्ययन चला। यह परम्परा ब्राह्मण आश्रमो की भाँति थी, किन्तु अन्तर इतना ही था कि आश्रम का विद्यार्थी २५ वर्ष के उपरान्त गृहस्थ जीवन मे प्रवेश करता था, जबकि जैन दीक्षित बालक के लिए यह अवसर सदा-सर्वदा के लिए बन्द हो चुका रहता था।

सूरियो मे विद्वत्ता की परम्परा चली आ रही थी। वे स्वय तो प्राकृत-सस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् होते ही थे, अपने शिष्यो को भी वैसा ही बनाने का प्रयास करते थे। सोमसुन्दर का जन्म वि० स० १४३० मे हुआ था। उन्होने १४३७ मे साधु पद धारण किया और वि० स० १४५० मे वे एक ख्याति प्राप्त विद्वान् माने जाने लगे थे। वि० स० १४५७ मे आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होते ही उनका यश चतुर्दिक में व्याप्त हो उठा। अर्थात् उन्हे प्रकाण्ड विद्वान् बनने मे २० वर्ष लगे। नन्दिरत्न गणि आदि अनेक विद्वानो ने उनका श्रद्धापूर्वक स्मरण किया है। वे जो कुछ बने अपने गुरु और सघ मे रहकर ही।

वह युग वाद–विवादो का था। राज दरबारो मे उन्ही का सन्मान होता था जो विजयी होते थे। सूरियो के शिष्यो की प्रतिष्ठा समूचे भारतवर्ष मे थी। कहा जाता है कि उपाध्याय जयसागर के शिष्य सुर–गुरु को भी पराजित करने मे समर्थ थे। यह उनकी अखण्ड साधना के अनुकूल ही था। ये साधु-सघ मे छोटे-छोटे बालको को अनवरत परिश्रम के साथ सयम और विद्या के क्षेत्र मे अनुपम बना देते थे। आज समूचे विश्व की कोई शिक्षा-सस्था ऐसा नही कर सकती। आज यदि कोई विद्वान् बन भी जाता है, तो या तो चरित्र-हीन होता है या अहकारी। आधुनिक चरित्र की परिभाषा केवल सभा-परिषदो की शिष्टता तक ही सीमित रह गई है। भारतीय शिक्षा सस्थाओ मे अनुशासनहीनता चरित्र की कृत्रिम परिभाषा स्वीकार कर लेने से हुई है। मध्यकाल के जैन साधु-सघो मे अनुशासन की कोई समस्या नही थी। यद्यपि आश्रमो के रहने वाले शिष्य कभी-कभी विद्रोही भी हो जाते थे, जैसा कि 'भूलापारीय जातक' मे लिखा है कि एक आश्रम के शिष्यो ने अध्यापको की समानता का दावा करते हुए उनकी विनय करना त्याग दिया था। किन्तु जैन सघो के शिष्य विनय की मूर्ति ही होते थे। वहाँ एक ऐसा अनुशासन का वातावरण रहता था, जिसमे कोई शिष्य विरोधी विचार ला ही नही पाता था।

कलियुग का प्रभाव विद्या-केन्द्रो पर पडा था। गुरु के प्रति विद्यार्थी रोष दिखाते थे और अपने हठ पर ही चलते थे। हीरानन्द सूरि ने कलिकालरास का निर्माण वि० स० १४८६ मे किया था। उसमे तत्कालीन विद्यार्थियो और विद्या-केन्द्रो की हीनदशा का वर्णन है। किन्तु उस समय भी जैन सघो के बाल साधु अत्यधिक विनय और श्रद्धा के साथ विद्या ग्रहण मे सलग्न थे। हीरानन्द सूरि जैसे चरित्र निष्ठ विद्वान् जिस सघ मे बने थे, उसकी परम्परा पर कलियुग का प्रभाव नही था। हीरानन्द एक उत्कृष्ट कोटि के कवि भी थे। उन्होने वस्तुपाल

तेजपालरास, दशार्णभद्ररास, जम्मू स्वामी विवाहला और स्थूलभद्रबारहमासा का निर्माण किया था ।

भट्टारक और उनके सम्प्रदाय भी शिक्षा के जीवन्त केन्द्र थे । वे अपने शिष्यो को सूरियो की भाँति ही व्युत्पन्न बनाते थे । वे जैन दर्शन साहित्य और सिद्धात के साथ-साथ अपने शिष्यो को मन्त्र, ज्योतिष और वैद्यक विद्या भी प्रदान करते थे । भट्टारक सकलकीर्ति सस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे । उन्होने सस्कृत मे १७ ग्रन्थ लिखे है । वे हिन्दी के सामर्थ्यवान् कवि थे । उन्होने आराधना प्रतिबोधसार, णमोकारफलगीत,नेमीश्वरगीत,और मुक्तावलीगीत आदि अनेक मुक्तक कृतियो का निर्माण किया है । वे मन्त्र विद्या मे पारगत थे । सकल-कीर्ति के छोटे भाई ब्रह्मजिनदास (वि० स० १५२०) भी बहुत बडे विद्वान् थे । उन्होने हिन्दी मे अनेक प्रबन्ध काव्यो का भी निर्माण किया है । उन्हे समूची शिक्षा-दीक्षा भट्टारक सकलकीर्त्ति से ही मिली । ब्रह्मजिनदास ने अपनी प्रत्येक रचना मे अपने बडे भाई को 'गुरु' भी कहा है । यह सच है कि भट्टारको की शिष्य परम्परा अक्षुण्ण गति से चलती रही । उनका 'सरस्वती गच्छ' सरस्वती प्रदान करने मे सदैव प्रसिद्ध रहा । उनके विद्यार्थी आध्यात्मिक चिन्तन और कवित्व शक्ति के केन्द्रीभूत प्रमाणित होते रहे है ।

उस समय शिक्षा, दीक्षा और विद्या देने वाले गुरु पृथक्-पृथक् होते थे । दीक्षा वही दे सकता था जिसने विद्या और चरित्र को समान रूप से अपने जीवन मे उतार लिया हो । उसे आचार्य कहते थे । सूरि और भट्टारक दोनो ही दीक्षा देने का कार्य करते थे । विद्या-गुरु को 'उपाध्याय' कहा जाता था । लघुराज को दीक्षा देने वाले थे श्री लक्ष्मीसागर सूरि (वि० स० १५२६) और विद्या-गुरु थे श्री समयरत्न । दीक्षा के समय दीक्षागुरु नवदीक्षित को नया नाम देता था । लघुराज दीक्षा के बाद लावण्य समय कहलाये । दीक्षा के समय शिष्य की पात्रता की जाच की जाती थी । इस जाच के साधनो मे ज्योतिष का प्रमुख स्थान था । मुनि समयरत्न ने लघुराज के जन्माक्षरा पर विचार करके ही कहा था कि तुम्हारा पुत्र तप का स्वामी होगा अथवा वह कोई तीर्थ करेगा ।

सूरियो और भट्टारको मे कवित्व शक्ति का होना भी गौरव का विषय माना जाता था । उनके सघो का वातावरण ऐसा होता था कि दीक्षित बालक यथा समय स्वत कविता कर उठता था । थोडा-बहुत प्रयत्न भी अवश्य ही किया जाता होगा । लावण्यसमय ने एक स्थान पर लिखा है, "सोलहवे वर्ष मे मुझ पर

सरस्वती की कृपा हुई और कवित्व शक्ति का जन्म हुआ ।" सवेगसुन्दर उपाध्याय (वि० स० १५४८) भी ऐसे ही एक कवि थे। उनमे 'कवित्व शक्ति' का जन्म गुरु के सान्निध्य से हुआ था । इनकी कवित्व शक्ति को स्फुरण देने के लिए प्रयत्न भले ही हुआ हो, किन्तु वे 'कृच्छ्र प्रयत्न-साध्य' नही थे, ऐसा उनकी कविता से प्रमाणित ही है ।

मन्त्र विद्या का शिक्षण सूरिसघ और भट्टारक सम्प्रदाय की विशेपता थी । यह विद्या १६ वर्प से कम के विद्यार्थी को नही दी जाती थी । ईश्वर सूरि (वि० स० १५६१) ने नाडलाई के मन्दिर की आदिनाथ की प्रतिमा का, मन्त्र के वल पर ही उद्धार किया था । यह वह प्रतिमा थी, जिसे यशोभद्र सूरि (वि० स० ६६४ मे) मन्त्र शक्ति के वल पर लाये थे । भट्टारक ज्ञानभूपण को जो असीम ख्याति प्राप्त हुई थी, उसका कारण विद्वत्ता और कवित्व शक्ति के साथ मन्त्र शक्ति भी थी । उन्हे ये तीनो शक्तियाँ अपने गुरु भुवनकीर्ति से प्राप्त हुई थी । इनके आधार पर ही राजाधिराज देवराज ने उनके चरणो की आराधना की थी । भट्टारक शुभचन्द्र भी इसी परम्परा मे हुए हैं । उन्हे तो 'त्रिविध विद्याधर' और 'पट्भापा कवि चक्रवर्त्ती' कहा जाता है । वे भी मन्त्र-विशारद थे । दोनो उपर्युक्त भट्टारको की गणना हिन्दी के उत्तम कवियो मे की जाती है । इन विद्वानो के निर्माण का श्रेय गुरु को तो है ही, किन्तु सघो के उस वातावरण को भी है, जिसके निर्माण मे परम्पराएँ खप गई होगी । विद्यार्थी को प्रेरणा मिलती थी और वह अधिकाधिक जिज्ञासा के साथ आगे वढता ही जाता था ।

विद्वानो की विद्या-प्राप्ति मे राजाओ के हस्तलिखित सग्रहालयो का महत्वपूर्ण योगदान रहा है । उन्होने इन सग्रहालयो मे वैठकर विद्याध्ययन किया और नवीन कृतियो का निर्माण भी किया । कहा जाता है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने अपना प्रसिद्ध शोध ग्रन्थ 'समयसार' एक राजपुस्तकालय मे ही वैठकर पूरा किया था । हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि विनयचन्द्र मुनि (वि० स० १५७६) ने अपना ख्याति प्राप्त काव्य 'चूनडी' गिरिपुर के नरेश अजयराज के राजविहार मे वैठकर लिखा था ।

हस्तलिखित ग्रन्थो का सग्रह राजपुस्तकालयो के अतिरिक्त प्रत्येक जैन मन्दिर के सरस्वती भण्डारो मे भी रहता था । आज भी जैन मन्दिर सरस्वती भण्डारो के बिना अधूरे ही माने जाते है । उस समय वडे-वडे नगरो के प्रमुख मन्दिरो के सरस्वती-भण्डार ऐसे हस्तलिखित ग्रन्थो से भरे रहते थे । उनसे

जनसाधारण तो लाभान्वित होता ही था, विद्वान् और मुनियो की खोजें भी उन्ही पर आधारित थी। कवि ठकुरसी ने चम्पावती के पार्श्व जिन मन्दिर मे बैठकर ही अनेक काव्यो का निर्माण किया था। चम्पावती धन-धान्य से पूर्ण नगरी थी। उसके वैभव का वर्णन 'अन्तगडदसाओ' मे किया गया है। वहाँ का जैन साध्वी विद्यालय प्रसिद्ध था। इसी विद्यालय मे महाराज श्रेणिक की पत्नी काली और सुकाली ने जिन-दीक्षा लेकर अध्ययन किया था। इसकी आचार्या 'अज्जा-चन्दना' थी। ब्रह्म अजित (१६ वी शती) ने भडौच के जैन मन्दिर के सरस्वती भण्डार मे रहकर ही सस्कृत मे 'हनुमच्चरित्र' की रचना की थी। इसमे २००० श्लोक है। भडौच भी व्यापारिक केन्द्र होने के कारण एक समृद्धिशाली नगर था। इसी भाँति कुशललाभ (वि० स० १६१६) ने जैसलमेर के रावल हरराज के प्रसिद्ध जैन मन्दिर मे बैठकर 'पूज्यवाहणगीतम्' आदि भक्ति परक मुक्तक काव्यो का निर्माण किया था। जैसलमेर भारत का प्रमुख शिक्षा केन्द्र था।

कवि बनारसीदास के 'अर्धकथानक' से स्पष्ट है कि उस समय जौनपुर जैसे समृद्धिशाली नगर मे भी कोई विशाल जैन विद्यालय नही था। उनके पिता खड्गसेन ने एक चटशाला मे शिक्षा पाई थी। बनारसीदास भी उसी मे पढे थे। उसके मुख्य विषय अक्षर-ज्ञान और गणित थे। और अधिक शिक्षा लेने के लिए बनारसीदास को प० देवदत्त के पास भेजा गया। इन पडितो के घर हायर सेकेण्डरी स्कूल का काम करते थे। प० देवदत्त के गृह-स्कूल के मुख्य विषय-कोष, ज्योतिष, साहित्य और धर्म के साथ-साथ कोकशास्त्र भी था। इससे प्रतीत होता है कि अनिवार्य विषयो मे कोकशास्त्र की गणना थी। इसके अध्ययन से बालक मानव की मूल और प्रमुख मनोवृत्ति को सही रूप मे समझ पाता था। बनारसीदास आसिखबाज बने थे, वह कोकशास्त्र का नही, अपितु उनकी सगति का प्रभाव था। किसी भी विषय की सही जानकारी, जीवन को सही मोड देती है, गलत नही।

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि प० देवदत्त की शिक्षा भी कॉलिज-स्तर की नही थी। बनारसीदास को पडित बनाने का श्रेय उस 'सैली' को है, जिसके वे स्थायी सदस्य थे। 'सैली' का अर्थ है 'गोष्ठी'। आगरे मे एक ऐसी गोष्ठी थी, जिसमे निरन्तर आध्यात्मिक चर्चा हुआ करती थी। इस चर्चा को सुष्ठु रूप देने के लए, गोष्ठी के सदस्य अपने व्यापारिक कृत्यो को छोडकर भी अध्यात्म सबधी ग्रन्थो का अध्ययन करते थे। बनारसीदास और उनके साथियो ने पहले समयसार

की राजमल्लीय टीका पढी और उससे वे कुपथगामी हो गये। जब पाण्डे रूपचन्द्र जी वहाँ आये तो उनसे गोम्मटसार पढने के उपरान्त उनका ज्ञान निर्मल हुआ। बनारसीदास ने इस गोष्ठी मे पढा, सुना और मनन किया। परिणाम-स्वरूप वे पडित बन गये। कवित्व शक्ति तो उन्हे जन्म से ही मिली थी। इस पाण्डित्य के समन्वय से उनकी रचनाएँ 'भावसकुल ज्ञान' की प्रतीक है।

यह 'सैली', आगे चलकर 'वाणारसिया सम्प्रदाय' के नाम से अभिख्यात हुई। इस सम्प्रदाय की विशेषता थी आध्यात्मिक कविता। बनारसीदास के उपरान्त कुँअरपाल प्रमुख व्यक्ति थे, जिन्होने इस आध्यात्मिक परम्परा को विकसित किया। महामहोपाध्याय मेघविजय जी ने अपने 'युक्ति प्रबोध' मे, उनकी चतुर्दिक मे व्याप्त ख्याति को स्वीकार किया है। कुँअरपाल की प्रेरणा से ही हेमराज ने 'सितपट चौरासी बोल' की रचना की थी। जगजीवन भी इस 'सैली' के गण्यमान्य व्यक्ति थे। उनके प्रोत्साहन से हेमराज ने पचास्तिकाय की भाषा टीका लिखी थी। आगे चलकर वि० स० १७८१ में भूधरदास भी इसी सम्प्रदाय के सदस्य बने। उन्होने आध्यात्मिक चर्चा मे रस लिया और प्रसाद गुण युक्त कविता भी रची। मनराम को तो बनारसीदास का सान्निध्य प्राप्त हुआ था। 'मनराम विलास' मे भाव-गर्भित आध्यात्मिकता ही अभिव्यञ्जित हुई है।

कवि द्यानतराय (वि० स० १७३३) के समय मे आगरे मे प० मानसिंह और बिहारीदास की 'सैली' चलती थी। मानसिंह की 'सैली' से प्रभावित होकर द्यानतराय की जैन धर्म मे प्रगाढ श्रद्धा हुई थी। उस समय दिल्ली मे प० सुखानन्द की सैली मान्य थी। दिल्ली आने पर कवि द्यानतराय इस सैली के सदस्य बन गये थे। यद्यपि द्यानतराय की पूजाओ और आरतियो मे भक्ति का स्वर ही प्रबल है, किन्तु उनके पद आध्यात्मिकता के प्रतीक हैं। आध्यात्मिकता से युक्त होते हुए भी ऐसे सरस पदो की रचना हिन्दी का अन्य कोई कवि नही कर सका। हिन्दी के इस महत्वपूर्ण योगदान का श्रेय प० मानसिंह और प० सुखानन्द की सैलियो को दिया जाना चाहिए। जयपुर, सागानेर और बीकानेर मे भी ऐसी ही सैलियाँ थी। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि लक्ष्मीचन्द्र सागानेर की 'सैली' मे व्युत्पन्न बने थे।

सैलियो के अतिरिक्त कही-कही उच्च जैन शिक्षा देने के लिए विद्यालय भी थे। प्राचीनकाल मे तो ऐसे विद्यालय चम्पा, राजगृह, वैशाली, हस्तिनापुर, बनारस और श्रावस्ती आदि अनेक नगरो मे फैले हुए थे, किन्तु मध्यकाल तक आते-आते उनका नितान्त अभाव हो गया था। बनारस-जैसे एक दो स्थानो पर

ही अवशिष्ट रह गए थे। पाडे रूपचन्द्र को जैन दर्शन का अध्ययन करने के लिए बनारस भेजा गया था। वहाँ रहकर उन्होने जैन व्याकरण, साहित्य और दर्शन मे विचक्षणता प्राप्त की थी। बनारसीदास की शुद्ध आध्यात्मिक चेतना पाडे रूपचन्द की ही देन है। श्वेताम्बर विद्वान् यशोविजय जी उपाध्याय, जिन्होने हिन्दी मे 'जस विलास' का निर्माण किया था, एक गृहस्थ से पुरस्कार-स्वरूप धन पाकर बनारस गये और वहाँ तीन वर्ष तक विविध दार्शनिक ग्रथो का अध्ययन करते रहे। विनयविजय जी को भी गम्भीर विद्वत्ता बनारस मे अध्ययन करने से ही प्राप्त हुई थी। विनय विजय ने 'विनय विलास' की हिन्दी मे रचना की थी। वह एक प्रसिद्ध कृति है।

मध्यकालीन जैन हिन्दी के कवियो को उर्दू और फारसी का भी अच्छा ज्ञान था। विशेषकर उन कवियो को जो दिल्ली और आगरा की ओर के रहने वाले थे। 'भैय्या' भगवतीदास के 'ब्रह्मविलास' मे अनेक ऐसी कविताएँ है, जिनमे उर्दू-फारसी के शब्दो की बहुलता है। कवि बनारसीदास ने जौनपुर के नवाब के बडे बेटे किलिच को सस्कृत उर्दू-फारसी के माध्यम से ही पढाई थी। द्यानतराय के पदो मे उर्दू के शब्द बिखरे हुए है। विनोदीलालजी का 'नेमजी का रेखता' फारसी मिश्रित उर्दू मे लिखा गया है।

इन कवियो को उर्दू-फारसी का ज्ञान दो प्रकार से मिला था—एक तो मकतबो और मदरसो से, दूसरे उस्तादो और मौलवियो से, जो बहुत कम रुपयो पर घर पढाने चले जाते थे। इतिहास की किताबो मे भले ही औरगजेब को सकीर्ण विचारो का बताया गया हो, किन्तु यह सच है कि उसने मदरसो और मकतबो का जाल-सा बिछा दिया था। उसके द्वारा शिक्षा प्रणाली मे भी पर्याप्त सुधार किया गया। इसके लिए जैन कवियो ने औरगजेब की प्रशसा की है। प्रसिद्ध कवि रामचन्द्र और जगतराम ने उसके शासन को सख-चैन से भरा तथा न्यायपूर्ण बतलाया है।

उस समय मकतब तो नितात राज्य की ओर से ही सचालित होते थे, किन्तु मदरसो मे अधिकाश ऐसे थे, जो धनवतो के सहयोग पर निर्भर थे। जैन श्रीमन्तो ने इन मदरसो को सब-से-अधिक दान दिया था। अकबर ने तो मदरसो के अतिरिक्त हिन्दू विद्यार्थियो के लिए अनेक विद्यालयो की भी स्थापना की थी। इनमे हिन्दू, जैन और बौद्ध साहित्य और दर्शन का अध्ययन होता था। अकबर ने आगरा मे एक विशाल पुस्तकालय की भी स्थापना की थी। उसमे जैन धर्म के ग्रन्थो का अच्छा सचय था। सम्राट अकबर ने वि० स० १६३८ मे श्री हीर

विजइ सूरि को इस पुस्तकालय के जैन धर्म सम्बन्धी ग्रन्थ दिखाये थे। श्री हीर विजइ सूरि की विद्वत्ता से प्रभावित होकर सम्राट ने उन्हे 'गुरु' की उपाधि से विभूषित किया था।

उपर्युक्त विवेचन से प्रमाणित है कि जैन हिन्दी कवियो की शिक्षा पाठशालाओ, मकतबो, मदरसो, सैलियो, भट्टारक सम्प्रदायो, मुनि सघो और व्यक्तिगत गुरुओ के सान्निध्य मे हुई थी। अधिकाश जैन कवि विद्वान् थे और सहृदय भी। उन्हे शिक्षा प्राप्त करने का कुछ ऐसा वातावरण मिला जिससे एक ओर तो वे कर्कश तर्क और दार्शनिक ग्रन्थो का अध्ययन कर सके और दूसरी ओर कविता की सरस प्रस्विनी प्रवाहित करने मे भी समर्थ हो सके। आध्यात्मिक अनुभूतियो का जैसा भावोन्मेष जैन कवियो के काव्य मे दृष्टिगोचर होता है, अन्यत्र नही। आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार नाम के जटिल ग्रन्थ को साहित्यक रूप देना बनारसीदास की कवि सामर्थ्य का द्योतक है। पाण्डे रूपचन्द्र गोम्मटसार जैसे शुष्क ग्रथ के विशेषज्ञ थे। उन्होने परमार्थी दोहाशतक, गीत परमार्थी, मगलगीत, नेमिनाथ रासा, खटोलनागीत आदि रस-विभोर बना देने वाले मुक्तक काव्यो का भी निर्माण किया। यशोविजय और विनय विजय ने प्राकृत और सस्कृत मे शताधिक सैद्धान्तिक ग्रन्थो की रचना की। वे दोनो गुजराती और हिन्दी के प्रतिष्ठित कवि भी माने जाते हैं। सरस्वती गच्छ बलात्कारगण की परम्परा मे होने वाले भट्टारक सकलकीर्ति, ज्ञानभूषण और शुभचन्द्र आदि की विद्वत्ता और आध्यात्मिक कविता दोनो ही मे समान गति थी।

परम्पराओ ने वातावरण बनाया था और वातावरण विद्वान् और कवि दोनो को एक साथ जन्म देने मे समर्थ हो सका।

मध्यकालीन जैन हिन्दी कवियों की प्रेम साधना

भक्तिरस का स्थायी—भाव भगवद्विषयक अनुराग है। इसी को शाण्डिल्य ने 'परानुरक्ति 'कहा है। परानुरक्ति गम्भीर अनुराग को कहते हैं। गम्भीर अनुराग ही प्रेम कहलाता है। चैतन्य महाप्रभु ने रति अथवा अनुराग के गाढे हो जाने को ही प्रेम कहा है।[2] 'भक्ति रसामृत सिन्धु' मे लिखा है, "सम्यङ मसृणित स्वान्तो ममत्वातिशयोक्ति भाव स एव सान्द्रात्मा बुधै प्रेम निगद्यते।[3]"

प्रेम दो प्रकार का होता है—लौकिक और अलौकिक। भगवद्विषयक अनुराग अलौकिक प्रेम के अन्तर्गत आता है। यद्यपि भगवान् का औतार मान कर उसके प्रति लौकिक प्रेम का भी आरोपण किया जाता है, किन्तु उसके पीछे अलौकिकत्व सदैव छिपा रहता है। इस प्रेम मे समूचा आत्मसमर्पण होता है और प्रेम के प्रत्यागमन की भावना नही रहती। अलौकिक प्रेम जन्य तल्लीनता ऐसी विलक्षण होती है कि द्वैध भाव ही मृत हो जाता है। फिर प्रेम मे प्रतीकार का भाव कहाँ रह सकता है।

नारियाँ प्रेम की प्रतीक होती हैं। उनका हृदय एक ऐसा कोमल और सरस थाला है, जिसमे प्रेम भाव को लहलहाने मे देर नही लगती। इसी कारण भक्त भी कांताभाव से भगवान् की आराधना करने मे अपना अहोभाग्य समझता

---

१ शाण्डिल्य भक्ति सूत्र, १।२, पृ० १

२ चैतन्यचरितामृत, कल्याण भक्ति अक, वर्ष ३२, अक १, पृ० ३३३

३ श्री रूपगोस्वामी, हरिभक्तिरसामृतसिन्धु, गोस्वामी दामोदर-सम्पादित, अच्युत ग्रन्थ-माला कार्यालय, काशी, वि० स० १९८८, प्रथम सस्करण, १।४।१

है। भक्त 'तिया' बनता है और भगवान 'पिय' यह दाम्पत्य भाव का प्रेम जैन कवियो की रचनाओ मे भी होता है। बनारसीदास ने अपने 'अध्यात्मगीत' में आत्मा को नायक और 'सुमति' को उसकी पत्नी बनाया है। पत्नी पति के वियोग मे इस भांति तडप रही है, जैसे जल के विना मछली। उसके हृदय मे पति से मिलने का चाव निरन्तर बढ रहा है। वह अपनी समता नाम की सखी से कहती है कि पति के दर्शन पाकर मैं उसमे इस तरह मग्न हो जाऊँगी, जैसे बूंद दरिया मे समा जाती है। मैं अपनपा खोकर पिय सूं मिलूंगी, जैसे ओला गलकर पानी हो जाता है।[1] अन्त मे पति तो उसे अपने घर मे ही मिल गया। और वह उससे मिलकर इस प्रकार एकमेक हो गई कि द्विविधा तो रही ही नही। उसके एकत्व को कवि ने अनेक सुन्दर-सुन्दर दृष्टान्तो से पुष्ट किया है। वह करतूति है और पिय कर्ता, वह सुख-सीव है और पिय सुख-सागर, वह शिवनीव है और पिय शिवमन्दिर, वह सरस्वती है और पिय ब्रह्मा, वह कमला है और पिय माधव, वह भवानी है और पति शकर, वह जिनवाणी है और पति जिनेन्द्र।[2]

---

1 मैं विरहिन पिय के आधीन,
त्यों तलफों ज्यों जल विन मीन।
होहुँ मगन मैं दरशन पाय,
ज्यो दरिया मे बूंद समाय।
पिय सो मिलों अपनपो खोय,
ओला गल पाणी ज्यों होय।

अध्यात्मगीत, बनारसी विलास, पृ० १५९-६०।

2 पिय मोरे घट मैं पिय माहि।
जल तरग ज्यों दुविधा नाहि।
पिय मो करता मैं करतूति।
पिय ज्ञानी मैं ज्ञान विभूति।
पिय सुखसागर मैं सुख सीव,
पिय शिवमन्दिर मैं शिवनीव।
पिय ब्रह्मा मैं सरस्वति नाम,
पिय माधव मो कमला नाम।
पिय शकर मैं देवि भवानि,
पिय जिनवर मैं केवलवानि।

अध्यात्मगीत, बनारसी विलास, पृ० १६१।

कवि ने सुमति रानी को 'राधिका' माना है। उसका सौंदर्य और चातुर्य सब कुछ राधा के ही समान है। वह रूप-सी रसीली है और भ्रम रूपी-ताले को खोलने के लिए कीली के समान है। ज्ञान भानु को जन्म देने के लिए प्राची है और आत्म स्थल मे रहने वाली सच्ची विभूति है। अपने धाम की खबरदार और राम की रमनहार है। ऐसी सन्तो की मान्य, रस के पथ और ग्रन्थो मे प्रतिष्ठित और शोभा की प्रतीक राधिका सुमति रानी है।[1]

सुमति अपने पति 'चेतन' से प्रेम करती है। उसे अपने पति के अनन्त ज्ञान, बल और वीर्य वाले पहलू पर एक निष्ठा है। किन्तु वह कर्मों की कुसगत मे पडकर भटक गया है, अत बडे ही मिठास भरे प्रेम से दुलारते हुए सुमति कहती है, "हे लाल! तुम किसके साथ और कहाँ लगे फिरते हो। आज तुम ज्ञान के महल मे क्यो नही आते। तुम अपने हृदय तल मे ज्ञान-दृष्टि खोलकर देखो, दया, क्षमा, समता और शाँति-जैसी सुन्दर रमणियाँ तुम्हारी सेवा मे खडी हुई हैं। एक-से-एक अनुपम रूप वाली हैं। ऐसे मनोरम वातावरण को भूलकर और कही न जाइये। यह मेरी सहज प्रार्थना है।[2]

बहुत दिन बाहर भटकने के बाद चेतन राजा आज घर आ रहा है। सुमति के आनन्द का कोई ठिकाना नही है। वर्षों की प्रतीक्षा के बाद पिय के

---

१ रूप की रसीली भ्रम कुलप की कीली, शील सुधा के समुद्र झील सीलि सुखदाई है।
प्राची ज्ञान भान की अजाची है निदान की, सुराची निरवाची ठौर साची ठकुराई है।
धाम की खवरदार राम की रमनहार, राधा रसपथनि मे ग्रन्थनि मे गाई है।
सन्तन की मानी निरवानी रूप की निसानी, यातैं सुवुद्धिरानी राधिका कहाई है।।
नाटक समयसार, प्राचीन हिन्दी जैन कवि, दमोह, पृ० ७६।

२ कहा-कहा कौन सग लागे ही फिरत लाल,
आवौ क्यो न आज तुम ज्ञान के महल मे।
नैंकहू विलोकि देखौ अन्तर सुदृष्टि सेती।
कैसी-कैसी नीकी नारि ठाढी हैं टहल मे।
एक-तें-एक वनी सुन्दर सुरूप घनी,
उपमा न जाय गनी वाम की चहल मे।
ऐसी विधि पाय कहूँ भूलि और काज कीजे,
एतौ कह्यो मान लीजैं वीनती सहल मे।
व्रह्मविलास, भैया भगवतीदास, वम्वई, द्वितीया वृत्ति, सन् १६२६ ई०, शत अष्टोत्तरी, पद्य २७ वाँ, पृ० १४।

आगमन की बात सुनकर भला कौन प्रसन्न न होती होगी । सुमति आल्हादित होकर अपनी सखी से कहती है, "हे सखी देखो आज चेतन घर आ रहा है । वह अनादि काल तक दूसरो के वश मे होकर घूमता फिरा, अब उसने हमारी सुध ली है । अब तो वह भगवान जिन की आज्ञा को मानकर परमानन्द के गुण गाता है । उसके जन्म-जन्म के पाप भी पलायन कर गये है । अब तो उसने ऐसी युक्ति रच ली है, जिससे उसे ससार मे फिर नही आना पडेगा । अब वह अपने मन भाये परम अखडित सुख का विलास करेगा ।[1]

पति को देखते ही पत्नी के अन्दर से परायेपन का भाव दूर हो जाता है । द्वैध हट जाता है और अद्वैध उत्पन्न हो जाता है । ऐसा ही एक भाव वनारसीदास ने उपस्थित किया है । सुमति चेतन से कहती है, "हे प्यारे चेतन ! तेरी ओर देखते ही परायेपन की गगरी फूट गई । दुविधा का अचल हट गया और समूची लज्जा पलायन कर गई । कुछ समय पूर्व तुम्हारी याद आते ही मैं तुम्हे खोजने के लिए अकेली ही राज पथ को छोडकर भयावह कान्तार मे घुस पडी थी । वहाँ काया नगरी के भीतर तुम अनन्त वल और ज्योति वाले होते हुए भी कर्मों के आवरण मे लिपटे पडे थे । अब तो तुम्हे मोह को नीद छोडकर सावधान हो जाना चाहिए ।[2]

---

१ देखो मेरी सखीये आज चेतन घर आवे ।
काल अनादि फिर्‌यो परवश ही,
अब निज सुधहि चितावैं, देखो ॥
जनम-जनम के पाप किये जे, छिन माहि वहावै ।
श्री जिन आज्ञा सिर पर धरतो, परमानन्द गुण गावैं ॥
देत जलाजुलि जगत फिरन को, ऐसी जुगति वनावैं ।
विलसैं सुख निज परम अखण्डित, भैया सव मन भावैं ॥
देखिये वही, परमार्थ पद पक्ति, १४ वाँ पद, पृ० ११४ ।

२ वालम तुहु तन चितवन गागरि फूटि ।
अचरा गौ फहराय सरम गै छूटि, वालम० ॥
पिउ सुधि पावत वन मैं पेसिउ पेलि ।
छाडत राज डगरिया भयउ अकेलि, वालम० ॥
काय नगरिया भीतर चेतन भूप,
करम लेप लिपटा वल ज्योति स्वरूप, बालम० ॥
चेतन बूझि विचार धरहु सतोष ।
राग-दोप दुइ वन्धन छूटत मोष, बालम० ॥
वनारसी विलास, अध्यात्मपद पक्ति, पृ० २२८-२६ ।

एक सखि सुमति को लेकर, नायक चेतन के पास मिलाने के लिए गई। पहले दूतियाँ ऐसा किया करती थी। वहाँ वह सखी अपनी वाला सुमति की प्रशसा करते हुए चेतन से कहती है, हे लालन! मैं अमोलक बाल लाई हूँ, तुम देखो तो वह कैसी अनुपम सुन्दरी है। ऐसी नारी तो ससार मे दूसरी नही है। और हे चेतन! इसकी प्रीति भी तुमसे ही सनी हुई है। तुम्हारी और इस राधे की एक दूसरे पर अनन्त रीझ है। उसका वर्णन करने मे मैं पूर्ण असमर्थ हूँ।[1]

आध्यात्मिक विवाह

इसी प्रेम के प्रसग मे आध्यात्मिक विवाहो को लिया जा सकता है। ये 'विवाहला', 'विवाह', 'विवाहलउ', और 'विवाहलौ आदि के नाम से अभिहित हुए है। इनको दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है--एक तो वह जब दीक्षा ग्रहण के समय आचार्य का दीक्षाकुमारी अथवा सयमश्री के साथ विवाह सम्पन्न होता है, और दूसरा वह जब आत्मा रूपी नायक के साथ उसी के किसी गुण रूपी कुमारी की गाठे जुडती हैं। इनमे प्रथम प्रकार के विवाहो का वर्णन करने वाले कई राम 'ऐतिहासिक काव्य सग्रह' मे सकलित हैं। दूसरे प्रकार के विवाहो मे सबसे प्राचीन 'जिनप्रभसूरि' का 'अतरग विवाह' प्रकाशित हो चुका है। उपर्युक्त सुमति और चेतन दूसरे प्रकार के पति और पत्नी हैं। इसी के अन्तर्गत वह दृश्य भी आता है, जबकि आत्मा रूपी नायक 'शिवरमणी' के साथ विवाह करने जाता है। अजयराज पाटणी के 'शिवरमणी विवाह' का उल्लेख हो चुका है। वह १७ पद्यो का एक सुन्दर रूपक काव्य है। उन्होने 'जिन जी की रसोई' मे तो विवाहोपरात सुस्वादु भोजन और वन-विहार का भी उल्लेख किया है।[2]

वनारसीदास ने तीर्थंकर शातिनाथ का शिवरमणी से विवाह दिखाया है। शातिनाथ विवाह मडप मे आने वाले हैं। होने वाली बधू की उत्सुकता

---

१ लाई हो लालन् बाल अमोलक, देखहु तो तुम कैसी बनी है।
ऐसी कहुँ तिहुँ लोक मे सुन्दर, और न नारि अनेक घनी हैं।।
याहि तें तोहि कहूँ नित चेतन, याहू की प्रीति जु तो सौं सनी है।
तेरी और राधे की रीझि अनत जु, मो पै कहूँ यह जात गनी है।।

ब्रह्मविलास, शत अष्टोत्तरी, २८ वाँ पद्य, पृ० १४।

२ देखिये 'हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि', भारतीय ज्ञानपीठ काशी, छठा अध्याय, पृष्ठ ६५६।

दबाये नही दबती । वह अभी से उनको अपना पति मान बैठी है । वह अपनी सखी से कहती है, "हे सखी ! आज का दिन अत्यधिक मनोहर है, किन्तु मेरा मन-भाया अभी तक नही आया । वह मेरा पति सुख-कन्द है और चन्द्र के समान देह को धारण करने वाला है । तभी तो मेरा मन-उदधि आनन्द से आन्दोलित हो उठा है और इसी कारण मेरे नेत्र-चकोर सुख का अनुभव कर रहे हैं । उसकी सुहावनी ज्योति की कीर्ति ससार मे फैली हुई है । उनकी वाणी से अमृत झरता है । मेरा सौभाग्य है जो मुझे ऐसे पति प्राप्त हुए ।"[1]

तीर्थंकर अथवा आचार्यों के सयम श्री के साथ विवाह होने के वर्णन तो बहुत अधिक हैं । उनमे से 'जिनेश्वर सूरि और जिनोदय सूरि विवाहला' एक सुन्दर काव्य है । इसमे इन सूरियो का सयमश्री के साथ विवाह होने का वर्णन है । इसकी रचना वि० स० १३३१ मे हुई थी । हिन्दी के कवि कुमुदचन्द्र का 'ऋषभनाथ का आदीश्वर विवाहला' भी बहुत ही प्रसिद्ध है । विवाह के समय भगवान् ने जिस चूनडी को ओढा था, वैसी चूनडी छपाने के लिए न-जाने कितनी पत्नियाँ अपने पतियो से प्रार्थना करती रही है । १६ वी शती के विनयचन्द्र की 'चूनडी' हिन्दी साहित्य की प्रसिद्ध रचना है । साधुकीर्ति की चूनडी मे तो सगीतात्मक प्रवाह भी है ।

तीर्थंकर नेमीश्वर और राजुल का प्रेम

नेमीश्वर और राजुल के कथानक को लेकर जैन हिन्दी के भक्त कवि दाम्पत्य भाव प्रकट करते रहे है । राजशेखर सूरि ने विवाह के लिए राजुल को ऐसा सजाया है कि उसमें मृदुल काव्यत्व ही साक्षात् हो उठा है । किन्तु वह वैसी ही उपास्य बुद्धि से सचालित है, जैसे राधासुधानिधि मे राधा का सौदर्य । राजुल की शील-सनी शोभा मे कुछ ऐसी बात है कि उससे पवित्रता को प्रेरणा मिलती है, वासना को नही । विवाह मडप मे विराजी वधू जिसके आने की प्रतीक्षा कर

---

१ सहि एरी ! दिन आज सुहाया मुझ भाया आया नही घरे ।
सहि एरी ! मन उदधि अनदा सुख-कन्दा चन्दा देह धरे ।
चन्द जिवा मेरा बल्लभ सोहे, नैन चकोरहिं सुक्ख करे ।
जग ज्योति सुहाई कीरति छाई, बहु दुख तिमिर वितान हरे ।
सहु काल विनानी अमृतवानी, अरु मृग का लाछन कहिये ।
श्री शाति जिनेश नरोत्तम को प्रभु, आज मिला मेरी सहिये ।
बनारसी विलास, श्री शांति जिन स्तुति, पद्य १, पृ० १८९ ।

रही थी, वह मूक पशुओ के करुण क्रन्दन से प्रभावित होकर लौट गया। उस समय वधू की तिलमिलाहट और पति को पा लेने की बेचैनी का जो चित्र हेमविजय ने खीचा है, दूसरा नही खीच सका। हर्षकीर्ति– का 'नेमिनाथ राजुलगीत' भी एक सुन्दर रचना है। इसमे भी नेमिनाथ को पा लेने की बेचैनी है, किन्तु वैसी सरस नही जैसी कि हेमविजय ने अकित की है।

कवि भूधरदास ने नेमीश्वर और राजुल को लेकर अनेक पदो का निर्माण किया है। एक स्थान पर राजुल ने अपनी मा से प्रार्थना की, "हे मा! देर न करो मुझे शीघ्र ही वहाँ भेज दो, जहाँ हमारा प्यारा पति रहता है। यहाँ तो मुझे कुछ भी अच्छा नही लगता, चारो ओर अधेरा-ही-अधेरा दिखाई देता है। न जाने नेमि-रूपी दिवाकर का मुख कब दिखाई पडेगा। उनके बिना हमारा हृदय रूपी अरविन्द मुरझाया पडा है।"[1] पिय मिलन की ऐसी विकट चाह है, जिसके कारण लडकी मा से प्रार्थना करते हुए भी नही लजाती। लौकिक प्रेम–प्रसग मे लज्जा आती है, क्योकि उसमे काम की प्रधानता होती है, किन्तु यहाँ तो अलौकिक और दिव्य प्रेम की बात है। अलौकिक तल्लीनता मे व्यावहारिक उचित-अनुचित का ध्यान नही रहता।

राजुल के वियोग मे 'सम्वेदना' की प्रधानता है। भूधरदास ने राजुल के अन्त स्थ विरह को सहज स्वाभाविक ढग से अभिव्यक्त किया है। राजुल अपनी सखी से कहती है, "हे सखि! मुझे वहाँ ले चल, जहाँ प्यारे जादौपति रहते हैं। नेमि-रूपी चन्द्र के बिना यह आकाश का चन्द्र मेरे सब तन–मन को जला रहा है। उसकी किरण नाविक के तीर की भाँति अग्नि के स्फुलिगो को बरसाती है। रात्रि के तारे तो अँगारे ही हो रहे है।"[1] कही-कही राजुल के विरह मे

---

१ मा विलम्ब न लाव पठाव वहाँ री, जहाँ जगपति पिय प्यारो।
और न मोहि सुहाय कछू अब, दीसे जगत अधारो री॥
मैं श्री नेमि दिवाकर कौं अब, देखौं वदन उजारो।
बिन पिय देखें मुरझाय रह्यौ है, उर अरविन्द हमारो री॥

भूधरविलास, भूधरदास, कलकत्ता, १३ वाँ पद, पृ० ८।

१ तहाँ ले चल री जहाँ जादौपति प्यारो।
नेमि निशाकर बिन यह चन्दा, तन-मन दहत सकल री॥तहाँ॥
किरन किधौं नाविक-शर-तति के, ज्यौ पावक की झलरी।
तारे हैं अगारे सजनी, रजनी राकस दल री॥तहाँ॥ ।वही, ४५ वा पद, पृ० २५।

'ऊहा' के दर्शन होते है, किन्तु उसमे नायिका के 'पेंडुलम' होजाने की बात नही आ पाई है। यद्यपि राजुल का 'उर' भी ऐसा जल रहा है कि हाथ उसके समीप नही ले जाया जा सकता, किन्तु ऐसा नही कि उसकी गर्मी से जडकाले मे लुयें चलने लगी हो। राजुल अपनी सखी से कहती है, "नेमिकुमार के बिन जिय रहता नही है। हे सखी! देख मेरा हृदय कैसा तप रहा है। तू अपने हाथ को निकट लाकर देखती क्यो नही। मेरी विरह-जन्य उष्णता कपूर और कमल के पत्तो से दूर नही होगी। उनको दूर हटादे। मुझे तो 'सियरा कलाधर' भी 'करूर' लगता है। प्रियतम प्रभु नेमिकुमार के बिना मेरा 'हियरा' शीतल नही हो सकता।"[1] प्रिय के वियोग मे राजुल भी पीली पड गई। किन्तु ऐसा नही विदित हुआ कि उसके शरीर मे एक तोला मास भी न रहा हो। विरह से भरी नदी मे उसका हृदय भी वहा है, किन्तु उसकी आखो से खून के आसू कभी नही ढुलके। हरी तो वह भी भर्त्ता से भेट कर ही होगी, किन्तु उसके हाड सूख कर सारगी कभी नही वने।[2]

वारह मासा

नेमीश्वर और राजुल को लेकर जैन हिन्दी साहित्य मे वारहमासो की भी रचना हुई है। उन सब मे कवि विनोदीलाल का 'वारहमासा' उत्तम है। प्रिया को प्रिय के सुख के अनिश्चय की आशका सदैव रहती है, भले ही प्रिय सुख से रह रहा हो। तीर्थंकर नेमीश्वर वीतरागी होकर निराकुलता पूर्वक गिरिनार पर तप कर रहे हैं। किन्तु राजुल को शका है, जब सावन मे घनघोर घटायें जुड आयेगी चारों ओर से मोर शोर करेंगे, कोकिल कुहुक सुनावेगी, दामिनी दमकेगी और

---

१ नेमि विना न रहे मेरो जियरा।
हेर री हेली तपत उर कैसो,
लावत क्यो निज हाथ न नियरा॥
करि-करि दूर कमल-दल,
लगत करूर कलाधर सियरा॥
भूधर के प्रभु नेमि पिया विन,
शीतल हीय न राजुल हियरा॥

वही, २० वाँ पद, पृ० १२।

२ देखिये वही, १४ वाँ पद, पृ० ९ और मिलाइये जायसी के नागमती विरह-वर्णन से।

पुरवाई के झोके चलेंगे, तो वह सुख पूर्वक तप न कर सकेंगे ।[1] पौस के लगने पर तो राजुल की चिन्ता और भी बढ गई है । उसे विश्वास है कि पति का जाडा विना रजाई के नही कटेगा । पत्तो की धुवनी से तो काम चलेगा नही । उस पर भी काम की फौजें इसी ऋतु मे निकलती है, कोमलगात के नेमीश्वर उससे लड न सकेंगे ।[2] वैशाख की गर्मी को देखकर राजुल और भी अधिक व्याकुल है, क्योकि इस गर्मी मे नेमीश्वर को प्यास लगेगी तो, तो शीतल जल कहाँ मिलेगा, और तीव्र धूप से तपते पत्थरो से उनका शरीर दग जायेगा ।[3]

कवि लक्ष्मीवल्लभ का 'नेमिराजुल बारहमासा' भी एक प्रसिद्ध रचना है। इसमे कुल १४ पद्य है । प्रकृति के रमणीय सन्निधान मे विरहिणी के व्याकुल भावो का सम्मिश्रण हुआ है; "श्रावण का माह है, चारो ओर से विकट घटाये उमड रही हैं । यामिनी मे कुम्भस्थल जैसे स्तनो को धारण करने वाली भामिनियो को पिय का सग भा रहा है । स्वाति नक्षत्र की बूदो से चातक की पीडा दूर हो गई है । शुष्क पृथ्वी की देह हरियाली को पाकर दिप उठी है । किन्तु राजुल का न तो पिय आया और न पतियाँ ।"[4] ठीक इसी भाँति एक बार जायसी की नागमती भी विलाप करते हुए कह उठी थी, "चातक के मुख मे स्वाति नक्षत्र की बूदे पड़ गई और समुद्र की सब सीपे भी मोतियो से भर गई ।

---

१ 'पिया सावन मे व्रत लीजे नही, घनघोर घटा जुर आवैंगी ।
चहुँ ओर त मोर जु-शोर करैं, वन कोकिल कुहक सुनावैंगी ।।
पिय रैन अधेरी में सूझै नही, कछु दामिनी दमक डरावैंगी ।
पुरवाई की झोक सहोगे नही, छिन मे तप—तेज छुडावैंगी ।।
कवि विनोदीलाल, बारहमासा नेमि-राजुल का, बारहमासा-सग्रह, कलकत्ता, ४२ वाँ पद्य, पृ० २४ ।

२ देखिये वही, १४ वाँ पद्य, पृ० २७ ।

३ वही, २२ वाँ पद्य, पृ० २९ ।

४ उमडी विकट घनघोर घटा, चहु ओरनि मोरनि सोर मचायो ।
चमकै दिवि दामिनि यामिनि कु भय भामिनि कु पिय को सग भायो ।।
चिउ चातक पीड ही पीड लई, भई राजहरी मुह देह दिपायो ।
पतियाँ पै न पाई री प्रीतम की, अली श्रावण आयो पै नेम न आयो ।
कवि लक्ष्मीवल्लभ, नेमी—राजुल बारहमासा, पहला पद्य, 'हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि', पृ० ५९४ ।

हस स्मरण कर-करके अपने तालाबो पर आये, सारस बोलने लगे और खजन भी दिखाई पडने लगे। कासो के फूलो से वन मे प्रकाश हो गया, किन्तु हमारे कन्त न फिरे, कही विदेश मे ही भूल गये।"[१] कवि भवानीदास ने भी 'नेमिनाथ' बारहमासा' लिखा था, जिसमे कुल १२ पद्य हैं। श्री जिनहर्ष का 'नेमि बारहमासा' भी एक प्रसिद्ध काव्य है। उसके १२ सवैयो मे सौंदर्य और आकर्षण व्याप्त है। श्रावण मास मे राजुल की दशा को उपस्थित करते हुए कवि ने लिखा है, "श्रावण मास है, घनघोर घटाये उनै आई हैं। झलमलाती हुई बिजुरी चमक रही है, उसके मध्य से वज्र-सी ध्वनि फूट रही है, जो राजुल को विप बेलि के के समान लगती है। पपीहा पिउ-पिउ रट रहा है। दादुर और मोर बोल रहे हैं। ऐसे समय में यदि नेमीश्वर मिल जायें तो राजुल अत्यधिक सुखी हो।[२]"

आध्यात्मिक होलियाँ

जैन साहित्यकार आध्यात्मिक होलियो की रचना करते रहे हैं। जिनमे होली के अंग-उपागो का आत्मा से रूपक मिलाया गया है। उनमे आकर्षण तो होता ही है। पावनता भी आ जाती है। ऐसी रचनाओ को 'फागु' कहते हैं। कवि बनारसीदास के 'फागु' मे आत्मारूपी नायक ने शिवसुन्दरी से होली खेली है। कवि ने लिखा है, "सहज आनन्दरूपी वसन्त आगया है और शुभ भावरूपी पत्ते लहलहाने लगे है। सुमति रूपी कोकिला गहगही होकर गा उठी है, और मनरूपी भवरे मदोन्मत्त होकर गु जार कर रहे हैं। सुरति रूपी अग्नि-ज्वाला प्रकट हुई है, जिसमे अष्ट कर्मरूपी वन जल गया है। अगोचर अमूर्तिक आत्मा

---

१. स्वाति बू द चातक मुख परे। समुद सीप मोती सब भरे ॥
सरवर सवरि हस चलि आये। सारस कुरलहि खजन देखाये ॥
भा परगास कास बन फूले। कन्त न फिरे विदेसहि भूले ॥
जायसी ग्रन्थावली, प० रामचन्द्र शुक्ल सम्पादित, का० ना० प्र० सभा, तृ० स०, वि० स० २००३, ३०१७, पृ० १५३।

२ घन की घनघोर घटा उनही, बिजुली चमकति झलाहलि-सी।
विधि गाज अगाज, अवाज करत सु लागत मो विषवेलि जिसी ॥
पपीहा पिउ-पिउ रटत रयण जु, दादुर मोर वदै ऊरलिसी।
ऐसे श्रावण मे यदु नेमि मिले, सुख होत कहै जसराज रिसी ॥
जिनहर्ष, नेमि बारहमासा, हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, छठा अध्याय, पृ०-५०२।

धर्मरूपी फाग खेल रहा है। इस भाँति आत्मध्यान के बल से परम ज्योति प्रकट हुई, जिससे अष्ट कर्म रूपी होली जल गई है और आत्मा शात रस मे मग्न होकर शिवसुन्दरी से फाग खेलने लगा।"[1]

कवि द्यानतराय ने दो जत्थो के मध्य होली की रचना की है। एक ओर तो बुद्धि, दया, क्षमारूपी नारियाँ है और दूसरी ओर आत्मा के गुणरूपी पुरुष हैं। ज्ञान और ध्यान रूपी डफ तथा ताल बजा रहे हैं, उनमे अनहद रूपी घनघोर नाद निकल रहा है। धर्मरूपी लाल रग का गुलाल उड़ रहा है और समता रूपी रग दोनो ही पक्षो ने घोल रखा है। दोनो ही दल प्रश्न के उत्तर की भाँति एक दूसरे पर पिचकारी भर-भर कर छोडते है। इधर से पुरुष वर्ग पूछता है कि तुम किसकी नारी हो, उधर से स्त्रियाँ पूछती हैं कि तुम किसके छोरा हो। आठ कर्मरूपी काठ अनुभवरूपी अग्नि मे जलभुन कर शात हो गये। फिर तो सज्जनो के नेत्र रूपी चकोर, शिवरमणी के आनन्दकन्द की छबि को टकटकी लगाकर देखते ही रहे।[2] भूधरदास की नायिका ने भी अपनी सखियो

---

१ विपम विरष पूरो भयो हो, आयो सहज बसत।
प्रगटी सुरुचि सुगन्धिता हो, मन मधुकर मयमत।
सुमति कोकिला गहगही हो, बही अपूरब वाउ।
भरम कुहर बादर फटे हो, घट जाडो जडताउ॥
शुभ दल पल्लव लहलहे हो, होहिं अशुभ पतझार।
मलिन विषय रति मालती हो, विरत वेलि विस्तार॥
सुरति अग्नि ज्वाला जगी हो, समकित भानु अमद।
हृदय कमल विकसित भयो हो, प्रगट सुजश मकरद॥
परम ज्योति प्रगट भई हो, लागि होलिका आग।
आठ काठ सब जरि बुझे हो, गई तताई भाग॥
बनारसीविलास, जयपुर, अध्यात्मफाग, पृ० १५४-५५।

२ आयो सहज बसत खेलैं सब होरी होरा।
उत बुधि दया छिमा बहु ठाढ़ी, इत जिय रतनसजे गुन जोरा॥
ज्ञान ध्यान डफ ताल बजत हैं, अनहद शब्द होत घनघोरा।
धरम सुहाग गुलाल उडत है, समता रग दुहू ने घोरा॥
परसन-उत्तर भरि पिचकारी, छोरत दोनो करि-करि जोरा।
इत तैं कहैं नारि तुम काकी, उत तैं कहैं कौन को छोरा॥
आठ काठ अनुभव पावक मैं, जल बुझ शान्त भई सब ओरा।
द्यानत शिव आनन्द चन्द छवि, देखहिं सज्जन नैन चकोरा॥
द्यानत पद सग्रह, द्यानतराय, कलकत्ता, ८६ वाँ पद, पृ० ३६-३७।

के साथ श्रद्धा-गगरी मे आनन्द रूपी जल और रुचि रूपी-केशर घोलकर रगे हुए नीर को उमग रूपी पिचकारी मे भर कर अपने प्रियतम के ऊपर छोड़ा। इस भाँति उसने अत्यधिक आनन्द का अनुभव किया।[1]

प्रेम मे अनन्यता का होना आवश्यक है। प्रेमी को प्रिय के अतिरिक्त कुछ दिखाई ही न दे, तभी वह सच्चा प्रेम है। माँ-बाप ने राजुल से दूसरे विवाह का प्रस्ताव किया, क्योंकि राजुल की नेमीश्वर के साथ भावरें नही पडने पाई थी। किन्तु प्रेम भावरो की अपेक्षा नही करता। राजुल को तो सिवा नेमीश्वर के अन्य का नाम भी रुचिकारी नही था। इसी कारण उसने माँ-बाप को फटकारते हुए कहा, "हे तात! तुम्हारी जीभ खूब चली है, जो अपनी लडकी के लिए भी गालियाँ निकालते हो। तुम्हे हर बात सम्हाल कर कहना चाहिए। सब स्त्रियो को एक सी न समझो। मेरे लिए तो इस संसार मे केवल नेमि प्रभु ही एकमात्र पति है।[2]

महात्मा आनन्दघन अनन्य प्रेम को जिस भाँति अध्यात्म पक्ष में घटा सके, वैसा हिन्दी का अन्य कोई कवि नही कर सका। कबीर मे दाम्पत्य भाव है और आध्यात्मिकता भी, किन्तु वैसा आकर्षण नही, जैसा कि आनन्दघन मे है। जायसी के प्रबन्ध-काव्य मे अलौकिक की ओर इशारा भले ही हो, किन्तु लौकिक कथानक के कारण उसमे वह एकतानता नही निभ सकी है जैसी कि आनन्दघन के मुक्तक पदो मे पाई जाती है। सुजान वाले घनानन्द के बहुत से पद भगवद्भक्ति मे वैसे नही खप सके, जैसे कि सुजान के पक्ष मे घटे हैं। महात्मा आनन्दघन जैनो के एक पहुँचे हुए साधु थे। उनके पदो मे हृदय की तल्लीनता है। उन्होने

---

१ सरधा गागर रुचि रूपी, केसर घोरि तुरन्त।
आनन्द नीर उमग पिचकारी, छोडी नीकी मत।
होरी खेलोगी, आये चिदानन्द कन्त।।
भूधरदास, 'होरी खेलोगी' पद, अध्यात्म पदावली, भारतीय ज्ञान पीठ, काशी, पृ० ७५।

२ काहे न बात सम्माल कहो, तुम जानत हो यह बात भली है।
गालियाँ काढत हो हमको सुनो तात भली तुम जीभ चली है।।
हम सब को तुम तुल्य गिनो, तुम जानत ना यह बात रली है।
या भव मे पति नेमि प्रभू, वह लाल विनोदी को नाथ बली है।
नेमि-व्याह, विनोदीलाल, हस्तलिखित प्रति, जैन सिद्धांत भवन, आरा।

एक स्थान पर लिखा है, "सुहागिन के हृदय मे निर्गुण ब्रह्म की अनुभूति से ऐसा प्रेम जगा है कि अनादिकाल से चली आने वाली अज्ञान की नीद समाप्त होगई। हृदय के भीतर भक्ति के दीपक ने एक ऐसी सहज ज्योति को प्रकाशित किया है, जिससे घमण्ड स्वय दूर हो गया और अनुपम वस्तु प्राप्त हो गई। प्रेम एक ऐसा अचूक तीर है जिसके लगता है, वह ढेर होजाता है। वह एक ऐसा वीणा का नाद है, जिसको सुनकर आत्मारूपी मृग तिनके तक चरना भूल जाता है। प्रभु तो प्रेम से मिलता है, उसकी कहानी कही नहीं जा सकती।"[1]

भक्त के पास भगवान् स्वय आते है, भक्त नही जाता। जब भगवान् आता है, तो भक्त के आनन्द का पारावार नही रहता। आनन्दघन की सुहागिन नारी के नाथ भी स्वय आये हैं और अपनी 'तिया' को प्रेमपूर्वक स्वीकार किया है। लम्बी प्रतीक्षा के बाद आये नाथ की प्रसन्नता मे, पत्नी ने भी विविध भाँति के शृगार किये हैं। उसने प्रेम-प्रतीति, राग और रुचि के रग मे रगी साडी धारण की है; भक्ति की महदी राची है और भाव का सुखकारी अंजन लगाया है। सहज स्वभाव की चूडियाँ पहनी हैं और पिरीति का भारी कगन धारण किया है। ध्यान रूपी उरवसी गहना वक्षस्थल पर पडा है और पिय के गुण की माला को गले मे पहना है। सुरत के सिन्दूर से माग को सजाया है और निरत की वेणी को आकर्षक ढग से गूथा है। उसके घर त्रिभुवन की सबसे अधिक प्रकाशमान ज्योति का जन्म हुआ है। वहाँ से अनहद का नाद भी

---

१ सुहागण जागी अनुभव प्रीति, सुहागण ।।
नीद अज्ञान अनादि की मिटि गई निज रीति ।। सुहा० ।। १ ।।

घट मन्दिर दीपक कियो, सहज सुज्योति सरूप।
आप पराई आप ही ठानत वस्तु अनूप ।। सुहा० ।। २ ।।

कहाँ दिखावु और कू, कहा समझाऊ भोर।
तीर अचूक है प्रेम का, लागे सो रहे ठौर ।। सुहा० ।। ३ ।।

नाद-विलुद्धो प्राण कू, गिनै न तृण मृग लोय।
आनन्दघन प्रभु प्रेम का, अकथ कहानी वोय ।। सुहा० ।। ४ ।।

आनन्द घनपदसग्रह, महात्मा आनन्दघन, अध्यात्म ज्ञान प्रसारक मण्डल, बम्बई चौथा पद, पृ० ७।

उठने लगा है। अब तो उसे लगातार एकतान मे पिय-रस का आनन्द उपलब्ध हो रहा है।[1]

ठीक उसी भाँति बनारसीदास की नारी के पास भी निरजन देव स्वय प्रकट हुए हैं। वह इधर-उधर भटकी नही, उसने अपने हृदय में ध्यान लगाया और निरजन देव आ गये। अब वह अपने खजन-जैसे नेत्रो से उसे पुलकायमान होकर देख रही हैं और प्रसन्नता से भरे गीत गा रही है। उसके पाप और भय दूर भाग गये हैं। परमात्मा-जैसा साजन साधारण नही है, वह कामदेव जैसा सुन्दर और सुधारस-सा मधुर है। वह कर्मों का क्षय कर देने से तुरन्त मिल जाता है।[2]

१ आज सुहागन नारी ॥ अवधू० आज० ॥
मेरे नाथ आप सुध लीनी, कीनी निज अगचारी ॥ अवधू० ॥ १ ॥
प्रेम प्रतीत राग रुचि रगत, पहिरे जिन सारी।
मेंहदी भक्ति रग की राची, भाव अजन सुखकारी ॥ अवधू० ॥ २ ॥
सहज सुभाव चूरियाँ पेनी, थिरता कगन भारी।
ध्यान उरवसी उर मे राखी, पिय गुनमाल अधारी ॥ अवधू० ॥ ३ ॥
सुख-सिन्दूर माग रग राति, निरते वेनि सभारी।
उपजी ज्योति उद्योत घट त्रिभुवन, आरसी केवल कारी ॥ अवधू० ॥ ४ ॥
उपजी धुनि अजपा की अनहद, जीत नगारे वारी।
झडी सदा आनन्दघन बरखत, विन मोरे इक तारी ॥ अवधू० ॥ ५ ॥
वही, २० वा पद।

२ म्हारे प्रगटे देव निरजन।
अटको कहा कहा सिर भटकत कहा कहूँ जन-रजन ॥ म्हारे० ॥ १ ॥
खजन दृग, दृग-नयनन गाऊ चाऊं चितवत रजन।
सजन घट अन्तर परमात्मा सकल दुरित भय रजन ॥ म्हारे० ॥ २ ॥
वो ही कामदेव होय, कामघट वो ही मजन।
और उपाय न मिले बनारसी सकल करमषय खजन ॥ म्हारे० ॥ ३ ॥
बनारसीविलास, जयपुर, १९५४ ई०, 'दो नये पद', पृ० २४० क।

मध्यकालीन जैन हिन्दी काव्य में शान्ता भक्ति

पहले के आचार्यों ने 'शान्ति' को साहित्य मे अनिर्वचनीय आनन्द का विधायक नही माना था, किन्तु पण्डितराज के अकाट्य तर्कों ने उसे भी रस के पद पर प्रतिष्ठित किया। तब से अभी तक उसकी गणना रसो मे होती चली आ रही है। उसे मिलाकर नौ रस माने जाते हैं। जैनाचार्यों ने भी इन्ही नौ रसो को स्वीकार किया है, किन्तु उन्होने 'शृ गार' के स्थान पर शान्त को 'रसराज' माना है। उनका कथन है कि अनिर्वचनीय आनन्द की सच्ची अनुभूति, रागद्वेष नामक मनोविकार के उपशम हो जाने पर ही होती है। रागद्वेप से सम्बन्धित अन्य आठ रसो के स्थायी भावो से उत्पन्न हुए आनन्द मे वह गहरापन नही होता, जो शान्त मे पाया जाता है। स्थायी आनन्द की दृष्टि से तो शान्त ही एक मात्र रस है। कवि बनारसीदास ने 'नवमो सान्त रसनिको नायक'[1] माना है। उन्होंने तो आठ रसो का अन्तर्भाव भी शान्तरस में ही किया है। डॉ० भगवान्

---

१ प्रथम सिंगार वीर दूजो रस,
तीजो रस करुना सुखदायक।
हास्य चतुर्थ रुद्र रस पचम,
छट्ठम रस बीभच्छ विभायक॥
सप्तम भय अट्ठम रस अद्भुत,
नवमो सान्त रसनिको नायक।
ए नव रस एई नव नाटक,
जो जहँ मगन सोई तिहि लायक॥

नाटक समयसार, प० बुद्धिलाल श्रावक की टीका सहित, जैन ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, बम्बई, १०।१३३, पृ० ३६१।

दास ने भी अपने 'रस मीमासा' नाम के निबन्ध मे, अनेकानेक संस्कृत उदाहरणो के साथ, 'शान्त' को 'रसराज' सिद्ध किया है।

जहाँ तक भक्ति का सम्बन्ध है, जैन और अजैन सभी ने 'शान्त' को ही प्रधानता दी। यदि शाण्डिल्य के मतानुसार 'परानुरक्तिरीश्वरे' ही भक्ति है, तो यह भी ठीक है कि ईश्वर मे 'परानुरक्ति' तभी हो सकती है, जब अपर की अनुरक्ति समाप्त हो। अर्थात् जीव की मन. प्रवृत्ति ससार के अन्य पदार्थों से अनुराग-हीन होकर, ईश्वर मे अनुराग करने लगे, तभी वह भक्ति है, अन्यथा नही। और ससार को असार, अनित्य तथा दु खमय मान कर मन का आत्मा अथवा परमात्मा मे केन्द्रित हो जाना ही शान्ति है। इस भाँति ईश्वर मे 'परानुरक्ति' का अर्थ भी 'शान्ति' ही हुआ। स्वामी सनातनदेवजी ने अपने 'भाव भक्ति की भूमिकाएँ' नामक निबन्ध मे लिखा है, "भगवदनुराग बढने से अन्य वस्तु और व्यक्तियो के प्रति मन मे वैराग्य हो जाना भी स्वाभाविक ही है। भक्ति-शास्त्र मे भगवत्प्रेम की इस प्रारम्भिक अवस्था का नाम ही 'शान्तभाव' है"।[१] नारद ने भी अपने 'भक्तिसूत्र' में 'सात्वस्मिन् परमप्रेमरूपा अमृत स्वरूपा च,' को भक्ति माना है।[२] इसमे पडे हुए 'परमप्रेम' से यह ही ध्वनि निकलती है कि ससार से वैराग्योन्मुख होकर एकमात्र ईश्वर से प्रेम किया जाये। शान्ति मे भी वैराग्य की ही प्रधानता है। 'भक्तिरसामृतसिन्धु' मे 'अन्याभिलापिताशून्य कृष्णानुशीलन उत्तमा भक्ति'[३] उपर्युक्त कथन का ही समर्थन करती है। यह कहना उपयुक्त नही है कि अनुरक्ति मे सदैव जलन होती है, चाहे वह ईश्वर के प्रति हो अथवा ससार के, क्योकि दोनो मे महदन्तर है। सासारिक अनुरक्ति दु ख की प्रतीक है और ईश्वरानुरक्ति दिव्य सुख को जन्म देती है। पहली मे जलन है, तो दूसरी मे शीतलता, पहली मे पुन -पुनः भ्रमण की बात है, तो दूसरी में मुक्त हो जाने की भूमिका।

जैनाचार्य शान्ति के परम समर्थक थे। उन्होंने एक मत से, राग द्वेषो से विमुख होकर वीतरागी पथ पर बढने को ही शान्ति कहा है। उसे प्राप्त करने के दो उपाय हैं-तत्व-चिन्तन और वीतरागियो की भक्ति। वीतराग मे किया गया

---

१ कल्याण, भक्ति विशेषाक, वर्ष ३२, अ क १, पृ० ३९६।

२ 'नारद प्रोक्त भक्ति सूत्र', वाराणसी, प्रथम सूत्र।

३ भक्ति रसामृतसिन्धु, गोस्वामी दामोदर शास्त्री सम्पादित, अच्युतग्रन्थमाला कार्यालय, काशी, वि० स० १९८८, प्रथम सस्करण।

अनुराग साधारण राग की कोटि मे नही आता। जैनो ने शान्तभाव की चार अवस्थाएँ स्वीकार की हैं—प्रथम अवस्था वह है जब मन की प्रवृति, दु खरूपात्मक ससार से हट कर आत्म-शोधन की ओर मुडती है। यह व्यापक और महत्वपूर्ण दशा है। दूसरी अवस्था मे उस प्रमाद का परिष्कार किया जाता है, जिसके कारण ससार के दु ख सुख सताते हैं, तीसरी अवस्था वह है जबकि विषय-वासनाओ का पूर्ण अभाव होने पर निर्मल आत्मा की अनुभूति होती है। चौथी अवस्था केवल ज्ञान के उत्पन्न होने पर पूर्ण आत्मानुभूति को कहते है। ये चारो अवस्थाएं आचार्य विश्वनाथ के द्वारा कही गई युक्त, वियुक्त और युक्त-वियुक्त दशाओ के समान मानी जा सकती हैं।[1] इनमे स्थित 'शम' भाव ही रसता को प्राप्त होता है।

जैनाचार्यों ने 'मुक्ति दशा' मे 'रसता' को स्वीकार नही किया है, यद्यपि वहाँ विराजित पूर्ण शाति को माना है। अर्थात् सर्वज्ञ या अर्हन्त जब तक इस ससार मे हैं, तभी तक उनकी 'शान्ति' शान्तरस कहलाती है, सिद्ध या मुक्त होने पर नही। 'अभिधान राजेन्द्र कोश' मे रस की परिभाषा लिखी है, "रस्यन्तेऽन्तरात्मनाऽनुभूयन्ते इति रसा"।[2] अर्थात् अन्तरात्मा की अनुभूति को रस कहते हैं। सिद्धावस्था मे अन्तरात्मा अनुभूति से ऊपर उठकर आनन्द का पुञ्ज ही हो जाती है, अत अनुभूति की आवश्यकता ही नही रहती। जैनाचार्य वाग्भट्ट ने अपने 'वाग्भट्टालकार' मे रस का निरूपण करते हुए लिखा है, "विभावैरनुभावैश्च, सात्त्विकैर्व्यभिचारिभि। आरोप्यमाण उत्कर्ष स्थायीभाव स्मृतो रस"।[3] अर्थात् विभाव, अनुभाव, सात्विक और व्यभिचारियो के द्वारा उत्कर्ष को प्राप्त हुआ स्थायी भाव ही रस कहलाता है। सिद्धावस्था मे विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी आदि भावो के अभाव मे रस नही बन पाता।

जैन आचार्यों ने भी अन्य साहित्य-शास्त्रियो की भाँति ही 'शम' को शान्त रस का स्थायीभाव माना है। भगवज्जिनसेन ने 'अलकार चिन्तामणि' मे 'शम' को विशद करते हुए लिखा है, "विरागत्वादिना निर्विकार मनस्त्व शम"

---

१. युक्तवियुक्तदशायामवस्थितो य शम· स एव यत।
रसतामेति तस्मिन्सचार्यादे· स्थितिश्च न विरुद्धा॥
आचार्य विश्वनाथ, सहित्यदर्पण, ३।२५०।

२ अभिधानराजेन्द्रकोश, 'रस', शब्द।

३ आचार्य वाग्भट्ट, वाग्भट्टालंकारं।

ग्रीष्म के प्रखर सूर्य से सतप्त हुए जीव को जल और छाया मे शान्ति मिलती है, वैसे ही ससार के दु खो से बेचैन प्राणी भगवान् के चरण कमलो मे शान्ति पाता है।[1] मुनि शोभन शाश्वत शान्ति चाहते है। उनका विश्वास है कि भगवान् की वाणी का श्रवण करने मात्र से वह उपलब्ध हो सकती है।[2] आचार्य सोमदेव शिव-सुख देने वाली शान्ति चाहते है। वही भव दु ख रूपी अग्नि पर घनामृत की वर्षा कर सकती है।[3] वह शान्ति भगवान् शान्तिनाथ प्रदान कर सकते है।

"भव दु खानलाशान्तिर्धर्मामृतवर्षजनितजनशान्ति ।
शिवशर्मास्रवशान्तिः शान्तिकर स्ताज्जिन शान्ति ॥[3]

जैन ग्रन्थो के अन्तिम मगलाचरण प्राय शान्ति की याचना में ही समाप्त होते हैं। शान्ति भी केवल अपने लिए नही, सघ, आचार्य, साधु, धार्मिक जन और राष्ट्र के लिए भी। आचार्य पूज्यपाद का "सपूजकाना प्रतिपालकाना यतीन्द्र सामान्य तपोधनानाम्। देशस्य राष्ट्रस्य पुरस्य राज्ञ करोतु शान्ति भगवान् जिनेन्द्र ।[4] इसी का द्योतक है। प० श्री मेधावी के धर्मसग्रह श्रावकाचार का

---

१ न स्नेहाच्छरण प्रयान्ति भगवन्पादद्वय प्रजा,
हेतुस्तत्र विचित्र दुख निचय ससारघोरार्णव ।
अत्यन्त स्फुरदुग्ररश्मिनिकरव्याकीर्ण भूमडलो,
ग्रैष्म कारयतीन्दु पादसलिलच्छायानुराग रवि ॥
आचार्य पूज्यपाद, संस्कृतशान्तिभक्ति, पहला श्लोक, पृ० १७४

२ शान्ति वस्तनुतान्मियोऽनुगमनाद्यन्न गम्रनाचैर्नये,
रक्षोभ जन हेऽतुला जितमदोदीर्णागिजाल कृतम् ।
तत्पूज्यैर्जगता जिनै प्रवचन द्रप्यत्कुवाद्यावली,
रक्षोभ जन हेतुलाच्छितमदो दीर्णागि जाल कृतम् ॥
मुनिशोभन, चतुर्विंशतिजिनस्तुति, काव्यमाला, सप्तमगुच्छक, निर्णयसागर प्रस, बम्बई, ३रा श्लोक, पृ० १३३।

३ K K. Handiqui, yasastilak and Indian culture, Sholapur, 1949 P. 311

४ दशभक्त्यादिसग्रह, पृ० १८१, श्लोक १४वां।

मगलाचरण भी ऐसा ही है। उन्होने भी राजा, प्रजा और मुनि, सभी के लिए शान्ति चाही है।[1]

शान्ति दो प्रकार की होती है—शाश्वत और क्षणिक। पहली का सम्बन्ध मोक्ष से है और दूसरी का भौतिक ससार से। भक्त जन दोनो के लिए याचना करते रहे हैं। जिनेन्द्र की अनुकम्पा से उन्हे दोनो की प्राप्ति भी हुई है। इस दिशा मे जैन मत्रो का महत्वपूर्ण योग रहा है। जैनो का प्राचीन मत्र 'णमो अरिहन्ताण' मत्र है। इसमें पच परमेष्ठी को नमस्कार किया गया है। पूरा मत्र है "णमो अरिहन्ताण, णमो सिद्धाण, णमो आयरियाण, णमो उवज्झायाण, णमो लोए-सव्वसाहूण।" इसका अर्थ है—अर्हन्तो को नमस्कार हो, सिद्धो को नमस्कार हो, आचार्यों को नमस्कार हो,उपाध्यायो को नमस्कार हो और लोक के सर्व साधुओ को नमस्कार हो। जैन आचार्यों ने इस मत्र मे अपूर्व शक्ति स्वीकार की है। भद्रबाहु स्वामी ने अपने 'उवसग्गहर स्तोत्र' मे लिखा है, "तुह सम्मत्ते लद्धे चितामणिकप्प पायवब्भहिए। पावति अविग्घेण जीवा अयरामर ठाण ॥"[2] इसका तात्पर्य है कि पचनमस्कार मत्र से चितामणि और कल्पवृक्ष से भी अधिक महत्वशाली सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है, जिसके कारण जीव को मोक्ष मिलता है। आचार्य कुन्दकुन्द का विश्वास है, "अरुहा, सिद्धायरिया उवझाया साहु पचपरमेट्ठि। एदे पचणमोयारा भवे भवे मम सुह दितु ॥"[3] अर्थात् अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु मुझे भव-भव मे सुख देवें। आचार्य पूज्यपाद का कथन है कि गह 'पच नमस्कार' का मत्र सव पापो को नष्ट करने वाला है और जीवो का कल्याण करने में सबसे ऊपर है।[4] मुनि वादिराज ने 'एकीभाव स्तोत्र' मे लिखा है, "जब पापाचारी कुत्ता भी णमोकार मत्र को सुनकर देव हो गया, तब यह

---

१ शान्ति स्याज्जिनशासनस्य सुखदा शान्तिर्नृपाणां सदा,
सुप्रजाशातयोभरभृता शान्तिर्मुनीना सदा।
श्रोतृणा कविताकृता प्रवचनव्याख्यातृकाणा पुन,
शान्ति शान्तिरयाग्नि जीवनमुच श्री सज्जनस्यापि च ॥
पण्डित श्री मेधावी, धमसग्रहश्रावकाचार, अन्तिमप्रशस्ति,
प्रशस्तिसग्रह, जयपुर, १९५० ई०, ३५वा श्लोक, पृ० २५।

२ उवसग्गहरंस्तोत्त, चौथीगाथा, जैनस्तोत्रसन्दोह, भाग २, मुनिचतुरविजय सम्पादित, अहमदाबाद, वि० स० १९९२, पृ० ११।

३. 'पचगुरुभक्ति', सातवी गाथा, दशभक्ति, शोलापुर, १९२१ ई०, पृ० ३५८।

४. एष पचनमस्कार सर्वपापप्रणाशन। मगलाना च सर्वेषा प्रथम मगल भवेत् ॥
देखिए वही, सातवा श्लोक, पृ० ३५३।

निश्चित है कि उस मत्र का जाप करने से यह जीव इन्द्र की लक्ष्मी को पा सकता है।[१]

श्री जिनप्रभसूरि ने 'विविध तीर्थकल्प' के 'पच-परमेष्ठी नमस्कार कल्प' मे स्वीकार किया है, "इस मत्र की आराधना करने वाले योगीजन, त्रिलोक के उत्तम पद को प्राप्त कर लेते हैं। यहाँ तक ही नही, किन्तु सहस्त्रो पापो का सम्पादन करने वाले तिर्यञ्च भी इस मत्र की भक्ति से स्वर्ग मे पहुँच जाते हैं।[२] जैनाचार्यों ने 'णमोकार मत्र' की शक्ति को देवता कहा है। उसमे आध्यात्मिक, आधि भौतिक और आधिदैविक तीनो ही प्रकार की शक्तियाँ सन्निहित हैं। वह मोह के दुर्गमन को रोकने मे पूर्ण रूप से समर्थ है।[३] जैन परम्परा मे यह मत्र अनादि निधन माना जाता है। वैसे भगवान् महावीर से पहले 'चौदह पूर्वों' का अध्ययन-अध्यापन प्रचलित था। भगवान् ने अपने गणधरो को इनकी विद्या प्रदान की थी।[४] उनमे 'विद्यानुवाद' नाम के पूर्व का प्रारम्भ णमोकार मत्र

---

१ प्रापद्दैव तव नुतिपदैर्जीवकेनोपदिष्टै,
पापाचारी मरणसमये सारमेयोऽपि सौख्य।
क सदेहो यदुपलभते वासवश्री प्रभुत्व,
जल्पञ्जाप्यैमणिभिरमलैस्त्वन्नमस्कार चक्र ॥
एकीभावस्तोत्र, १२वा श्लोक, काव्यमाला सप्तमगुच्छक, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, पृ० १६।

२ एतमेव महामन्त्र समाराध्येह योगिन। त्रैलोक्याऽपि महीयन्तेऽधिगता परम पदम्। कृत्वा पापसहस्राणि हत्वा जन्तुशतानि च। अमु मन्त्र समाराध्य तिर्यञ्चोऽपि दिवगता।
जिनप्रभसूरि, पचपरमेष्ठि नमस्कारकल्प, विविधतीर्थकल्प, मुनिजिनविजय सम्पादित, शान्तिनिकेतन, १६३४ ई०, प्रथम भाग, पृ० १०८, श्लोक ५-६।

३ स्तम्भ दुर्गमन प्रति प्रियततो मोहस्य सम्मोहन।
पायात्पचनमस्क्रियाक्षरमयी साराधना देवता ॥
नमस्कार मत्र, तीसरा श्लोक, धर्मध्यानदीपक, पृ० २।

४ "The original doctrine was contained in the Fourteen Purvas (old texts), which Mahavira himself had taught to his Ganadharas"
Dr. Jagdish chandra Jain, Ancient India as depicted in Jain Canons, New book Company Ltd, Bombay, 1947. P. 32.

से ही हुआ था। विद्यानुवाद मन्त्र-विद्या का अपूर्व ग्रन्थ था।[1] श्री मोहनलाल भगवानदास झवेरी ने जैन मन्त्र-शास्त्र का प्रारम्भ ईसा से ८५० वर्ष पूर्व, अर्थात् तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय से स्वीकार किया है।[2] हो सकता है कि पार्श्वनाथ के समय मे भी '१४ पूर्व' पहले से आई हुई 'विद्या' के रूप मे प्रतिष्ठित रहे हो। उपलब्ध पुरातात्विक सामग्री के आधार पर 'णमोकार मंत्र' का प्राचीनतम उल्लेख 'हाथी-गुम्फ' के शिलालेख मे प्राप्त होता है, जिसके निर्माता सम्राट् खारवेल ईसा से १७० वर्ष पूर्व हुए हैं।[3]

'शान्ति' का आधार केवल 'णमोकार मंत्र' ही नही है, अन्य अनेक मंत्र भी है। यहाँ सबका उल्लेख सम्भव नही है। वे एक पृथक् निबन्ध का विषय हैं। मंत्र क्षेत्र मे यन्त्रो की भी गणना होती है। उनमें एक शान्ति यन्त्र भी है। मन्दिरो मे इसकी स्थापना की जाती है और उसकी पूजा-अर्चा होती है। 'मन्त्राधिराज कल्प' नाम के ग्रन्थ मे 'शान्ति यन्त्र' को पूजा दी हुई है। इसके रचयिता एक सागरचन्द्र सूरि नाम के साधु थे। उनका समय १५ वी शताब्दी माना जाता है। उन्होंने एक स्थान पर 'शान्ति यन्त्र' की महत्ता के सम्बन्ध में लिखा है, "शमयतिदुरितश्रेणिं दमयत्यरिसन्तर्तिं सततमसौ। पुष्णाति भाग्यनिचयं मुष्णाति व्याधि सम्बाधाम् ॥"[4] तात्पर्य है—शाति यन्त्र की पूजा से रोग, पाप, शत्रु और व्याधिया उपशम हो जाती हैं, और सौभाग्य का उदय होता है। शाति के लिए

---

१ कहा जाता है कि मुनि सुकुमारसेन (७वी शती ईसवी) के विद्यानुशासन मे विद्यानुवाद की बिखरी सामग्री का सकलन हुआ था। विद्यानुशासन की हस्तलिखित प्रति जयपुर और अजमेर के शास्त्र भाण्डरो मे मौजूद है।

२ "Mr Jhaveri thinks that the Mantrasastra among the Jains is also of hoary antiquity He claims that its antiquity goes back to the days of Parsvanatha, the 23rd Tirthankara, who flourished about 850 B C"

Dr A. S Altekar, 'Mantrashastra and Jainism,' Jain cultural Research Society, Hindu University, Varanasi, P. 9.

३. V. A Smith, Early History of India, Oxford, 1908, P 38. N. I

४ श्री सागर चन्द्र सूरि, मन्त्राधिराजकल्प, जैनस्तोत्रसन्दोह, भाग २, मुनि चतुरविजय सम्पादित, अहमदाबाद, सन् १९३६, ३३वा श्लोक, पृ० २७७।

'शांति पाठ' भी किये जाते हैं। वे मंत्र-गर्भित होते हैं। अनेक दिन विधिवत् उनका पाठ होता है। आज भी उनका प्रचलन है। प्रति वर्ष अनेक स्थानो पर उनके पाठ का आयोजन किया जाता है। इन मन्त्र-यंत्रो मे इहलौकिक शान्ति की अमोघ शक्ति मानी गई है, किन्तु उनका मुख्य उद्देश्य पारलौकिक शाश्वत शान्ति ही है। उनका मूल स्वर 'आध्यात्मिक' है 'भौतिक' नही। यह ही कारण है कि उनमे वज्रयानी तान्त्रिक सम्प्रदाय की भाँति व्यभिचार, मदिरा और मास वाली बात नही पनप सकी। जैन देवियाँ मन्त्र की शक्तिरूपा थी। उन्हे मन्त्र के बल पर ही साधा जा सकता था। किन्तु ऐसा कभी नही हुआ कि उन मन्त्रो के साथ नीच कुलोत्पन्न कन्याओ के आसेवन की बात चली हो। ऐसा भी नही हुआ कि भाद्रपद की अमावस की रात मे एक सौ सोलह कुँआरी, सुन्दरी कन्याओ की बलि से वे यत्किञ्चित् भी प्रसन्न हुई हो। वे कराला थी, किन्तु उनकी करालता व्यभिचार या मदिरा-मास से तृप्त नही होती थी। सतगुणो का प्रदर्शन ही उन्हे सन्तुष्ट बना सकता था। ईसी भाति जैन साधु मन्त्र विद्या के पारगत विद्वान् थे, किन्तु उन्होने राग सम्बन्धी पदार्थों मे उनका कभी उपयोग नहीं किया। जैन मन्त्र सासारिक वैभवो के देने मे सामर्थ्यवान होते हुए भी वीतरागी बने रहे। वीतरागता ही शान्ति है। उसका जैसा शानदार समर्थन जैन मन्त्र कर सके, अन्य नही।

जैन भक्ति काव्य और मन्त्रो की सबसे बडी विशेषता है, उनकी शान्तिपरकता। कुत्सित परिस्थितियो और सगतियो मे भी वे शान्तरस से दूर नही हटे। उन्होने कभी भी अपनी ओट मे शृ गारिक प्रवृत्तियो को प्रश्रय नही दिया। दाम्पत्य रति-मूला भगवद्भक्ति बुरी नही है। यह भी भक्ति की एक विधा है। जैन काव्यों के 'आध्यात्मिक विवाह' इसी कोटि में आते है। नेमीश्वर और राजुल को लेकर शतश काव्यो का निर्माण हुआ। वे सभी सात्त्विकी-भक्ति के निदर्शन हैं। उनमे कही भी जगन्माताओ की सुहागरातो का नग्न विवेचन नही है। जिसे मा कहा, उसके अ ग-प्रत्यग मे मादकता का रग भरना उपयुक्त नही है। इससे मा का भाव लुप्त होता है और सुन्दरी नवयौवना नायिका का रूप उभरता है। घनाश्लेष मे आबद्ध दम्पति भले ही दिव्यलोक-वासी हो, पाठक या दर्शक मे पवित्रता नही भर सकते। भगवान् पति की आरती के लिए भगवती पत्नी का अँगूठो पर खडा होना ठीक हैं, किन्तु साथ ही पीनस्तनो के कारण उनके हाथ की पूजा-थाली के पुष्पो का बिखर जाना कहा तक भक्ति परक

है ।[1] राजशेखर सूरि के 'नेमिनाथफागु' मे राजुल का अनुपम सौन्दर्य अ कित है, किन्तु उसके चारो ओर एक ऐसे पवित्र वातावरण की सीमा लिखी हुई है, जिससे विलासिता को सहलन प्राप्त नही हो पाती । उसके सौन्दर्य मे जलन नही, शीतलता है । वह सुन्दरी है किन्तु पावनता की मूर्ति है । उसको देखकर श्रद्धा उत्पन्न होती है । मैंने अपने ग्रन्थ 'हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि' मे लिखा है, "जबकि भगवान् के मगलाचरण भी वासना के कैमरे से खीचे जा रहे थे, नेमीश्वर और राजुल से सबधित मागलिक पद दिव्यानुभूतियो के प्रतीक भर ही रहे । उन्होने अपनी पावनता का परित्याग कभी नही किया ।"[2] जिन पद्मसूरि के 'थूलिभद्दफागु'[3] मे कोशा के मादक सौन्दर्य और कामुक विलास चेष्टाओ का चित्र खीचा गया है । युवा मुनि स्थूलभद्र के सयम को डिगाने के लिए सुन्दरी कोशा ने अपने विलास-भवन मे अधिकाधिक प्रयास किया, किंतु कृतकृत्य न हुई । कवि को कोशा की मादकता निरस्त करना अभीष्ट था, अत उसके रति-रूप और कामुक भावो का अ कन ठीक ही हुआ । तप की दृढता तभी है, जब वह बडे-से-बडे सौन्दर्य के आगे भी दृढ बना रहे । कोशा जगन्माता नही, वेश्या थी । वेश्या भी ऐसी-वैसी नही, पाटलिपुत्र की प्रसिद्ध वेश्या । यदि पद्मसूरि उसके सौदर्य को उन्मुक्त भाव से मूर्तिमन्त न करते तो अस्वाभाविकता रह जाती । उससे एक मुनि का सयम सुदृढ प्रमाणित हुआ । इसमे कही अश्लीलता नही है । सच तो यह है कि दाम्पत्य रति को रूपक ही रहना चाहिए था, किंतु जब उसमे रूपकत्त्व तो रहा नही, रति ही प्रमुख हो गई, तो फिर अशालीनता का उभरना भी ठीक ही था । जैन कवि और काव्य इससे बचे रहे । इसी कारण उनकी शातिपरकता भी बची रही ।

हिन्दी के जैनभक्त कवियो ने सस्कृत-प्राकृत की शातिधारा का अनुगमन किया । बनारसीदास ने 'नाटक समयसार' मे 'नवमो सात रसनि कौ नायक' स्पष्ट

---

१ पादाग्रस्थितया मुहु स्तनभरेणानीतया नम्रता
शम्भो सस्पृहलोचनत्रयपथ यान्त्या तदाराधने ।
ह्रीमत्या शिरसीहित सपुलकस्वेदोद्गमोत्कम्पया
विश्लिष्यन्कुसुमाञ्जलिर्गिरिजया क्षिप्तोऽन्तरे पातुव ॥
श्री हर्ष, रत्नावली, प्रथम मगलाचरण ।

२ देखिए 'हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि', प्रथम अध्याय, पृ० ४ ।

३ यह काव्य प्राचीन गुर्जर ग्रन्थमाला, ३, वि० स० २०११, पृ० ३७ पर प्रकाशित हो चुका है ।

रूप से स्वीकार किया। उनकी रचनाये इसकी प्रतीक हैं। आगे के कवि उनसे प्रभावित है। हिंदी के इन जैन कवियो का मत्र, तत्र और शाति पाठो की रचना मे मन न लगा। इनसे सबधित हिंदी काव्य सस्कृत-प्राकृत ग्रथो के अनुवाद-भर हैं। देवी पद्मावती, अम्बिका आदि मत्राधिष्ठात्री देवियो की स्तुतियाँ भी पूर्व काव्यो की छाया ही हैं। इनका मन लगा, ससार की आकुलता और राग-द्वेषो के चित्राकन मे। उन्होने पुन -पुन मन को वीतरागता की ओर आकर्षित किया। इस दिशा मे उनका पद-काव्य अनुपम है। मानव की मूलवृत्तियो के समन्वय ने उसे भाव-भीना बना दिया है। वे साहित्यिक कृतियाँ है। उनमे उपदेश की रूक्षता तो किञ्चिन्मात्र भी नही है। कोई भी बात, चाहे उपदेशपरक ही क्यो न हो, भावो के साँचे मे ढल कर साहित्य बन जाती है। जैन हिंदी के प्रबध और खण्ड काव्यो का मूल स्वर शात रस ही है। अन्य रस भी है, किंतु उनका समाधान शांतरस मे ही हुआ है। ऐसा करने मे कही भी खीचतान नही है, सब कुछ प्रासगिक और स्वाभाविक है।

जैन हिंदी के भक्ति-काव्यो मे यदि एक ओर सासारिक राग-द्वेषो से विरक्ति है, तो दूसरी ओर भगवान् से चरम शाति की याचना। उनको शाति तो चाहिए किंतु अस्थायी नही। वे उस शाति के उपासक हैं जो कभी पृथक् न हो। जब तक मन की दुविधा न मिटेगी, वह कभी भी शाति का अनुभव नही कर सकता। और यह दुविधा निजनाथ निरजन के सुमिरन करने से ही दूर हो सकती है। कवि बनारसीदास अपनी चिंता व्यक्त करते हुए कहते हैं, "न जाने कब हमारे नेत्र चातक अक्षयपद रूपी घन की बूँदें चख सकेंगे, तभी उनको निराकुल शाति मिलेगी। और न जाने वह घडी कब आयेगी जब हृदय मे समता भाव जगेगा। हृदय के अन्दर जब तक सुगुरु के वचनो के प्रति दृढ श्रद्धा उत्पन्न नही होगी, परमार्थ सुख नही मिल सकता। उसके लिए एक ऐसी लालसा का उत्पन्न होना भी अनिवार्य है, जिसमे घर छोड कर बन मे जाने का भाव उदित हुआ हो।[1]

---

१ कब जिननाथ निरञ्जन सुमिरो,
तजि सेवा जन जन की, दुविधा कब जैहै या मन की ॥१॥
कब रुचि सो पीवैं दृग चातक बूँद अखयपद घन की।
कब शुभ ध्यान धरो समता गहि करू न ममता तन की, दुविधा० ॥२॥

टिप्पणी अगले पेज पर देखिये

कवि बनारसीदास ने 'शातरस' को 'आत्मिक रस' कहा है, उसका आस्वादन करने से परम आनन्द मिलता है। वह आनन्द कामधेनु, चित्रावेलि और पञ्चामृत भोजन के समान समझना चाहिए।[1] इस आनन्द को साक्षात् करने वाला चेतन जिसके घट मे विराजता है, उस जिनराज की बनारसीदास ने वदना की है।[2]

यह जीव ससार के बीच मे भटकता फिरता है किन्तु उसे शाति नही मिलती। वह अपने अष्टादश दोषो से प्रपीडित है और आकुलता उसे सताती ही रहती है। भैया भगवतीदास का कथन है, हे जीव ! इस ससार के असख्य कोटि सागर को पीकर भी तू प्यासो ही है और इस ससार के दीपो मे जितना अन्न भरा है, उसको खाकर भी तू भूखा ही है। यह सब कुछ अठारह दोषो के कारण है। वे तभी जीते जा सकते हैं जब तू भगवान् जिनेन्द्र का ध्यान करे और उसी

कब घट अन्तर रहै निरन्तर,
दृढता सुगुरु वचन की।
कब सुख लहौं भेद परमारथ,
मिटै धारना धन की, दुविधा० ॥३॥
कब घर छाड होहुँ एकाकी,
लिये लालसा वन की।
ऐसी दशा होय कब मेरी,
हौं बलि बलि वा छन की, दुविधा० ॥४॥
बनारसीदास, अध्यात्मपदपक्ति, १३वा पद,
बनारसीविलास, जयपुर, १९५४ ई०, पृ० १३१-३२।

१ अनुभौ की केलि यहै कामधेनु, चित्रावेलि,
अनुभौ को स्वाद पच अमृत को कौर है॥
नाटक समयसार, उत्थानिका, १९वा पद्य।

२. सत्य-सरूप सदा जिन्ह कै,
प्रगट्यौ अवदात मिथ्यात निकंदन।
सात दसा तिन्ह की पहिचानि
करै कर जोरि बनारसि बदन॥
वही, छठा पद्य, पृ० ७।

पथ का अनुसरण करे, जिस पर वे स्वय चले थे।[1] भैया की दृष्टि से अष्टादश दोष ही अशाति के कारण हैं और वे भगवान् जिन के ध्यान से जीते जा सकते हैं। तभी यह जीव उस शाति का अनुभव करेगा, जो भगवान् जिनेन्द्र मे साक्षात् ही हो उठी थी। भैया का स्पष्ट अभिमत है कि राग-द्वेष मे प्रेम करने के ही कारण यह जीव अपने परमात्म-स्वरूप के दर्शनो का आनन्द नही ले पाता अर्थात् वह चिदानन्द के सुख से दूर ही रहता है। राग-द्वेष का मुख्य कारण है मोह, इसलिए मोह के निवारण से राग-द्वेष स्वय नष्ट हो जायेंगे, और राग-द्वेषो के टलने से मोह तो यत्किंचित् भी न रह पायेगा। कर्म की उपाधि को समाप्त करने का भी यह ही एक उपाय है। जड के उखाड डालने से भला वृक्ष कैसे ठहर सकता है। और फिर तो उसके डाल-पात, फल-फूल भी कुम्हला जायेंगे। तभी चिदानन्द का प्रकाश होगा और यह जीव सिद्धावस्था मे अनन्त सुख विलस सकेगा।

मोह के निवारे राग द्वेषहू निवारे जाहि,
राग-द्वेष टारें मोह नेकहूँ न पाइए।
कर्म की उपाधि के निवारिबे को पंच यहै,
जड के उखारे वृक्ष कैसे ठहराइए।
डार-पात फल-फूल सबै कुम्हलाय जाय,
कर्मन के वृक्षन को ऐसे कै नसाइए।
तबै होय चिदानन्द प्रगट प्रकाश रूप,
विलसै अनन्त सुख सिद्ध मे कहाइए॥[2]

---

१. जे तो जल लोक मध्य सागर असख्य कोटि
ते तो जल पियो पै न प्यास याकी गयी है।
जे ते नाज दीप मध्य भरे हैं अवार ढेर
ते तो नाज खायो तोऊ भूख याकी नई है।
तातैं ध्यान ताको कर जातैं यह जाय हर
अष्टादश दोष आदि ये ही जीत लई है।
वहे पथ तू ही साज अष्टादश जाहि भाजि
होय बैठि महाराज तोहि सीख दई है॥
भैय्या भगवतीदास, ब्रह्मविलास, जैनग्रथरत्नाकर कार्यालय, वम्बई, १९२६ ई०, शत अष्टोत्तरी, १६वा कवित्त, पृ० ३२।

२ मिथ्यात्वविध्वसन चतुर्दशी, ८ वा कवित्त, पृ० १२१।

अनन्त सुख ही परम शान्ति है। भैया ने एक सुन्दर-से पद मे जैन मत को शान्तिरस का मत कहा है। शान्ति की बात करने वाले ही ज्ञानी हैं, अन्य तो सब अज्ञानी ही कहे जायेंगे।[1]

भूधरदासजी के स्वामी की शरण तो इसीलिए सच्ची है कि वे समर्थ और सम्पूर्ण शान्ति-प्रदायक गुणो से युक्त हैं। भूधरदास को उनका बहुत थोडा भरोसा है। उन्होने जन्म-जरा आदि वैरियो को जीत लिया है और मरन की टेव से छुटकारा पा गये है। उनसे भूधरदास अजर और अमर बनने की प्रार्थना करते है। क्योकि जब तक यह मनुष्य ससार के जन्म-मरण से छुटकारा नही पायेगा, शान्ति प्राप्त नही कर सकता। जैन परम्परा मे देवों को अमर नही कहते। यहाँ अमरता का अर्थ है मोक्ष, जहाँ किसी प्रकार की आकुलता नही होती, ऐसी शान्ति वह दे सकता है, जिसने स्वय प्राप्त कर ली है। वे ससारी 'साहिब', जो बारम्बार जनमते है, मरते हैं, और जो स्वय भिखारी हैं, दूसरो का दारिद्र्य कैसे हर सकते है।[2] भगवान् 'शान्तिजिनेन्द्र', जो स्वय शान्ति के प्रतीक हैं, सहज मे ही अपने सेवको के भाव-द्वन्द्वो को हर सकते हैं। भूधरदास उन्ही से ऐसा करने की याचना भी करते है।[3] यह जीव सासारिक कृत्यो के करने मे तो बहुत ही उतावला रहता है, किंतु भगवान् के सुमरन मे सीरा हो जाता है। जैसे कर्म करता है, वैसे फल मे शाति और निराकुलता चाहता है, जो कि पूर्ण रीत्या असम्भव है। आक बोयेगा, आम कैसे मिलेंगे, नग हीरा नही हो सकता। जैसे यह जीव विषयो के बिना एक क्षण भी नही रह सकता, वैसे ही यदि प्रभु को निरतर जपे तो सासारिक अशाति को पार कर निश्चय शाति पा सकता है।[4]

शान्तभाव को स्पष्ट करने के लिए भूधरदास ने एक पृथक् ही ढग अपनाया है। वे सासारिक वैभवो की क्षणिकता को दिखाकर और तज्जन्य बेचैनी को उद्घोषित कर चुप हो जाते है और उसमे से शाति की ध्वनि, सगीत की झकार की तरह फूटती ही रहती है। धन और यौवन के मद मे उन्मत्त जीवो को सम्बोधन

---

१. शान्तरसवारे कहैं मन को निवारे रहैं
वेई प्रानप्यारे रहैं और सरवारे हैं॥
वही, ईश्वरनिर्णयपच्चीसी, छठा कवित्त, पृ० २५३।

२. भूधरविलास, कलकत्ता, ५३वा पद, पृ० ३०।

३ वही, ३४ वा पद, पृ० १६।

४. वही, २२ वा पद, पृ० १३।

करते हुए उन्होने कहा, "ए निपट गंवार नर। तुझे घमण्ड नही करना चाहिए। मनुष्य की यह काया और माया झूठी है, अर्थात् क्षणिक है। यह सुहाग और यौवन कितने समय का है, और कितने दिन इस ससार मे जीवित रहना है। हे नर! तू शीघ्र ही चेत जा और विलम्ब छोडे दे। क्षण-क्षण पर तेरे बध वढते जायेंगे, और तेरा पल-पल ऐसा भारी हो जायेगा, जैसे भीगने पर काली कमरी।"[1] भूधरदास ने एक दूसरे पद मे परिवर्तन शीलता का सुन्दर दृश्य अ कित किया है। उन्होंने कहा, "इस ससार मे एक अजब तमाशा हो रहा है, जिसका अस्तित्व-काल स्वप्न की भाँति है, अर्थात् यह तमाशा स्वप्न की तरह शीघ्र ही समाप्त भी हो जायेगा। एक के घर मे मन की आशा के पूर्ण हो जाने से मगल-गीत होते हैं, और दूसरे घर मे किसी के वियोग के कारण नैन निराशा से भर-भर कर रोते हैं। जो तेज तुरगो पर चढ कर चलते थे, और खासा तथा मलमल पहनते थे, वे ही दूसरे क्षण नगे होकर फिरते हैं, और उनको दिलासा देने वाला भी कोई दिखाई नही देता। प्रात ही जो राजतख्त पर बैठा हुआ प्रसन्न-वदन था, ठीक दोपहर के समय उसे ही उदास होकर वन मे जाकर निवास करना पडा। तन और धन अत्यधिक अस्थिर हैं,जैसे पानी का बताशा। भूधरदासजी कहते हैं कि इनका जो गर्व करता है, उसके जन्म को धिक्कार है।[2]" यह मनुष्य मूर्ख है, देखते हुए भी अ धा बनता है। इसने भरे यौवन मे पुत्र का वियोग देखा, वैसे ही अपनी नारी को काल के मार्ग मे जाते हुए निरखा, और इसने उन पुण्यवानो को, जो सदैव यान पर चढे ही दिखाई देते थे, रक होकर बिना पनहो के मार्ग मे पैदल चलते हुए देखा, फिर भी इसका धन और जीवन से राग नही घटा। भूधरदास का कथन है कि ऐसी सूझे की अँधेरी के राजरोग का कोई इलाज नही है।

"देखौ भरि जोवन मे पुत्र वियोग आयो,
तैसे ही निहारी निज नारी काल-मग मे।
जे जे पुण्यवान जीव दीसत हैं यान ही पै,
रक भये फिरै तेऊ पनही न पग मे।
ऐते पै, अभाग धन जीतब सौं धरै राग,
होय न विराग जानै रहैंगो अलग मैं।

---

१ वही, ११ वा पद, पृ० ७।

२ वही, ९ वा पद, पृ० ६।

आँखिन विलोकि अन्ध सूसे की अधेरी,
करै ऐसे राजरोग को इलाज कहा जग मैं ।।"[1]

एक वृद्ध पुरुष की दृष्टि घट गयी है, तन की छबि पलट चुकी है, गति मंद हो गयी है और कमर झुक गयी है । उसकी घर वाली भी रूठ चुकी है, और वह अत्यधिक रक होकर पलग से लग गया है । उसकी नार (गर्दन) काँप रही है और मुह से लार चू रही है । उसके सब अ ग–उपाग पुरानें हो गये हैं, किन्तु हृदय मे तृष्णा ने और भी नवीन रूप धारण किया है ।[2] जब मनुष्य की मौत आती है, तो उसने ससार मे रच-पच के जो कुछ किया है, सब कुछ यहाँ ही पड़ा रह जाता है । भूधरदास जी ने कहा है, "तीव्रगामी तुरग, सुन्दर रगो से रगे हुए रथ, ऊँचे-ऊँचे मत्त मतग, दास और खबास, गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ और करोड़ो की सम्पत्ति से भरे हुए कोश, इन सब को यह नर अ त मे छोड़ कर चला जाता है । प्रासाद खडे-के-खडे ही रह जाते हैं, काम यहाँ ही पडे रहते हैं, धन-सम्पत्ति भी यहाँ ही डली रहती है और घर भी यहाँ ही धरे रह जाते । " वह पद है—

"तेज तुरग सुरग भले रथ, मत्त मतग उतग खरे ही ।
दास खबास अवास अटा, धन जोर करोरन कोश भरे ही ।।
एसे बढ़े तौ कहा भयो हे नर, छोरि चले उठि अन्त छरे ही ।
धाम खरे रहे काम परे रहे दाम डरे रहे ठाम धरे ही ।।"[3]

---

१ भूधरदास, जैनशतक, कलकत्ता, ३५ वा पद, पृ० ११ ।

२ दृष्टि घटी, पलटी तन की छवि,
बक भई गति लक नई है ।
रूस रही परनी घरनी अति,
रक भयौ परियक लई है ।
कापत नार वहै मुख लार,
महामति सगति छोरि गई है ।
अग–उपग पुराने परे
तिसना उर और नवीन भई है ।।
जैनशतक, कलकत्ता, ३८ वा सवैय्या, पृ० १२ ।

३ वही, ३१ वा पद, पृष्ठ ११,

श्री द्यानतराय ने भी भगवान् जिनेन्द्र को शाति प्रदायक ही माना है। वे उनकी शरण मे इसलिये गये है कि शाति उपलब्ध हो सकेगी। उन्होने कहा "हम तो नेमिजी की शरण मे जाते हे क्योकि उन्हे छोडकर और कही हमारा मन भी नहीं लगता। वे ससार के पापो की जलन को उपशम करने के लिए बादल के समान है। उनका विरद भी तारन-तरन है। इन्द्र, फणीन्द्र और चन्द्र भी उनका ध्यान करते हैं। उनको सुख मिलता हे और दु ख दूर हो जाता है।"[१] यहाँ वादल से झरने वाली शीतलता परम शाति ही है। शाति को ही सुख कहते है और वह भगवान् नेमिनाथ के सेवको को प्राप्त होती ही है। द्यानतराय की दृष्टि मे भी राग द्वेप ही अशाति है और उनके मिट जाने से ही 'जियरा सुख पावैगा', अर्थात् उसको शाति मिलेगी। अरहत का स्मरण करने से राग–द्वेष विलीन हो जाते है, अत उनका स्मरण ही सर्वोत्तम है। द्यानतराय भी अपने वावरे मन को सम्वोधन करते हुए कहते हैं, "हे वावरे मन! अरहत का स्मरण कर। ख्याति, लाभ और पूजा को छोडकर अपने अन्तर मे प्रभु की लौ लगा। तू नर–भव प्राप्त करके भी उसे व्यर्थ मे ही खो रहा है और विपय-भोगो को प्रेरणा दे–देकर वढा रहा है। प्राणो के जाने पर हे मानव! तू पछ्ताये‌गा। तेरी आयु क्षण-क्षण कम हो रही है। युवती के शरीर, धन, सुत, मित्र, परिजन, गज, तुरग और रथ मे तेरा जो चाव है, वह ठीक नही है। ये सासारिक पदार्थ स्वप्न की माया की भाँति है, और आँख मीचते-मीचते समाप्त हो जाते है। अभी समय है, तू भगवान् का ध्यान कर ले और मगल-गीत गा ले। और अधिक कहाँ तक कहा जाये फिर उपाय करने पर भी सध नही सकेगा।"[२]

---

१ अब हम नेमिजी की शरन।
और ठौर न मन लगत है, छाडि प्रभु के शरण ।।१।।
सकल भवि-अघ-दहन वारिद, विरद तारन तरन।
इन्द्र चद फनिद ध्यावै, पाय सुख दुख हरन ।।२।।
द्यानतपदसग्रह, कलकत्ता, पहला पद, पद २।

२ अरिहन्त सुमर मन वावरे।
ख्याति लाभ पूजा तजि भाई, अन्तर प्रभु लौ लाव रे।
नर भव पाय अकारथ खोवै, विषय भोग जु वढावरे।
प्राण गये पछितैहै मनवा, छिन छिन छीजै आवरे।
युवती तन धन सुत मित परिजन, गज तुरग रथ चावरे।

टिप्पडी अगले पृष्ठ पर देखिये

शुक्लध्यान मे निरत तीर्थंकर शाति के प्रतीक होते हैं। उनमे से सभी प्रकार की बेचैनियाँ निकल चुकी होती है। उन्हे जन्म से ही पूर्व सस्कार के रूप मे वीतरागता मिलती है। उसी स्वर मे वे पलते, बढते, भोग-भोगते और दीक्षा लेते हैं। कभी विलासो मे तैरते-उतराते, कभी राज्यो का सचालन करते और कभी शत्रुओ को पराजित करते, किन्तु वह स्वर सदैव पवन की भाति प्राणो मे भिदा रहता। अवसर पाते ही वह उन्हे वन-पथ पर ले छोडता। चिंताएँ स्वत पीछे रह जाती। वीतरागता शुक्लध्यान के रूप मे फूल उठती। नासिका के अग्र भाग पर टिकी दृष्टि 'चिताभिनिरोध' को स्पष्ट कहती। वह एकाग्रता की बात कहती रहती। और फिर मुख पर आनन्द का अनवरत प्रकाश छिटक उठता। अनुभव रस अपनी परमावस्था मे प्रकट हो जाता। उसकी झलक से तीर्थंकर का सौदर्य अलौकिक रूप को जन्म देता, जिसे इन्द्र, सूर्य और चन्द्र जैसे रूपवन्तो का गर्व विगलित हो बह जाता। यह सच है कि उन परमशाति का अनुभव करते तीर्थंकर के दर्शन से 'अशुभ' नामधारी कोई कर्म टिक नही सकता था फिर यदि उनके स्मरण से अनहद बाजा बज उठता हो, तो गलत क्या है। जगराम ने लिखा है—

निरखि मन मूरति कैसी राजै।
तीर्थंकर यह ध्यान करत हैं, परमातम पद काजै।
नासा अग्र दृष्टि कौ धारै, मुख मुलकति मा गाजै।
अनुभव रस झलकत मानौं, ऐसा आसन शुद्ध विराजै।
अद्‌भुत रूप अनुपम महिमा, तीन लोक मे छाजै।
जाकी छबि देखत इन्द्रादिक, चन्द्र सूर्य गण लाजै।
धरि अनुराग विलोकत जाकौ, अशुभ करम तजि भाजै।
जो जगराम बनै सुमिरन तौ, अनहद बाजा बाजै॥[1]

ससार के दु खो से त्रस्त यह जीव शाति चाहता है। यहाँ शाति का अर्थ शाश्वत शाति से है। अर्थात् वैभव और निर्धनता दोनो ही मे उसे शाति नही मिलती। अथवा वह सासारिक वैभवो से उत्पन्न सुख-विलास को शाति नही

✓यह ससार सुपन की माया, आख मीचि दिखराव रे।
ध्याव-ध्याव रे अब है दाव रे, नाही मगल गाव रे।
द्यानत बहुत कहाँ लौं कहिये, फेर न कछू उपाव रे।
द्यानत पद सग्रह, ७० वा पद, पृ० २९–३०।

१ हस्तलिखित 'पद-सग्रह', न० ४९२, पत्र ७९, बधीचन्द जी का मन्दिर, जयपुर।

मानता। राग चाहे सम्पत्ति से सम्बन्धित हो या पुत्र-पौत्रादिक से, सदैव दाहकारी ही होता है, मखमल और कमख्वाब के गद्दो पर पडे लोगो को भी बेचैनी से तडफते देखा गया है। दूसरी ओर गरीबी तो नागिन-जैसी जहरीली होती ही है। भूधरदास की यह पक्ति "कहूँ न सुख ससार मे सब जग देख्यो छान" देश-काल से परे एक चिरतन तथ्य है। इहलौकिक आकुलता से सतप्त यह जीव भगवान् की शरण मे पहुँचता है और जो शाति मिलती है, वह मानो सुधाकर का बरसना ही है, चितामणिरत्न और नवनिधि का प्राप्त करना ही है। उसे ऐसा प्रतीत होता है, जैसे आगे कल्पतरु लगा हुआ है। उसकी अभिलाषायें पूर्ण हो जाती हैं। अभिलाषाओ के पूर्ण होने का अर्थ है कि सासारिक रोग और सताप सदा-सदा के लिए उपशम हो जाते हैं। फिर वह जिस सुख का अनुभव करता है वह कभी क्षीण नही होता और उससे अनुस्यूत शाति भी कभी घटती बढती नही। कवि कुमुदचन्द्र की यह विनती शातरस की प्रतीक है—

प्रभु पाय लागौ करू सेव थारी
तुम सुन लो अरज श्री जिनराज हमारी।
घणौ कस्ट करि देव जिनराज पाम्यौ
है सबै ससारनौ दुख वाम्यौ ॥
जब श्री जिनराजनौ रूप दरस्यौ।
जबै लोचना सुष सुधाधार वरस्यौ ॥
लह्या रतनचिंता नवनिधि पाई।
मानौ आगणै कलपतर आजि आयौ ॥
मनवाछित दान जिनराज पायौ।
गयो रोग सताप मोहि सरब त्यागी ॥[1]

ससार की परिवर्तनशील दशा के अकन मे जैन कवि अनुपम है। परिवर्तनशीलता का अर्थ है—क्षणिकता, विनश्वरता। ससार का यह स्वभाव है। अत यदि यहाँ सयोग मिलने पर कोई आनन्द-मग्न और वियोग होने पर दु ख-सतप्त होता है तो वह अज्ञानी है। यहाँ तो जन्ममरण, सपत्ति-विपत्ति, सुख-दु ख चिर-सहचर हैं। ससार मे यह जीव नाना प्रकार से विविध अवस्थाओ को भोगता

---

१ देखिए हस्तलिखित गुटका न० १३३, लेखनकाल-वि० स० १७७६, मदिर ठोलियान, जयपुर।

हुआ चक्कर लगाता है वह नट की भाँति नाना वेप और रूप धारण कर नृत्य करता है। नृत्य करने की बात सूरदास ने भी, 'अव मैं नाच्यो वहुत गुपाल' शीर्षक पद मे भली भाँति स्पष्ट की है। यहाँ नृत्य का अर्थ है कि जीव का ससार के चक्कर मे फसना और तज्जन्य सुख-दु ख भोगना। वह जव तक आवागमन के चक्कर मे फसा है, उसे नाचना पडेगा। यदि वह हर्ष और शोक को समान समझ कर सहज रूप मे उनसे उदासीन हो जावे तो वह ज्ञानी कहलाये और शाति का अनुभव करे। गीता का यह वाक्य 'सुख दु खे समे कृत्वा' जैन-शासन मे पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित है। कवि त्रिभुवनचन्द्र (१७वी शताब्दी) ने उसका सुन्दर निरूपण किया है—

> "जहाँ है सयोग तहाँ वियोग सही,
> जहाँ है जनम तहाँ मरण कौ वास हे।
> सपति विपति दोऊ एकही भवनदासी,
> जहाँ बसै सुष तहाँ दुप कौ विलास है।
> जगत मे वार-वार फिरै नाना परकार,
> करम अवस्था झूठी थिरता आस है।
> नट कैसे भेष और रूप होहिं तातै,
> हरप न सोग ग्याता सहज उदास हे॥"[1]

ससार मे आनेवाला यह जीव एक महार्घ तत्व से सम्वन्धित है। वह है उसका निजी चेतन। उसमे परमात्मशक्ति होती है। वह अपने आत्मप्रकाश से सदैव प्रदीप्त रहता है। किंतु यह जीव उसे भूल जाता है। इसी कारण उसे ससार मे नृत्य करने के लिए बाध्य होना पडता है। इस प्रकार भवन मे 'भरमते-भरमते' उसे अनादिकाल वीत जाता है। उसे सम्वोधन कर पाण्डे रूपचन्द ने लिखा है—अहो जगत के राय! तुम क्षणिक इन्द्रिय सुख मे लगे हो, विषयो मे लुभा रहे हो। तुम्हारी तृष्णा कभी बुझती नही। विषयो का जितना अधिक सेवन करते हो, तृष्णा उतनी ही बढती है, जैसे खारा जल पीने से प्यास और तीव्र ही होती है। तुम व्यर्थ ही इन दुखो को झेल रहे हो। अपने घर को क्यो नही सभालते। अर्थात् तुम्हारा घर शिवपुर है। तुम शिवरूप ही हो। तुम अपना-पर भूल गये हो। तुम इस ससार के मालिक हो। चेतन को यदि यह स्मरण

---

१ अनित्यपचाशत (हस्तिलिखित प्रति), लेखनकाल वि० स० १६५२, गुटका न० ३५, लूणकरण जी का मन्दिर, जयपुर।

हो जाये कि वह स्वय भगवान् है तो ससार के सभी दुख स्वत उपशम हो जाय– जहाँ-के-तहाँ पडे रहे । ससार मे जन्म लेने के साथ ही यह जीव विस्मरणशील मनोवेग साथ लाता है । कस्तूरीमृग को यह विदित नही रहता कि वह सुगन्धि उसकी नाभि मे मौजूद है, जिसके लिए वह भटकता फिरता है । मन्दिर, मस्जिद और काबे मे परमात्मा को ढूँढनेवाला यह जीव नही जानता कि वह तो उसके भीतर ही रहता है । इसीलिए जीव अज्ञानी कहलाता है । इसीलिए वह सासारिक आकुलताओ मे व्याकुल बना रहता है । उसकी शाति का सबसे बडा उपाय है कि वह अपने को पहचाने । पाण्डे रूपचन्द्र ने लिखा है—

अपनो पद न विचारि, के अहो जगत के राय ।
भव वन छायक हो रहे, शिवपुर सुधि विसराय ।।
भव–भव भरमत ही तुम्हे, बीतो काल अनादि ।
अब किन घरहिं सवारई, कत दुख देखत वादि ।।
परम अतीन्द्रिय सुख सुनो, तुमहिं गयो सुलझाय ।
किंचित् इन्द्रिय सुख लगे, विषयन रहे लुभाय ।।
विषयन सेवत हो भले, तृष्णा तो न बुझाय ।
ज्यौ जल खारो पीवतै, बाढै तिस अधिकाय ।।[1]

श्री सुमित्रानन्दन पत ने 'परिवर्तन' मे लिखा है, "मूँदती नयन मृत्यु की रात, खोलती नवजीवन की प्रात, शिशिर की सर्व प्रलयकर वात, बीज बोती अज्ञात ।" उनका तात्पर्य है कि मौत मे जन्म और जन्म मे मौत छिपी है । यह ससार अस्थिर है । जीवन अमर नही है । ससार के सुख चिरन्तन नही हैं । श्री पत जी की कविता का स्वर 'जैन टोन' है । यदि यह कहा जाये कि पत जी की अन्य कविताओ का आध्यात्मिक स्वर जैन परम्परा से हू–बहू मिलता–जुलता है, तो अत्युक्ति न होगी । जैन सास्कृतिक परिप्रेक्ष्य मे उन सबका अध्ययन होना आवश्यक है । अठारहवी शताब्दी के प्रारम्भ (१७०५) मे एक जैन कवि प० मनोहरदास हुए हैं । भावधारा की दृष्टि से उन्हे श्री पत जी का पूर्व सस्करण ही कहा जा सकता है । उन्होने एक जगह लिखा है, "हे लाल ! दिन–दिन आव घटती है, जैसे अ जली का जल शनै. शनै रिस कर नितात चू जाता है । ससार की कोई वस्तु स्थिर नही है, इसे मन मे भलीभाँति समझ ले । तूने अपना बाल-

---

१ देखिए, पाण्डे रूपचन्द जी रचित परमार्थी दोहा शतक', यह 'रूपचन्द-शतक' के नाम से 'जैन हितैषी' भाग ६, अक ५–६ मे प्रकाशित हो चुका है

पन खेल मे खो दिया। जवानी मस्ती मे विता दी। इतने राग-रगो मे मस्त रहा कि वृद्धावस्था मे शक्ति बिलकुल क्षीण हो गई। यदि तूने यह सोचा था कि वृद्ध होने पर जप-तप कर लू गा, तो वह तेरा अनुमान असत्य की छाया ही थी। तू ससार के उन पदार्थों मे तल्लीन है, जिनका कोई वास्तविक अस्तित्व नही है। वे सेमल के फूल की तरह झूँठे हैं। प्रात के ओस कणो की भाँति शीघ्र ही विलुप्त हो जायेंगे।" वे पक्तियाँ हैं—

दिन दिन आव घटै है रे लाल,
ज्यौ अजली को नीर मन माहि ला रे।
कीयो जाय ठोकर लै रे लाल,
थिरता नही ससार मन माहि ला रे।।
वालपणौ खोयो ख्याल मैं रे लाल,
ज्वाणपणौ उनमान मन माहि ला रे।
वद्धपणौ सकति घटी रे लाल,
करि करि नाना रगि मन माहि ला रे।
समकित स्यौ परच्यौ करौ रे लाल,
मिथ्या सगि निवारि मन माहि ला रे।
ज्यौ सुष पावै अति घणा रे लाल,
मनोहर कहैय विचारि मन माहि ला रे।।[1]

भारतीय मन सदैव भक्ति-धारा से सिञ्चित होता रहा। उसके जन्म-जन्म के सस्करण भक्ति के साँचे मे ढले हैं। हो सकता है कि उसकी विधाये विकृत दिशा की ओर मुड गई हो, किन्तु मूल मे विराजी भक्ति किंचिन्मात्र भी इधर-से-उधर नही हुई, यह सच है। एक विलायत से लौटा भारतीय भी मन से भक्त होता है। विज्ञान की प्रयोगशालाओ मे डूबा वैज्ञानिक भगवान् को निरस्त नही कर पाता। आधुनिकता के पैरोकार परमपिता का नाम लेते देखे गये हैं। वैदिक और श्रमण दोनो परम्परायें भगवान् के नाम मे अमित बल स्वीकार करती है। सच्चे हृदय से लिया गया नाम कभी निष्फल नही जाता। उससे विपत्तिया दूर हो जाती है। बेचैन, व्याकुल और तडफता मन शाति का अनुभव करता है, यह केवल अतिशयोक्ति नही है कि गणिका, गज और अजामिल नाम लेने मात्र से

---

१ देखिए, 'सुगुरुसीष', प० मनोहरदास रचित, हस्तलिखित गुटका न० ५४, वेष्टन न० २७२, जैन मन्दिर, बडौत (मेरठ)।

तर गए थे। अवश्य ही उसने उनके हृदय मे परम शाति को जन्म दिया होगा। परम शाति ही परम पद है—मोक्ष है, ससार से तिरना है। यह बात केवल तुलसी और सूर ने ही नही लिखी, जैन कवि भी पीछे नही रहे। महा कवि मनराम ने लिखा, "अर्हन्त के नाम से आठ कर्म रूपी शत्रु नष्ट हो जाते है।"[1] यशोविजय जी का कथन है, "अरे ओ चेतन! तू इस ससार के भ्रम मे क्यो फसा है। भगवान् जिनेन्द्र के नाम का भजन कर। सद्गुरु ने भगवान् का नाम जपने की बात कही है।"[2] द्यानतराय का अटूट विश्वास है, "रे मन! भज दीनदयाल। जाके नाम लेत इक छिन मे, कटै कोट अघजाल।"[3] कवि विश्वभूपरग की दृष्टि मे इस बौरे जीव को सदैव जिनेन्द्र का नाम लेना चाहिए। यदि यह परम तत्त्व प्राप्त करना चाहता है तो तन की ओर से उदासीन हो जाये। यदि ऐसा नही करेगा तो भव-समुद्र मे गिर जायेगा और उसे चहुँगति मे घूमना होगा। विश्वभूषरग भगवान् पदपकज मे इस भाँति राच गए हैं, जैसे कमलो मे भौरा—

> "जिन नाम लै रे बौरा, जिन नाम लै रे बौरा।
> जो तू परम तत्त्व कौ चाहै तौ तन कौ लगै न जौरा।।
> नातरु कै भवदधि मे परिहै भयौ चहुँगति दौरा।
> विसभूषरग पदपकज राच्यौ ज्यो कमलन बिच भौरा।।"[4]

"भैया" भगवतीदास ने 'ब्रह्मविलास' मे भगवद्‌नाम की महिमा का नानाप्रकार से विवेचन किया है। उनकी मान्यता है कि "भगवान का नाम कल्पवृक्ष, कामधेनु, चितामरिग और पारस के समान है। उससे इस जीव की इच्छायें भरती हैं। कामनाये पूर्ण होती हैं। चिता दूर हो जाती है और दारिद्र्य डर जाता है। नाम एक प्रकार का अमृत है, जिसके पीने से जरा रोग नष्ट हो जाता है। अर्थात्

---

१ करमादिक अरिन कौ हरै अरिहन्त नाम,
सिद्ध करै काज सब सिद्ध को भजन है।।
मनराम विलास, (हस्तलिखित प्रति), मन्दिर ठोलियान, जयपुर।

२ "जिनवर नाम सार भज आतम, कहा भरम ससारे।
सुगुरु वचन प्रतीत भये तब, आनन्द घन उपगारे।।"
आनन्दघन अष्टपदी, आनन्दघन, आनन्दघन बहत्तरी,
रायचन्द ग्रन्थमाला, बम्बई।

३ द्यानतपदसग्रह, कलकत्ता, ६६ वा पद, पृ० २८।

४ हस्तलिखित पद सग्रह, न० ५८, दि० जैन मन्दिर, बडौत, पृ० ४८।

मृत्यु की आशका नही रह पाती । यह जीव मृत से अमृत की ओर बढ जाता है । मौत का भय ही दुख है । उसके दूर होने पर सुख स्वत प्राप्त हो जाता है । ऐसा सुख जो क्षीण नही होता । इसे ही शाश्वत आनन्द कहते है । किंतु उसे वही प्राप्त कर पाता है, जो वीतरागता की ओर बढ रहा है ।"[1] ऐसी शर्त तुलसी ने 'ज्ञान-भक्ति विवेचन' मे भी लगायी है ।[2] उनकी दृष्टि मे हर कोई भगवान् का नाम नही ले सकता । पहले उसमे नाम लेने की पात्रता चाहिए । इसका अर्थ यह भी है कि पहले मन का भगवान् की ओर उन्मुख होना आवश्यक है । ऐसा हुए बिना नाम लेने की बात नही उठती । उसके लिए एक जैन परिभाषिक शब्द है 'भव्य,' उसका तात्पर्य है—भवसागर से तरने की ताकत । जिसमे वह नही उस पर भगवान की कृपा नही होती । भव्यत्त्व उपार्जित करना अनिवार्य है । यदि भगवान् के नाम को कोई भव्य जीव लेता है तो उसके भवसागर तरने मे कोई कमी नही रहती । इस भव्यत्त्व को वैष्णव और जैन दोनो ही कवियो ने स्वीकार किया ।

भारतीय भक्ति परम्परा की एक प्रवृत्ति रही है कि अपने आराध्य की महत्ता दिखाने के लिए अन्य देवो को छोटा दिखाया जाये । तुलसी के राम और सूर के कृष्ण की ब्रह्म, शिव, सनक, स्यन्दन आदि सभी देव आराधना करते है । तुलसी ने यहाँ तक लिखा है कि जो स्वय भीख मागते है, वे भक्तो की मनोकामनाओ को कैसे पूरा करेगे । सूरदास ने अन्य देवो से भिक्षा मागने को रसना का

---

१ तेरो नाम कल्पवृक्ष इच्छा को न राखे उर,
तेरो नाम कामधेनु कामना हरत है ।
तेरो नाम चिन्तामनि चिन्ता को न राखे पास,
तेरो नाम पारस सो दारिद हरत है ॥
तेरो नाम अमरत पिये तै जरा रोग जाय,
तेरो नाम सुख मूल दुख को हरत है ।
तेरो नाम वीतराग धरै उर वीतरागी,
भव्य तोहि पाय भवसागर तरत है ॥
सुपथ-कुपथ पचासिका, ब्रह्मविलास, भैया भगवतीदास, पृ० १८० ।

२ भाव सहित खोजइ जो प्रानी ।
पाव भगति मनि सब सुख खानी ॥
देखिए, रामचरितमानस, ज्ञान-भक्ति विवेचन ।

व्यर्थ प्रयास कहा ।[1] तुलसी का कथन है कि अन्य देव माया से विवश है, उनकी शरण मे जाना व्यर्थ है ।[2] तुलसी की दृष्टि मे राम ही शील, शक्ति और सौन्दर्य के चरम अधिष्ठाता है । कृष्ण भी वैसे नही हो सकते । सूर का समूचा 'भ्रमर गीत' निर्गुण ब्रह्म के खण्डन मे ही खपा-सा प्रतीत होता है । जैन कवियों ने भी सिवा जिनेन्द्र के अन्य किसी को आराध्य नही माना । मैंने अपने ग्रन्थ 'जैन हिन्दी भक्ति काव्य और कवि' मे भक्तिधारा की इस प्रवृत्ति का समर्थन किया है । मेरा तर्क है कि भक्त कवियो ने यह काम आराध्य-मे एकनिष्ठ भाव जगाने के लिए ही किया होगा । किन्तु साथ ही मैंने यह भी स्वीकार किया है कि इस 'एकनिष्ठता' की ओट मे वैष्णव और जैन दोनो ही कड्वाहट नही रोक सके । दोनो ने शालीनता का उल्लघन किया । फिर भी अपेक्षाकृत जैनकवि अधिक उदार रहे । उनमे अनेक ने तो पूर्ण उदारता बरती । यह इतिहास-प्रसिद्ध बात है कि प्रभास पट्टन के सोमनाथ के मन्दिर के उद्धार मे सम्राट कुमारपाल को आचार्य हेमचन्द्र का पूर्ण आशीर्वाद प्राप्त था । हेमचन्द्र ने बिना तरतमाश के उस देव को नमस्कार किया, जिसके रागादिक दोष क्षय को प्राप्त हो गये हो, फिर वह देव ब्रह्मा, विष्णु, हर या जिन कोई भी हो । उनका एक श्लोक है—

> "भवबीजाकुरजनना रागाद्या क्षयमुपागता यस्य ।
> ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै ।।
> यत्र तत्र समये यथा तथा योऽसि सोऽस्यभिधया यया तया ।
> वीतदोषकलुष स चेद्भवानेक एव भगवन्नमोस्तु ते ।।"[3]

इसी भाँति एक अन्य जैन भक्त कवि देवी पद्मावती की आराधना करने को उद्यत हुआ तो अन्य देवियो की निन्दा न कर सका । उसने कहा कि देवी पद्मावती ही सुगतागम मे तारा, शैवागम मे गौरी, कौलिक शासन मे बज्रा और

---

१ जाँचक पै जाँचक कह जाँचै
जो जाँचै तो रसना हारी ।।
सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, ३४ वा पद, पृ० २० ।

२ देव दनुज मुनि नाग मनुज सब माया-बिवस बिचारे ।
तिनके हाथ दास तुलसी प्रभु, कहा अपुनपौ हारे ।।
विनयपत्रिका, पूर्वार्घ, १०१ वा पद, पृ० १९२ ।

३ आचार्य हेमचन्द्र का श्लोक, देखिए मेरा ग्रन्थ 'हिन्दी जैन भक्ति काव्य-और कवि', पहला अध्याय, पृ० १२ ।

साख्यागम मे प्रकृति कहलाती है। उनमे कोई अन्तर नही है। सब समान है। सब की शक्तियाँ समान है। उस मा भारती से समस्त विश्व व्याप्त है। ऐसा आराधक ही सच्चा भक्त है, जिसमे दूसरो के प्रति निन्दा और कटुता का भाव आ गया, वह सात्त्विकता की वात नही कर सकता। उसका भाव दूषित है। जिसने भक्ति क्षेत्र मे भी पार्टीवन्दी की वात की वह भक्त नही और चाहे कुछ हो। ऐसा व्यक्ति शान्ति का हामी नही हो सकता। उसका काम व्यर्थ होगा और आराधना निष्फल। वीतरागियो की भक्ति पूर्ण रूप से अहिंसक होनी चाहिए, यदि ऐसी नही हुई तो भक्त के भावो की विकृति ही माननी पडेगी। किन्तु इस क्षेत्र मे बहुत हद तक अहिंसा को प्रश्रय मिला, यह मिथ्या नही है। उपर्युक्त श्लोक है—

"तारात्व सुगतागमे, भगवती गौरीति शैवागमे ।
वज्रा कौलिकशासने जिनमते पद्मावती विश्रुता ।।
गायत्री श्रुतिशालिनी प्रकृतिरित्युक्तासि साख्यागमे ।
मातर्भारति ! कि प्रभूत भणित, व्याप्त, समस्त त्वया ।।"[१]

यह पावनता जैन हिन्दी कवियो मे भी पनपी। उनके काव्य मे अपने आराध्य की महत्ता है, अन्य देवो की बुराई भी। किन्तु अनेक स्थल तरतमाश से ऊपर उठे है, या उन्हे वचाकर निकल गए है। महात्मा आनन्दघन का ब्रह्म अखड सत्य था। अखड सत्य वह है जो अविरोधी हो, अर्थात् उनमे किसी भी दृष्टि से विरोध की सम्भावना न हो। कोई धर्म या आदर्श, जिसका दूसरे धर्मो से विरोध हो, अपने को अखण्ड सत्य नही कह सकते। वे खण्ड रूप से सत्य हो सकते है। आनन्दघन का ब्रह्म राम, रहीम, महादेव, ब्रह्मा और पारसनाथ सब कुछ था। उनमे आपस मे कोई विरोध नही था। वे सव एक थे। न उनमे तरत-माश था और न उनके रूप मे भेद था। महात्मा जी का कथन था कि जिस प्रकार मिट्टी एक होकर भी पात्र-भेद से अनेक नामो से पुकारी जाती है, उसी प्रकार एक अखण्ड रूप आत्मा मे विभिन्न कल्पनाओ के कारण अनेक नामो की कल्पना कर ली जाती है। उनकी दृष्टि से निज पद मे रमने वाला राम है, रहम करने वाला रहमान है, कर्मों का कर्षण करने वाला कृष्ण है, निर्वाण पाने वाला महादेव है, अपने रूप का स्पर्श करने वाला पारस है, ब्रह्म को पहचानने

---

१ पद्मावती स्तोत्र, २० वा श्लोक, भैरवपद्ममावती कल्प, अहमदाबाद, परिशिष्ट ५, पृ० २८।

वाला ब्रह्म है। वे इस जीव के निष्कर्म चेतन को ब्रह्म कहते हैं। उनका कथन है—

> "राम कहो, रहमान कहो कोऊ, कान कहो महादेव री।
> पारसनाथ कहो, कोई ब्रह्मा, सकल ब्रह्म स्वयमेव री।
> भाजन भेद कहावत नाना, एक मृतिका रूप री।
> तैसे खण्ड कल्पना रोपित, आप अखण्ड सरूप री।
> निज पद रमै राम सो कहिए, रहिम करे रहिमान री।
> कर्षे करम कान सो कहिए, महादेव निर्वाण री।
> परसे रूप पारस सो कहिए, ब्रह्म चिन्हे सो ब्रह्म री।
> इह विधि साधो आनन्दघन, चेतनमय निष्कर्म री।।"[1]

इस प्रकार की उदार परम्पराओ ने जैन काव्यो मे शान्ता भक्ति के रूप को शालीनता के साथ पुष्ट किया था। इसी सन्दर्भ मे माया की वात भी आ जाती है। माया, मोह और शैतान पर्यायवाची हैं। सत, वैष्णव और जैन तीनो ही कवियो ने शान्ति के लिए उसके निरसन को अनिवार्य माना। वह अज्ञान की प्रतीक है। उसके कारण ही यह जीव ससार के आवागमन मे फसा रहता है। यदि वह हट जाय तो समस्त विश्व ब्रह्म रूप प्रतिभासित हो उठे। वह दो प्रकार से हट सकती है—ज्ञान से और भक्ति से। साख्यकारिका मे एक अत्यधिक मनो-रजक दृष्टान्त आया है। प्रकृति सुन्दरी है और पुरुष को लुभाने मे निपुण है, किन्तु जब पुरुष उसे ठीक से पहचान जाता है, तो लज्जा से अपना बदन ढक दूर हो जाती है। ठीक से पहचानने का अर्थ है कि जब पुरुष को ज्ञान उत्पन्न हो जाता है और वह प्रकृति के मूल रूप को समझ जाता है तो वह प्रकृति–माया पलायन कर जाती है।[2] जैन सिद्धात मे ज्ञान ही आत्मा है। यहाँ आत्मा का अर्थ है—विशुद्ध आत्मा अर्थात् जब जीवात्मा मे विशुद्धता आती है तो मोह स्वत ही

---

१ महात्मा आनन्दघन, आनन्दघनपदसग्रह, अध्यात्मज्ञान प्रसारक मण्डल, बम्बई, ६७ वा पद।

२. प्रकृते सुकुमारतर न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति।
या दृष्टाऽस्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य ।।
साख्यकारिका, चौखम्बा सस्कृत सीरीज, प्रथम सस्करण, वि० स० १९९७, ६१ वां श्लोक।

हटता जाता है। जैन आचार्यों ने आठ कर्मों में मोहनीय को प्रबलतम माना है। 'स्व' को सही रूप मे पहचानने मे वह ही सबसे बडा बाधक है। उसकी जड को निर्मूल करने मे ज्ञानी आत्मा ही समर्थ है। बनारसीदास का कथन है, "माया बेली जेती तेती रेते मे धारेती सेती, फदा ही को कदा खोदे खेती को सो जोधा है।[1] साख्य-की-सी बात भैय्या भगवतीदास ने 'ब्रह्म विलास' मे कही है। उन्होने लिखा कि काया रूपी नगरी मे चिदानन्द रूपी राजा राज्य करता है। वह माया रूपी रानी मे मग्न रहता है। जब उसका सत्यार्थ की ओर ध्यान गया, तो ज्ञान उपलब्ध हो गया और माया की विभोरता दूर हो गई, "काया-सी जु नगरी मे चिदानन्द राज करै, माया-सी जु रानी पै मगन बहु भयो है।"[2] कबीरदास ने भी जब उसका भेद पा लिया तो वह बाहर जा पडी। उसका भेद पाना, ज्ञान प्राप्त करना ही है। ज्ञान के बिना माया मजबूत चिपकन के साथ ससारी जीव को पकडे रहती है।

तुलसीदास ने भक्ति के बिना माया का दूर होना असम्भव माना है। इस सम्बन्ध मे रघुपति की दया ही मुख्य है। वह भक्ति से प्राप्त होती है। तुलसी ने विनय पत्रिका मे लिखा है, 'माधव अस तुम्हारि यह माया, करि उपाय पचि मरिय तरिय नहिं, जब लगि करहु न दाया।'[3] जैन कवि भूधरदास ने मोह-पिशाच को नष्ट करने के लिए 'भगवन्त भजन' पर बल दिया। उसको भूलने पर तो मोह से कोई छुटकारा नही पा सकता। उन्होंने लिखा है, "मोह पिशाच छल्यो मति मारै, निजकर कध वसूला रे। भज श्री राजमतीवर भूधर दो दुरमति सिर धूला रे। भगवत भजन क्यो भूला रे।[4]" कबीर की दृष्टि मे माया से छुटकारा प्राप्त करने के लिए सतगुरु की कृपा आवश्यक है। कबीर ने सद्गुरु को गोविन्द से बडा माना है। उनका कथन है कि यदि गुरु की कृपा न होती तो वह इस जीव को नष्ट कर डालती क्योकि वह मीठी शक्कर की भाँति शीरनी होती है।[5] जायसी ने भी माया का लोप करने के लिए सतगुरु की कृपा

---

१ नाटक समयसार, मोक्षद्वार, ३ रा पद्य।

२ शत अष्टोत्तरी, २८ वा सवैय्या, ब्रह्मविलास, पृ० १४।

३ विनयपत्रिका, पूर्वार्ध, ११६ वा पद।

४ भूधरविलास, कलकत्ता, १६ वां पद, पृष्ठ ११ वा।

५ कबीर माया मोहनी, जैसी मीठी खाड।
सतगुरु की कृपा भई, नही तो करती भाड॥
'माया कौ अग', ७वी साखी, कबीर ग्रन्थावली, काशी, चतुर्थ सस्करण, पृ० ३३।

को महत्वपूर्ण समझा था। उन्होने लिखा है कि जब तक कोई गुरु को नही पहचानता उसके और परमात्मा के मध्य अन्तराल बना ही रहता है। जब पहचान लेता है तो जीव और ब्रह्म एक हो जाते हैं। उनका मध्यन्तर मिट जाता है। जायसी की मान्यता है कि यह अन्तर माया जन्य ही है।[1] भैय्या भगवतीदास को पूरा विश्वास है कि सतगुरु के वचनो से मोह विलीन होता है और आत्मरस प्राप्त होता है।[2] बनारसीदास ने गुरु को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। मोह जन्य बेचैनी दूर होने का एकमात्र उपाय गुरु का आदेश है। यदि आत्मा 'अलख अखय निधि' लूटना चाहती है तो उसे गुरु की सद्वाणी से लाभान्वित होना ही चाहिए। उनका कथन है, "गुरु उपदेश सहज उदयागति, मोह विकलता छूटे। कहत बनारसि है करुनारसि अलख अखयनिधि लूटै।[3] इस घट मे सुधा सरोवर भरा है। जिससे सब दुख विलीन हो जाते हैं। इस सरोवर का पता लगना आवश्यक है। वह सतगुरु से लग सकता है। सतगुरु भक्ति से प्रसन्न होते हैं। उन पर मन केन्द्रित करना पडता है। कवि विनय विजय ने लिखा—

"सुधा सरोवर है या घट मे, जिसतें सब दुख जाय।
विनय कहे गुरु देव दिखावे, जो लाऊँ दिल ठाय।।
प्यारे काहे कू ललचाय।।[4]

आत्मरस ही सच्ची शाति है। वही अलख अखय निधि है। वह अनुभूति के बिना नही होता। ब्रह्म की, भगवान की या परमात्मा की अनुभूति ही आत्मरस है। अनुभूति के विना लाखो करोडो भवो मे जप-तप भी निरर्थक हैं। एक स्वास

---

1 जब लगि गुरु कौ अहा न चीन्हा।
कोटि अन्तरपट बीचहि दीन्हा।।
जब चीन्हा तब और न कोई।
तव मन जिउ जीवन सब सोई।।
पद्मावत, जायसी, का० ना० प्र० सभा, काशी।

2 सतगुरु वचन धारिले अब के, जातें मोह विलाय।
तब प्रगटै आतमरस भैया, सो निश्चय ठहराय।।
परमार्थ पद पक्ति, भैया भगवतीदास, २५ वा पद, ब्रह्मविलास, पृ० ११८।

3 अष्टपदीमल्हार, ८ वा पद्य बनारसीविलास, जयपुर, पृ० २३९।

4 'प्यारे काहे कू ललचाय' शीर्षक पद, विनयविजय, अध्यात्मपदावली, भारतीयज्ञान-पीठ, काशी, पृ० २२१।

की अनुभूति जितना काम करती है, भव-भव की तपस्या और साधना नही। द्यानतराय ने लिखा है, "लाख कोटि भव तपस्या करतै जितो कर्म तेरो जर रे। स्वास उस्वास माहिं सो नासै जब अनुभव चित धर रे।"[1] बनारसीदास ने अनुभूति को अनुभव कहा है। उसका आनन्द कामधेनु, चित्राबेलि के समान है। उसका स्वाद पचामृत भोजन जैसा है।[2] कवि रूपचन्द ने 'अध्यात्मसवैया' मे स्वीकार किया है, "आत्म ब्रह्म की अनुभूति से यह चेतन दिव्य प्रकाश से युक्त हो जाता है। उसमे अनन्तज्ञान प्रकट होता है और यह अपने आप मे ही लीन होकर परमानन्द का अनुभव करता है।"[3] आत्मा के अनूपरस का सवेदन करने वाले अनाकुलता प्राप्त करते हैं। आकुलता बेचैनी है। जिससे बेचैनी दूर हो जाय, वह रस अमुपम ही कहा जायेगा। यह रस अनुभूति से प्राप्त होता है, तो अनुभूति करने वाला जीव शाश्वत सुख को विलसने मे समर्थ हो जाता है। प० दीपचन्द शाह ने ज्ञानदर्पण मे लिखा है, "अनुभौ विलास मे अनत सुख पाइयतु। भव की विकारता की भई है उच्छेदना ॥" उन्होने एक दूसरे स्थान पर लिखा, "अनुभौ उल्हास मे अनतरस पायौ महा ॥" यह अखण्ड रस और कुछ नही साक्षात् ब्रह्म ही है। अनुभूति की तीव्रता इस जीव को ब्रह्म ही बना देती है। आत्मा परमात्मा हो जाती है। अनुभव से ससार का आवागमन मिटता है। यदि अनुभव न जगा तो, "जगत की जेती विद्या भासी कर रेखावत, कोटिक जुगातर जो महा तप कीने हैं। अनुभौ अखण्डरस उरमे न आयौ जो तो सिव पद पावै नाहिं पर रस भीने हैं ॥"[4] किन्तु यह महत्वशाली तत्व भगवान की कृपा से ही प्राप्त हो सकता है। महात्मा आनन्दघन का कथन है, "मोकौ दे निज अनुभव स्वामी-निज अनुभूति निवास स्वधामी।"[5] इस अनुभूति से जो सयुक्त है वही अनन्त गुणातम धाम है। अनुभव रूप होने के कारण ही भगवान नाम भी दुख हरण करने वाला और अतिभव को दूर करने वाला है। महात्मा का कथन है कि प्रभु के समान और कोई नटवा नही है। उसमे से हेयोपादेय प्रकट होते हैं।

---

१ द्यानतपदसग्रह, कलकत्ता, पद ७३ वा, पृ० ३१।

२ नाटक समयसार, बनारसीदास, बम्बई, १९ वा पद्य, पृ० १७-१८।

३ देखिए अध्यात्मसवैया, रूपचन्द, मन्दिर बधीचन्द जी, जयपुर की हस्तलिखित प्रति।

४ ज्ञानदर्पण, प० दीपचन्द शाह, तीनो उद्धरण क्रमश —पद्य न० १८१, १७५, १२९, सकलित अध्यात्म पचसग्रह, प० नाथूलाल जैन सम्पादित, इन्दौर, वि० स० २००५, पृष्ठ सख्या—६१, ५९, ४४ क्रमश।

५ आनन्दघनपदसग्रह, महात्मा आनन्दघन, बम्बई, २१ वा पद।

अनुभव रस का देने वाला इष्ट है, वह परम प्रकृष्ट और सब कष्टो से रहित है। उसकी अनुभूति ही चित्त की भ्राति को हर सकती है। वही सूर्य की किरण की भाँति अज्ञान के तमस को नष्ट करती है। वह माया रूपी यामिनी को काटकर दिन के प्रकाश को जन्म देती है। वह मोहासुर के लिए काल रूपा है—

"या अनुभूति रावरी हरै चित्त की भ्राति।
सा शुद्धा तुव भानु की किरण जु परम प्रशान्ति॥
किरण जु परम प्रशान्ति तिमिर यवन जु कौ नासै।
माया यामिनी मेटि वोध दिवसै जु विभासै॥
मोहासुर क्षयकार ज्ञानमूला जु विभूती।
भाषै दौलति ताहि रावरी या अनुभूती॥"[1]

जैन कवियो के प्रवन्ध और खण्ड काव्यो मे 'शान्त-रस' प्रमुख है। अन्य रसो का भी यथा प्रसग सुन्दर परिपाक हुआ है, किन्तु वे सब इसके सहायक भर है। जिस प्रकार अवान्तर कथाये मुख्य कथा को परिपुष्ट करती है, उसी प्रकार अन्य रस प्रमुख रस को और अधिक प्रगाढ करते है। एक प्रवन्ध काव्य मे मुख्य रस की जितनी महत्ता होती है, सहायक रसो की उससे कम नही। प० रामचन्द्र शुक्ल अवान्तर कथाओ को रस की पिचकारियाँ कहते थे, सहायक रस भी वैसे ही होते है। वे अवान्तर कथाओ और प्रासगिक घटनाओ के सघटन मे सन्निहित होते हैं और वहाँ ही काम करते है। एक महानद के जल प्रवाह मे सहायक नदियो के जल का महत्वपूर्ण योगदान होता है, वैसे ही मुख्य रस की गति भी अन्य रसो से परिपुष्ट होती हुई ही वेगवती बनती है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नही है कि मुख्य रस केवल परिणति होता है, प्रारम्भ नही। यद्यपि प्रत्येक रस अपने-अपने क्षेत्र मे स्वतन्त्र और बलवान होता है, किन्तु उसके अन्तरग मे मुख्य रस का स्वर सदैव हल्के सितार की भाँति प्रतिध्वनित होता ही रहता है। एक प्रबन्ध काव्य मे घटनाएँ, कथाएँ तथा अन्य प्रसग होते हैं, जिनमे मानव-जीवन के विविध पहलुओ की अभिव्यक्ति रहती है किन्तु उनके जीवन मे मुख्य रस एक प्राण तत्व की भाँति भिदा रहता है और उनमे मानव की मूल मनोवृत्तियो को खुला खेलने का पूरा अवसर मिलता है। मुख्य रस और मुख्य

---

१ अध्यात्मवारहखडी, प० दौलतराम, दि० जैन पचायती मन्दिर, बड़ौत की हस्तलिखित प्रति, ११८ वा पद्य।

कथा भी होती है। दोनो मे कोई विरोध नही होता, दोनो दूध-पानी की भाँति मिले रहते है। अत जैन काव्यो के विषय मे डा० शिवप्रसादसिंह का यह कथन "जैन काव्यो मे शाति या शम की प्रधानता है अवश्य किन्तु यह प्रारम्भ नही परिणति है। सम्भवत पूरे जीवन को शम या विरक्ति का क्षेत्र बना देना प्रकृति का विरोध है।"[1] उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। अन्य काव्यो की भाति ही जैन काव्य हैं। इनमे भी एक मुख्य रस और अन्य रस रहते है। केवल शम को मुख्य रस मान लेने से प्रकृति का विरोध है, शृंगार या वीर को मानने से नही, यह एक विचित्र तर्क है, जिसका समाधान कठिन है।

जैन महाकाव्य शाति के प्रतीक हैं। किन्तु इसका यह तात्पर्य नही है कि मानव जीवन के अन्य पहलुओ को दबा दिया गया है या छोड दिया है और इस प्रकार वहाँ अस्वाभाविकता पनप उठी है। जहाँ तक जैन अपभ्रश के प्रबन्ध-काव्यो का सम्बन्ध है, उन्हे दो भागो मे बाँटा जा सकता है—स्वयभू का 'पउमचरिउ', पुष्पदन्त का 'महापुराण', वीर कवि का 'जम्बूस्वामी चरिउ' और हरिभद्र का 'णेमिणाहचरिउ' पौराणिक शैली मे तथा धनपाल धक्कड को 'भविसयत्तकहा', पुष्पदन्त का 'णायकुमारचरिउ' और नयनदि का 'सुदसणचरिउ' रोमाचक शैली मे लिखे गये है। हिन्दी के जैन प्रबन्ध काव्यो मे पौराणिक और रोमाचिक शैली का समन्वय हुआ है। सधारु का 'प्रद्युम्नचरित्र', ईश्वर सूरि का 'ललिताग चरित्र', ब्रह्मरायमल्ल का 'सुदर्शनरास', कवि परिमल्ल का 'श्री पाल-चरित्र' मालकवि का 'भोजप्रबन्ध', लालचन्द लब्धोदय का 'पद्मिनीचरित्र', रामचन्द्र का 'सीताचरित्र' और भूधरदास का 'पार्श्वपुराण' ऐसे ही प्रबन्ध काव्य हैं।[2] इनमे 'पद्मिनीचरित्र' की जायसी के 'पद्मावत' से और 'सीताचरित्र' की तुलसीदास के 'रामचरितमानस' से तुलना की जा सकती है।[3] स्वयम्भू के 'पउमचरिउ' की महापण्डित राहुल साकृत्यायन ने भूरि-भूरि प्रशसा की थी। उनका पूरा विश्वास है कि तुलसी बाबा का रामचरित मानस, 'पउमचरिउ' से

---

१ विद्यापति, डॉ० विश्वप्रसादसिंह, हिन्दी प्रचारक पुस्तालय, वाराणसी, द्वितीयसस्करण, सन् १९६१, पृ० ११०।

२ इनका परिचय मेरे ग्रन्थ हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि', अध्याय २ मे देखिए।

३ पद्मिनीचरित्र और सीताचरित्र की हस्तलिखित प्रतियो का परिचय, मेरे उपर्युक्त ग्रन्थ मे क्रमश पृ० २२५ व २३१ पर दिया हुआ है।

प्रभावित है।[1] पुष्पदन्त के महापुराण का डॉ० पी० एल० वैद्य ने सम्पादन किया है। उनकी मान्यता है कि महाकाव्यो मे वह एक उत्तमकोटि का ग्रथ है। 'भविसयत्तकहा' की खोज का श्रेय जर्मन के प्रसिद्ध विद्वान प्रो० जेकोवी को है। उन्होने अपनी भारत यात्रा के समय इस काव्य को अहमदाबाद से १६१४ मे प्राप्त किया था। यह सबसे पहले श्री सी० डी० दलाल और पी० डी० गुणे के सम्पादन मे गायकवाड ओरियण्टल सीरीज, बडौदा से सन् १६२३ मे प्रकाशित हुआ। जैकोवी ने भाषा की दृष्टि से और दलाल ने काव्यत्व की दृष्टि से इसे समूचे मध्ययुगीन भारतीय साहित्य की महत्वपूर्ण कृति कहा है। डा० विण्टरनित्स ने लिखा है कि इसकी कथा मे थोडे मे अधिक कहने का गुण कूट-कूटकर भरा है। कार्यान्विति आदि से अन्त तक बराबर बनी हुई है।[2] णायकुमारचरिउ की भूमिका में डा० हीरालाल जैन ने उसे उत्तम कोटि का प्रबन्ध काव्य प्रमाणित किया है।[3] सधारु के 'प्रद्युम्नचरित्र' के 'प्राक्कथन' मे डा० माताप्रसाद गुप्त ने उसे एक उज्ज्वल तथा मूल्यवान रत्न माना है।[4] भूधरदास के पार्श्वपुराण को प्रसिद्ध प० नाथूराम प्रेमी ने मौलिकता, सौदर्य तथा प्रसादगुण से युक्त कहा है।[5] लालचन्द्र लब्धोदय के पद्मिनी चरित्र और रामचन्द्र के सीताचरित्र को पाण्डुलिपियो के रूप मे मैंने पढा है और मैं उन्हे इस युग के किसी प्रबन्ध काव्य से निम्नकोटि का नही मानता। इनके अतिरिक्त अपभ्रश और हिन्दी के नेमिनाथ–राजुल से सम्बन्धित खण्डकाव्य है। उनका काव्य–सौदर्य अनूठा है। मैंने अपने ग्रथ 'जैन हिन्दी भक्ति काव्य और कवि मे' यथा स्थान उनका विवेचन किया है।

इन त्रिविध काव्यो मे युद्ध है, प्रेम है, भक्ति है, प्रकृति के सजीव और स्वाभाविक चित्र हैं। सवाद–सौष्ठव की अनुपम छटा है। भाषा मे लोच और

---

१ हिन्दी काव्यधारा, महापण्डित राहुलसांकृत्यायन, प्रथम सस्करण, १६४५ ई०, किताब महल इलाहाबाद, पृ० ५२।

२ 'ए हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर' एम० विण्टरनित्स, १६३३ ई०, खण्ड २, पृष्ठ ५३२।

३ 'णायकुमारचरिउ', भूमिका भाग, डॉ० हीरालाल जैन लिखित।

४ प्रद्युम्नचरित्र, सधारु, प० चैनसुखदास सम्पादित, महावीर भवन, सवाई मानसिंह हाईवे, जयपुर, प्राक्कथन, डॉ० माता प्रसाद गुप्त लिखित, पृ० ५।

५ हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास, प० नाथूराम प्रेमी, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय हीराबाग, बम्बई, सन् १६१७, पृ० ५६।

भावो में अनुभूति की गहराई है। कही छिछलापन नही, कही उद्दाम वासनाओ का नग्न नृत्य नही। केवल शात रस के प्रमुख रस होने से क्या हुआ। प्रबन्ध काव्य मे कोई-न-कोई रस तो मुख्य रस होगा ही। उसकी पृष्ठ भूमि मे समूचा मानव जीवन गतिशील रहता है, यह प्रबन्ध काव्य की कसौटी पर खरे उतरते हुए भी शात रस का सुनिर्वाह जैन काव्यो की अपनी विशेषता है और वह वीतरागी परिप्रेक्ष्य मे ही ठीक से समझी जा सकती है ऐसा होने पर ही उसका आकलन भी ठीक हो सकता है।

विश्वविद्यालयों, कालेजो, शास्त्र-भण्डारों एव निजी सग्रहालयो

के लिए

दि० जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी

के

साहित्य शोध विभाग

द्वारा प्रकाशित

महत्त्वपूर्ण साहित्य

मन्त्री

महावीर भवन, सवाई मानसिंह हाईवे,

जयपुर-3 (राज०)

फोन नं० 73202

13 हिन्दी पद सग्रह—सम्पादक डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल
(इसमे हिन्दी के 40 प्राचीन जैन कवियो द्वारा रचित 401 हिन्दी पदो का प्रथम वार सगह् प्रकाशित हुआ है। सभी पद अध्यात्म एव भक्ति रस से ओत प्रोत है तथा प्रत्येक के लिए पठनीय है।)

(मूल्य 6) रु)

14 सर्वार्थसिद्धिसार—सम्पादक प चैनसुखदास न्यायतीर्थ
(आचार्य पूज्यपाद कृत सर्वार्थसिद्धि का सार एव साथ मे उपयोगी प्रस्तावना सहित।) (मूल्य 8) रु)

15 चम्पा शतक—सम्पादक डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल
हिन्दी कवयित्री चम्पादेवी द्वारा विरचित भक्तिपूर्ण पदो का अपूर्व सग्रह।)
(मूल्य 4) रु.)

16 तमिल भाषा का जैन साहित्य
सम्पादक प भवरलाल पोल्याका जैनदर्शनाचार्य (मूल्य 1) रु)

17. तीर्थंकर वर्धमान महावीर—लेखक प पदमचन्द शास्त्री
(विभिन्न ग्रन्थो के आधार पर भगवान महावीर के जीवन पर लिखी गई एक मौलिक कृति।) (पृष्ठ स० 115 (मूल्य 8) रु)

18, वचनदूतम्—लेखक प मूलचन्द शास्त्री
(सस्कृत भाषा का नवीनतम खण्ड काव्य–राजुल द्वारा नेमिनाथ को वैराग्य होने पर प्रेषित सन्देश।) (मूल्य 7) रु)

19 Jainism-a Key to True Happiness
ब शीतलप्रसादजी द्वारा विरचित (अप्राप्य)

20 प चैनसुखदास न्यायतीर्थ स्मृति ग्रन्थ 40) रु

शीघ्र प्रकाशित होने वाले ग्रन्थ

21. वाहुवलि (खन्ड काव्य) प अनपचन्द न्यायतीर्थ

22. योगानुशीलन ले कैलाशचन्द वाढदार (योगशास्त्र का महत्त्वपूर्ण सदर्भग्रन्थ)

मुद्रक—कपूर आर्ट प्रिन्टर्स, मनिहारो का रास्ता, जयपुर–3 फोन: 68006

लेखक

जन्म– ४ जनवरी, १६२४, कुरावली (मैनपुरी) उत्तर प्रदेश

शिक्षा– जैनसिद्धान्तशास्त्री (स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी), साहित्यशास्त्री (राजकीय सस्कृत कॉलिज, वाराणसी), साहित्यरत्न (साहित्य सम्मेलन, प्रयाग), एम० ए०–हिन्दी (हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी), एम० ए०–सस्कृत तथा पी-एच० डी०–हिन्दी (आगरा विश्वविद्यालय, आगरा)

कार्य– वर्त्तमान मे दि० जैन कॉलिज, बडौत मे हिन्दी स्नातकोत्तर विभाग के अध्यक्ष तथा प्रोफेसर, 'अनेकात' के सम्पादक, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी की परामर्शदात्तृ समिति के सदस्य, जैन शोधसस्थान, आगरा की प्रबन्ध समिति के सदस्य, आगरा तथा मेरठ विश्वविद्यालयो मे हिन्दी के शोध निदेशक ।

कृतित्व– 'जैन भक्ति काव्य की पृष्ठभूमि', 'हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि', 'भरत और भारत', 'तीर्थंकर पार्श्वनाथभक्ति गगा' तथा 'जैन शोध और समीक्षा' के रचयिता । अनेकानेक शोध निबन्धो के लेखक । 'हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि' पर उत्तरप्रदेश सरकार के पुरस्कार से सन्मानित ।

अभिरुचि– शोध-खोज, लेखन और अध्यापन ।

हमारा ग्रन्थ प्रकाशन
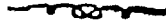
१. राजस्थान के जैन शास्त्र भडारो की ग्रन्थ सूची प्रथम भाग . (अप्राप्य)

२. राजस्थान के जैन शास्त्र भडारो की ग्रन्थ सूची . द्वितीय भाग
(सम्पादक डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल) मूल्य ८) रु०

३. राजस्थान के जैन शास्त्र भडारो की ग्रन्थ सूची . तृतीय भाग मूल्य ७) रु०

४. प्रशस्ति सग्रह [सम्पादक डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल] मूल्य ७) रु०

५. तामिल भाषा का जैन साहित्य मूल्य ० २५ पैसे

६. सर्वार्थसिद्धिसार (स० प० चैनसुखदास न्यायतीर्थ) मूल्य ४ रु०

७. Jainism a Key to true happiness (अप्राप्य)
(ब्र० शीतलप्रसादजी द्वारा विरचित)

८. प्रद्युम्नचरित कवि सधारु द्वारा विरचित मूल्य ४) रु०
स० प० चैनसुखदास न्यायतीर्थ एव डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल

९. राजस्थान के जैन शास्त्र भडारो की ग्रन्थ सूची चतुर्थ भाग मूल्य १५) रु०
(स० डॉ० कस्तूचन्द कासलीवाल एव अनूपचन्द न्यायतीर्थ)

१०. हिन्दी पद सग्रह [स० डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल] मूल्य ३) रु०

११. जिणदत्त चरित : (महाकवि राजसिंह विरचित) मूल्य ५) रु०
स०—डॉ० माताप्रसाद गुप्त, डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल

१२. चम्पाशतक—चम्पादेवी विरचित मूल्य २) रु०

१३. Jaina Grantha Bhandars in Rajasthan
(Dr Kastoor Chand Kasliwal) मूल्य १५) रु०

१४. राजस्थान के जैन सन्त—व्यक्तित्व एव कृतित्व
ले० डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल मूल्य ६) रु०